रीति मुक्त कवि बोधा की काव्य भाषा का अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच० डी०
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
1997
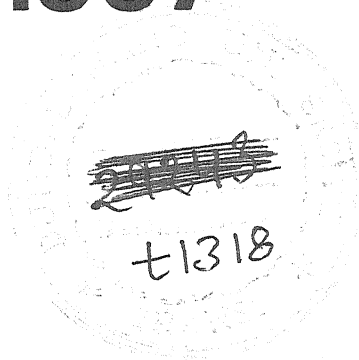
शोध-पर्यवेक्षक :
डॉ० कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया
डी० लिट्०
रीडर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, शिवराजपुर, कानपुर देहात

शोध छात्रा :
कृष्णा कठौरिया

डॉ. कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया
डी. लिट्.
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, शिवराजपुर
कानपुर देहात
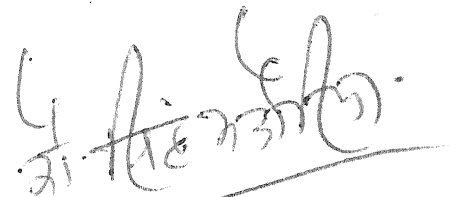
आवास
१६२ ए, अवधपुरी कालोनी
लखनपुर, कानपुर - २४
दूरभाष : (०५१२) २५०९३३

प्रमाण-पत्र

मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि कृष्णा कठौरिया ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की परिनियमावली में निर्दिष्ट अर्हताओं को भली प्रकार से पूर्ण करते हुए कला-संकाय के अन्तर्गत हिन्दी विषय में "रीतिमुक्त कवि बोधा की काव्यभाषा का अध्ययन" शोध-शीर्षक पर कला निष्णात (हिन्दी) उपाधि हेतु अपना लघु-शोध कार्य मेरे निर्देशन में पूर्ण कर लिया है। मेरी जानकारी के अनुसार इनका कार्य मौलिक है। इन्होंने २०० दिनों से अधिक उपस्थित रहकर अध्ययन कार्य मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। (हस्ताक्षर)

मैं इस शोध प्रबन्ध को मूल्यांकन हेतु विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करता हूँ।

(हस्ताक्षर)
(डॉ० कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया)
शोध-निर्देशक

आमुख

काव्य–भाषा हिन्दी समीक्षा का नूतन अभिधान है। यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की रचना प्रक्रिया के अन्तर्गत काव्य–भाषा के विश्लेषण की परम्परा रही है। परन्तु एक सीमित परिधि में। काव्य–भाषा के आधार पर कृति के औदात्यकी परीक्षण–परम्परा नवीन है। काव्य–भाषा के इस नए विस्तार का कारण कविता की कलाविधानों से मुक्ति और भाषिक संरचना पर निर्भरता है। प्रयोगवाद से काव्य के अन्य तत्वों की अपेक्षा काव्य–भाषा की संरचना को कविता का मुख्य आधार माना गया है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रयोगवाद के पूर्व भाषा के प्रति सजगता का अभाव रहा है। छायावाद और उससे पूर्व रीतिकाल में काव्य–भाषा के प्रति सतर्कता विद्यमान रही है। रीति युग में तो ब्रजभाषा को काव्यभाषा के रूप में श्रेष्ठतर संस्कार मिले। इसके बावजूद रीति युग की काव्य भाषा अधिकांशतः टकसाली है। केवल रीति मुक्त कवि काव्य–भाषा के विकास के प्रति सतत् प्रयत्नशील रहे। यही कारण है कि रीतिमुक्त कवियों की काव्य–भाषा में प्रवाह और लाक्षणिकता विद्यमान है। भाषा प्रयोग के प्रति रीतिमुक्त कवियों का दृष्टिकोण बहुआयामी है। यह काव्यभाषा तद्‌युगीन जनभाषा से निर्मित थी। इसलिए काव्य–भाषा के सन्दर्भ में रीतिमुक्त काव्य पर ध्यान जाना स्वाभाविक है।

अध्ययन क्रम में रीतिमुक्त कवि बोधा के काव्य की रससिक्त कल्पनाओं का मोहक प्रभाव मानस पटल पर इतना अधिक पड़ चुका था कि उसके कारण अनुसन्धान की एक उत्कट ललक अक्षुण्ण रही है।

कृष्णा कठोरिया
(कृष्णा कठोरिया)

अनुक्रमणिका

पृ0 संख्या

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

काव्यभाषा : अर्थ स्वरूप एवं तत्व

(क) काव्यभाषा का अर्थ –

काव्यभाषा भाषा की भाँति एक व्यापक शब्द है, जिसे किसी एक निश्चित सीमा में आबद्ध करना अत्यंत जटिल कार्य है। इसे साहित्यिक भाषा भी कहा जाता है, क्योकि काव्यभाषा से तात्पर्य मात्र कविता की भाषा नहीं बल्कि अन्य साहित्यिक विधा में जैसे --- नाटक, कहानी, उपन्यास आदि भी इसी के अंतगर्त आते हैं। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार -- "साहित्यिक भाषा के विशेषतः पिछले कई सौ वर्षों में दो रूप हो गये हैं – कविता की भाषा और सर्जनात्मक गद्य की भाषा। सामान्यतः काव्यभाषा कहने पर हम दोनों को ही उसके अंतगर्त समाहित कर लेते हैं।"[1] काव्यभाषा भी यद्यपि मानवीकृत होती है लेकिन मानव भाषा में अर्थ के प्रति जो प्रतिबद्धता होती है, उसकी अपेक्षा इसमें नवीनार्थ के अन्वेषण के माध्यम से शब्दों का निरन्तर प्रयोग होता रहता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि काव्यभाषा में सामान्य भाषा की स्वच्छता तो नहीं होती लेकिन एक उन्मुक्तता अवश्य होती है। जबकि दूसरी ओर मानक भाषा स्वच्छन्द नहीं होती बल्कि उसमें एक बन्धन होता है। सामान्य भाषा और काव्यभाषा का अंतर इस बात में है कि सामान्य भाषा शब्दों के साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होना उचित और वांछनीय समझती है, जबकि काव्यभाषा के लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं। वह शब्दों के रूप को बार–बार अमूर्त करती है। जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्द के साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक सम्बद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग कर लेना चाहता है। अर्थ की स्थूलता को तोड़कर वह उसकी अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृति को पुनः स्थापित करता है।"[2]

---

1. मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 – 15
2. भाषा और संवेदना – डॉ0 रामस्वरूप, पृ0 – 35

काव्यभाषा को परिभाषित करना अत्यंत कठिन है। अधिकाँश समीक्षकों ने इस बात को स्वीकार भी किया है। वास्तव में काव्यभाषा की विभिन्न भंगिमाओं को एक सूत्र में पिरोना ही एक जटिल प्रक्रिया है। फिर भी इन विद्वानों द्वारा काव्यभाषा के सन्दर्भ में किये गये विवेचनों से कुछ धारणायें अवश्य स्पष्ट होती हैं। वस्तुतः काव्यभाषा स्वयं में एक नवीन अभिधा होने के कारण काव्यभाषा के विवेचन क्रम से न जुड़कर काव्य के अभिव्यंजना पक्ष से अधिक जुड़ी है लेकिन इस विषय पर चिन्तन-प्रक्रिया नयी नहीं है। उदाहरण स्वरूप जब आचार्य विश्वनाथ -- "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"[1] पं0 राज जगन्नाथ रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"[2] तथा आर्चा कुन्तक "सालंकार स्वालंकरण सहितस्य सकलत्य निरस्तावयवस्वसतः काव्यता कविकर्मवत्चम् सेनालंकृतस्य काव्यमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकार योग इति।"[3] कहते हैं तो उनका आशय काव्यभाषा से ही होता है। काव्यभाषा के संबंध में पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में भी व्यापक चर्चा हुई है। लेकिन आपेन वारफील्ड की परिभाषा ही सर्वप्रमुख एवं तर्क संगत प्रतीत होती है। उनके अनुसार "जब शब्दों का चयन और नियोजन इस प्रकार से किया जाये कि वह सौन्दर्यतत्वात्मक कल्पना को जागृत करे या जागृत करने की चेष्टा करे तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द - समूह (पोयटिक डिक्शन) कहा जायेगा।"[4]

वास्तव में काव्यभाषा अपने आप में भाषा का एक विशिष्ट व्यापार है। संवेग तथा अन्य कलात्मक उपादानों से युक्त कवि का रचनात्मक ताप भाषा के चरमावयव में स्पंदित होता है। कविता कालातिक्रमण करने के विशिष्ट व्यापार के कारण कालांतर में भी प्राकृतिक बनी रहती है, क्योंकि रचनाकार या कवि समर्थ शब्दों का चयन तथा उनके शाश्वतीकरण

---

1. साहित्य दर्पण - आचार्य विश्वनाथ, पृ0 - 23
2. रस गंगाधर - पं0 राजजगन्नाथ, पृ0 - 9
3. वक्रोक्तिजीवितम् - आचार्य कुन्तक
4. पोएटिक डिक्शन - ओवेन वारफील्ड, पृ0 - 41

में सन्निकट रहकर उसके विन्यास के प्रति अतिरिक्त सचेष्टता का प्रदर्शन करता है। इसका उद्देश्य पारस्परिक अभिव्यक्तियों का अंगीकरण भी नहीं है। वह अपने को तभी सन्तुष्ट महसूस करता है जब वह आत्मिक तर्क के लिए शब्दों को अन्यमत प्रतिनिधि बताने में समर्थ हो। काव्य भाषा तंतु का निर्माण सचेष्ट प्रस्तुति से ही सम्भव है। इसीलिए यह बात बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है कि जब कवि भाषा रूपी शरीर की संरचना करने में समर्थ हो जाता है तो उसमें आत्मा स्वयमेव प्रविष्ट हो जाती है। इसी संदर्भ में एक बात और ध्यातव्य है कि कविता अलंकार, रस, छन्द, बिम्ब, प्रतीक और शैली की भाँति काव्य सर्जक तत्व नहीं है। बल्कि ये सभी तत्व भाषा में समाहित होकर उसी के द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं। सम्भवतः इसीलिए मलामें ने कहा है कि – "कविता शब्दों से बनती है, विचारों से नहीं।"[1] मलामें के इस विचार को यद्यपि पूर्ण संगत नहीं कहा जा सकता लेकिन उससे शब्दोचित्य तो सिद्ध होता ही है। वस्तुतः काव्यभाषा के संदर्भ में एक बात और ध्यान देने की है कि समाज में काव्यभाषा जैसी किसी वस्तु की विद्यमानता नहीं है। अपने युग की जनभाषा से ही कालान्तर में शनैः शनैः साहित्यिकभाषा के रूप में विकसित होती है। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि –– "साहित्यिक भाषा मूलतः बोलचाल की ही वह भाषा है जो विभिन्न रचनाकारों की सृजन–प्रक्रिया में समाहित होकर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती है। कवि विशेष के अनुभव की अद्वितीयता से सम्युक्त होने पर उसकी अर्थ क्षमता में कई प्रकार के अंतर उत्पन्न हो जाते हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मूलतः भाषा जितनी सहज एवं सामान्य क्रम में विचारों के आदान–प्रदान में सहायिका बनी रहती है उतनी सहजता से अपने विशिष्ट रूप में इस दायित्व को निभाने में असमर्थ रहती है। सामान्यतः भाषा का प्रयोग स्थूल की अभिव्यक्ति के

---

1. "Poetry is written with words, not ideas". Quoted by Christopher Gaudwell, Illusion and Reality. page....129
2. भाषा और संवेदना – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 – 13

लिए किया जाता है और यदि यदा–कदा आवेगों या अनुभूतियों का प्रस्तुत किया जाता है तो वक्ता के उपस्थित होने के कारण वह कायिक, मानसिक चेष्टाएँ उन अन्तरावेगों को व्यक्त कर देतीं हैं। लेकिन यह काव्य – विधान का पक्ष उपस्थित करने में असमर्थ रहता है। इसका सम्पूर्ण दायित्व भाषा पर निर्भर हो जाता है। जिसके लिए साधारणीकरण तथा अन्तरावेगों के साथ–साथ अतीत और अनागत के संकेतों के प्रस्तवन की भी उपेक्षा होती है। इस प्रकार ऐसी विषम स्थिति में भाषा के प्रचलित रूप के लिए इन सबका भार निर्वाँहन करना अत्यंत कठिन एवं असंभव हो जाता है। यही कारण है कि उसे एक विशिष्ट भाषा की ओर उन्मुख होना पड़ता है जिसे हम काव्यभाषा कह सकते हैं।

(ख) काव्यभाषा का स्वरूप –

वास्तव में भाषा के स्वरूप का प्रश्न अर्थ के स्वरूप से जुड़ा हुआ है। विभिन्न अर्थों का उदय व्यक्ति और वस्तु के पारस्परिक सम्पर्कों से होता है। व्यक्ति का वस्तु और दृश्य जगत के प्रति बौद्धिक और रागात्मक दो प्रकार का दृष्टिकोण होता है। वस्तु प्रधान दृष्टिकोण से वैधानिक तथा विचार–प्रधान दृष्टिकोण से दार्शनिक अर्थों का आविर्भाव होता है। रागात्मक दृष्टिकोण में कल्पना और व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता रहती है। इसमें वस्तु और विचार पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि रागात्मक दृष्टिकोण वस्तु और विचार से पूर्णरूपेण निरपेक्ष होता है।

भावात्मक या रागात्मक भाषा–विज्ञान की वस्तुगत और दर्शन की तर्कसंगत भाषा से भिन्न होती है क्योंकि रागात्मक दृष्टि से संसर्ग से वस्तु अपनी स्वाभाविक सीमाओं को त्यागकर कल्पना की सीढ़ी पर आरूढ़ होकर परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होती है तथा विचार अपनी सुसंगठित एवं बंधी–सधी यांत्रिक तर्क–पद्धति से निकलकर व्यक्तिगत अनुभव या दृष्टिबिन्दु

का अंग परिलक्षित होने लगता है। दार्शनिक व वैज्ञानिक अर्थों को ठीक उसी प्रकार रूप में काव्यात्मक या भावात्मक अभिव्यक्ति में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। काव्यात्मक अर्थ के रूप में जन्म लेकर, काव्यात्मक भाषा में निबद्ध होने पर ही किसी वस्तु या विचार का महत्व होता है। इतना ही नहीं उसे काव्यात्मक अर्थ और भाषा के स्तर तक पहुँचने के लिए अपने असली स्वरूप का परित्याग करना पड़ता है।

कविता की भाषा विशेष व्यापार-सूचक होती है। वह दर्शन और विज्ञान की भाषा की भाँति पारिभाषित नहीं होती है। कविता की भाषा में विचारों व तथ्यों के सीमित व सुनिश्चित स्वरूप का बोध कराने वाले शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्दों की कमी रहती है। सीमित, सुनिश्चित व रूढ़ होने वाले अर्थ पारिभाषिक शब्द कहलाते हैं। इन शब्दों में लक्षणा व व्यंजना शब्द शक्तियों का सन्निवेश असम्भव होता है। ये शब्द पूर्ण रूपेण अभियात्मक तथा कोशगत होते हैं। ये विहनात्मक होते हैं न कि प्रतीकात्मक। कविता की भाषा सन्दर्भमूलक है सैद्धान्तिक नहीं क्योंकि कविता में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को भारतीय आचार्यों ने "अप्रतीत्वदोष"[1] माना है। कविता की भाषा का एक मुख्य तत्व भावचित्रों अथवा बिम्बों का विधान है।"[2] यह अनुभूति के आलम्बनत्व संदर्भ को उभारने के कारण बिम्बात्मक होती है। चूँकि अनुभूति के मूलाधार ऐन्द्रिय होते हैं इसलिए उन ऐन्द्रिय रूप व्यापारों को बिम्बित करना ही अुनभूतियों के बिम्बन का एक मात्र उपाय है, जिनके गोचर होने पर अनुभूति का जन्म होता है। विभिन्न व्यक्तियों के विशिष्ट रूपों व कार्य कलापों के द्योतक होने के कारण ही नीलकण्ठ, धर्नुधर, चक्रपाणि आदि शब्द भावों को मूर्त रूप प्रदान करने में सहायक होते हैं। ध्वनि, गति एवं रूपादि एन्द्रिय आधारों को बिम्बित करने की क्षमता मन्द-मन्द, मर्मर, चंचल आदि शब्दों में देखी जा सकती है। कवि की भाषा जितनी भावावेगपर्ण होगी, उतनी ही अधिक मूर्त होगी।"[3]

---

1. काव्यशास्त्र की रूपरेखा, श्यामानन्दनशास्त्री, पृ0 - 166
2. मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा - डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ0-15

कविता की भाषा बिम्बरात्मक होने के साथ-साथ सृजनात्मक भी होती है। गद्य-रचना का स्तर केवल अर्थ को द्योतित कराने वाली वाक्य रचना तक ही सीमित रहता है। वह पूर्णतः संरचनात्मक होती है। गद्य एक पूर्व निर्मित शब्दों का ढाँचा है।"[1] गद्य की संरचना में शब्दों के कोशगत अर्थों की ही प्रधानता रहती है। उसमें रूप का स्तर केवल सार्थक वाक्य रचना तक ही केन्द्रित व सीमित रहता है। उदाहरण के लिए यदि हम गद्य-रचना में "पुरुष" के स्थान पर "फूल" रख दें तो उसमें कोई अन्तर नहीं आयेगा। जबकि दूसरी तरफ कविता में शब्दों के कोशगत अर्थो सेकाम नहीं चलता क्योंकि, कवि अपनी अनुभूतियों से शब्दों में नवीन अर्थ-व्यंजनाओं की सृष्टि करता है। ध्वनि, लय, तुक, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि रूपात्मक तत्वों से कविता के शब्द पूर्णरूपेण सम्बद्ध रहते हैं। यही कारण है कि किसी भी शब्द के पर्याय को स्थानापन्न रूप में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। कविता की किसी पंक्ति के किसी शब्द को इधर-उधर कर देने पर उसका सम्पूर्ण स्वरूप प्रभावित हो जाता है। कविता का सृजनात्मक स्वरूप विभिन्न तत्वों के सामंजस्य में ही प्रकट होता है। विभिन्न तत्वों का यह अन्तर्गम्पन जितना ही अधिक जटिल एवं उदात्त होगा, कविता में कलात्मक सौन्दर्य उतना ही अधिक बढ़ता है। गद्य में भाषा साधन-मात्र होती है और अर्थबोध साध्य। जबकि कविता में भाषा और अर्थ अभिन्न होते हैं, इसलिए दोनों साध्य हैं। हग्सले के अनुसार --- "साहित्य कला की परिमार्जित भाषा किसी अन्य वस्तु के लिए साधन नहीं है, वह अपने आप में साध्य है, आन्तरिक महत्व और सौन्दर्य की वस्तु है --।"[2]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति कविता की व्याख्या मात्र सुनकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता अपितु वह मूल कविता सुनकर या पढ़ कर ही तृप्त हो सकता है। यही कारण है कि कविता में प्रत्येक

---

1. "The more highly charged passage will have in g general the more concrete dection" H-Coomben Literature and criticism, P-157
2. Prose is a structure of ready made words" Herebert read- English Prose style (Introduction) Page- XI

शब्द का अर्थ के अतिरिक्त अन्य सभी उपादानों जैसे --- अलंकार, ध्वनि, लय, तुक आदि का भी विषेष महत्व रहता है। किसी भी कविता का अर्थ उसके मूल रूप को उद्‌घाटित नहीं कर सकता। "विनय पत्रिका" की पचास टीकाएँ मिलकर भी "विनय पत्रिका" का स्थान नहीं ग्रहण कर सकतीं। इसी संबंध में प्रसिद्ध प्रतीकवादी मलामें ने लिखा है कि "कविता विचारों ने नहीं शब्दों से लिखी जाती है।"[1] इसका तात्पर्य यही है कि कविता से अर्थ बोध की उपेक्षा शब्दों के काव्यांगी (लय, तुक, संगीत, अलंकार, ध्वनि, प्रतीकात्मकता आदि। जो अर्थ के उत्कर्षक हैं अथवा उसे चारुत्व प्रदान करने में सहायक हैं, का विशेष महत्व है। काव्य में शब्दों का महत्ता पर बल देते हुए पं0 राज जगन्ननाथ ने "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यस्"[2] कहा है, जबकि आचार्य विश्वनाथ "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"[3] कहकर पां0 राज जगन्नाथ से पूर्व ही काव्य की परिभाषा कर चुके थे। काव्य के स्वरूप को सही रूप में उद्‌घाटित करने के लिए पं0 राजजगन्नाथ में रसात्मक काव्य के स्थान पर शब्द रखकर वास्तव में अपनी चिन्तन शक्ति एवं अपूवा प्रतिभा का परिचय दिया है। सही अर्थों में वाक्य गद्य की इकाई होने के कारण केवल एक निश्चित अर्थ का ही बोध कराता है। दूसरी तरफ कविता की इकाई शब्द है। कारण यह है कि कविता के शब्द, अर्थ, अलंकार, छन्द, लय, तुक, बिम्ब आदि की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसमें हेराफरी करने पर कविता की रमणीयता ही नष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार मन के सभी स्तर अर्थात् राग, बुद्धि और कल्पना, रागात्मक अर्थो में संयुक्त रूप में क्रियाशील रहते हैं, ठीक उसी प्रकार भाषा के भी सभी स्तर अर्थात् अभिद्या, लक्षणा और व्यंजना रागात्मक अर्थो की

---

1. The purified language of literary art is not the means to some thing else, it is and end in itself a thing of intrinstc significance and beaurty....." Literature and Science - Aldous Hurleay, ... page-38

2. "Poetry is written with words, not ideas". Quoted by Christopper Gaudwell, Illusion and reality, Page.... 129

3. रस गंगाधर पृ0 9

भाषा में सक्रिय रहते हैं। कविता का अनुवाद इन्हीं काव्यात्मक अर्थों व काव्यभाषा की संश्लिष्टता के कारण उन अर्थों में असम्भव है जिन अर्थों में अन्य ग्रंथों का अनुवाद होता है। गद्य से पृथक करने वाली भाषा की विशेषताएँ ही अनुवादक के लिए जटिल समस्या बन जाती हैं। टी0एस0 इलियट ने भी कविता के अनुवाद को असम्भव ही माना है।"[1] कभी-कभी किसी कविता के अनुवाद को हम सुन्दर मान बैठते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं, क्योंकि ये मूलभाव को लकर की गई स्वतंत्र रचनाएँ हैं। उसमें अनुवाद की भाषा की निजी विशेषताएँ की प्रकट होती हैं, न कि मूल रचना की भाषागत विशेषताएँ।

कविता की भाषा सादृश्यमूलक या उपमानात्मक भी होती है। हमारे मन में गुण, क्रिया सदृश आकार आदि प्रभाव वाले सन्दर्भों के सम्पर्क से ठीक उसी प्रकार की अनुभूतियों का जन्म होता है। किसी उदास व्यक्ति के सूने चेहरे को देखकर, या किसी मुरझाये फूल को देखकर सभी को लगभग एक समान अनुभूति होती है। कवि के लिए किसी वियोगिनी नायिका व लावण्य ही एवं निरर्थक शरीर झुकी हुई राख, टूटे हुए गीत, छपे हुए चाँद, रीते हुए पात्र तथा बीते हुए क्षण जैसा लगता है।"[2] काव्यात्मक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण तत्व है -- सादृश्य। अप्रस्तुत और प्रस्तुत को काव्योपयोगी तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसके साथ आकार, गुण, क्रिया एवं प्रभाव की सदृश्यता अति आवश्यक है। अप्रस्तुत योजना की यह प्रवृत्ति ही कविता में समस्त औपम्यमूलक अलंकारों के मूल में सक्रिय रहती है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यभाषा में प्रस्तुत व अप्रस्तुत के रूप में दुहरे सन्दर्भ समन्वित रहते हैं। प्रस्तुत अनुभव वेन पर अप्रस्तुत अनुभव क्षेत्र के माध्यम से अनुभूति का प्रकाश विकीर्ण कर मूल प्रभाव में अभिवृद्धि की जाती है। ऐसा उपमान-योजना में प्रस्तुत व अप्रस्तुत

---

1. "Poetry is a constant reminder of all the things that can be said is one language and are untranstable."
   Poetry and Poets - T.S. Egtot.

2. "बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद, रोते हुए पात्र, बीते हुए क्षण सी मेरा यह विस्म।" कनुप्रिया - धर्मवीर भारती, पृ0 - 59

दोनों अनुभव क्षेत्रों को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता है। जब कवि अनुभूति व अभिव्यक्ति की चरम–सीमा पार कर जाता है तो उपमेय का उल्लेख किये बिना ही सादृश्यमूलक उपमान की योजना द्वारा उपमेय और उससे सम्बद्ध मूलानुभूति को पूर्णरूपेण व्यंजित कर देता है। ऐसी दशा में अप्रस्तुत प्रतीक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इन विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमानात्मक होने के कारण कविता की भाषा अलंकारिक और प्रतीकात्मक होती है।

लयात्मकता कविता की भाषा का मुख्य एवं अन्तर्वर्ती तत्व है। लय को धारण करने वाले भावानुकूल वर्ण–विन्यास, छन्द, तुक आदि तत्व मूलानुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप के नियमन व निर्धारण में सहायक होते हैं। विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप कविता को लयहीन बनाकर प्रकट किये जाने की आशंका व्यक्त करते हुए तथा कविता में लय और नाद–सौन्दर्य की महत्ता पर विचार व्यक्त करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है –– "अतः नाद–सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिल्कुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को भी फालतू समझते हैं। वे लय में लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में नाद–सौन्दर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश है। अतः अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?"[1]

वास्तव में लयहीनता का गद्यात्मकता कविता की मूल प्रकृति के ही प्रतिकूल है। कविता में मुक्त छन्द में किसी निश्चित छन्द के आद्योपान्त निर्वाह के बन्धन से छुटकारा मिल सकता है, लेकिन लय से ऐसा संभव नहीं है। कविता में लय का ऐसा संगुम्फन व प्रवाह रहता है कि अधिकाँश

---

1. चिन्तामणि (भाग–एक) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 144

छन्दों की पंक्तियाँ स्वयं ही अन्तर्मुक्त होती चलती हैं। कविता में सहज एवं स्वाभाविक रूपसे लय का संचार करने में जो कवि अपनो अनुभूति व अभिव्यक्ति को चरम परिणति नहीं दे पाते, वे प्रतिभाहोन तथा साधनाशून्य होते हैं। उनके द्वारा किसी सत्काव्य एवं चिरंजीवी काव्य की रचना कभी नहीं हो सकती।

बोलचाल की भाषा एवं कविता की भाषा में पर्याप्त अन्तर होता है। भाषा का वह रूप जिसमें कविता की रचना होती है, कुछ समयोपरान्त उसमें शब्दों के अर्थ आबद्ध हो जाते हैं, परिणामस्वरूप वह जड़ हो जाता है। जबकि बोलचाल की भाषा हमेशा के जीवित उपयोग से विकसित होती है। कविता की भाषा परिष्कृतता की सीमाओं को लांघकर जब परिनिष्ठित रूप में परिवर्तित होती है तब वह रूढ़ होकर अपनी प्रभावात्मकता तथा अर्थाभा नष्ट करने लगती है। कभी–कभी तो ऐसा लगने लगता है जैसे यह यॉंत्रिक संगीत मात्र हो। रीतिकालीन कवियों जैसे -- देव, पद्माकर सेनापति आदि की अनेक कविताएँ मात्र नाद–सौन्दर्य के नमूने बनकर रह गयी हैं। संगीत की ओर उन्मुख ऐसी काव्यभाषा को नया जन्म प्राप्त करने हेतु पुनः लोक जीवन के आँगन में जाकर बोलचाल की भाषा के शब्दों और मुहावरों का सहारा लेना पड़ता है। लोक भाषा के संसर्ग से पतनोन्मुख रूढ़ भाषा पुनः स्वस्थ एवं सजीव हो जाती है।[1] इसीलिए भारतेन्दु युग में रीतिकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्यभाषा लोक जीवन की भाषा की ही नहीं अपितु लोक छन्दों तक को संगुम्फित करने की दिशा में प्रवृत्त हुई। लेकिन साधारण बोलचाल की भाषा को काव्यभाषा में अन्तर्मुक्त करने की कुछ सीमाएँ हैं। इतना तो

---

1. "The disease of poetic language is usually cured by a return to nature it to a selection from the vocabulary of the spoken standard and dialects." The Poetic Approach to Language.

 - V.K. Gokak. Page- 174.

स्पष्ट हो चुका है कि साधारण बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा से कलात्मक व्यवस्था तथा स्तर में अंतर रखती है। किसी कविता की भाषा में यदि बोलचाल की भाषा से किसी भी रूप में उच्च स्तर का शिल्प नहीं है तो फिर उसे कविता ही नहीं माना जा सकता।[1] भारतेन्दु युग में तमाम ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें प्रायः संगीत और नाद–सौन्दर्य का अभाव है, जबकि दूसरी तरफ छायावाद युग में काव्य भाषा कलात्मक उत्कर्ष की ओर प्रवृत्त होकर संगीत–सीमा तक पहुँच गयी है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता के युग तक इसकी प्रतिक्रिया चली और एक कविता के

नाम पर गद्य की पंक्तियाँ को नितांत कलाहीन ढंग से विकृत और खंडित करके संजोया जाने लगा।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यभाषा और लोकभाषा का पारस्परिक सम्पर्क अनिवार्य है। मध्ययुगीन सन्त कवियों सूर एवं तुलसी का मुख्य गुण यही है कि उन्होंने लोकभाषा से ही साहित्यिक भाषा का चारुत्व और संगीत का अर्जन किया है। लेकिन उनकी भाषा में कहीं भी निर्जीव नाद–सौन्दर्य व बोलचाल के गँवारूपन का भान नहीं होता। प्रसिद्ध समीक्षक टी0एस0 इलियट ने इस पर अपनी सहमति व्यक्त करते हुए लिखा है --- "काव्यभाषा की शक्ति का मूल स्रोत लोकभाषा में ही होना चाहिए किन्तु लोकभाषा की संभावनाओं का उचित काव्यात्मक उपयोग करने के लिए कवि में अपेक्षित कलात्मक संयम नितांत आवश्यक है।[2] कवियों के लिए यह

---

1. "Winifred Nowottany, The Language poet use. Page - 122.

2. On Poetry And Poets. T.S. Eliot Page-38

ध्यातव्य है कि कविता संगीत की ओर चाहे जितनी अग्रसर क्यों न हो जाये उसका संबंध बोल-चाल की भाषा से टूटने न पाये। जो नये कवि लय और संगीत को कविता से बहिष्कृत करते हैं उनके लिए यह ध्यान देने योग्य बात है। टी0एस0 इलियट ने भी संगीत की महत्ता स्वीकार की है।[1] लेकिन अनिवार्यता यह है कि कविता लोक भाषा से विलग होकर संगीत मात्र न रह जाय। भारतीयाचार्यों में भतृहरि ने भाषा की मूल प्रेरणा शक्ति के रूप में लोकभाषा और लोक परम्परा को ही महत्वपूर्ण माना है।[2]

कविता की भाषा सांस्कृतिक मूल्यों की भाषा है। सांस्कृतिक अर्थ अत्यंत गूढ़ तथा व्यापक होते हैं तथा उनको व्यक्त करने वाली भाषा भी अत्यधिक व्यंजक होती है। इस संबंध में डॉ0 देवराज के विचार युक्तसंगत ही प्रतीत होते हैं कि --- "हमारे विचार में काव्यभाषा के शब्दों के अर्थ महत्वपूर्ण होते हैं जो जीवनमूल्यों अथवा सास्कृतिक नूल्यों की ध्वनियों के रूप में विशिष्टता लिए रहते हैं।"[3] महान सांस्कृतिक सन्दर्भों को आत्मसात करने और उन्हें सशक्त रूप में वाणी प्रदान करने में महान कवियों का व्यक्तित्व ही समर्थ होता है। सांस्कृतिक मूल्यों के पारस्परिकनैकट्य के कारण ही अनेक संदर्भ, देवता, व्यक्ति, पशु-पक्षी, आदि विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतीक बन जाते हैं। ऐसे सांस्कृतिक प्रतीकों की अर्थव्यंजना काव्यभाषा में ससीम होती है। सांस्कृतिक प्रसंगो और उनके सम्बद्ध मूल्यों को अनुरूप भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान करने में ही बाल्मीकि, कालिदास, तुलसी आदि कवियों की महत्ता निहित है।

---

1. "But I believe that the properites in which music concerns the poet most nearly are the sense of rhythm and the sense of atructure". Ibid - 38
2. वाक्यपदीय - भतृहरि 11,30 तथा 1,1541
3. प्रतिक्रियाएं - डॉ0 देवराज, पृ0 - 147

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्यभाषा सन्दर्भ मूलक और बिम्बात्मक होती है न कि पारिभाषिक या शास्त्रीय। कविता की भाषा कलात्मक और सृजनात्मक होती है। काव्यभाषा में लय, तुक, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि तत्वों के अन्तर्गुम्फन के कारण कविता का अनुवाद निःसन्देह असम्भव है। काव्यभाषा उपमानात्मक या सादृश्यमूलक होता है। इसको बोलचाल के गँवारूपन से बचते हुए लोक भाषा से जीवनी शक्ति अर्जित करनी चाहिए। कवि का लक्ष्य कलागत गठन और संगीत का लोकभाषा की सजीवता से सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। चूँकि कविता का क्षेत्र पूर्ण रूपेण मानव-जीवन और मानव-मूल्य है अतः काव्यभाषाओं में संदर्भमूलकता के साथ-साथ सांस्कृतिक संदर्भों, शब्दों और मूल्यों का प्राधान्य होता है।

(ग) काव्यभाषा के तत्व -

वास्तव में काव्यभाषा में गतिमान अन्तर्धारा उसे इतनी महत्वपूर्ण एवं ऐसी विशेषता प्रदान कर देती है जिससे वह सामान्य भाषा होने के बावजूद अत्यधिक प्राणवान, जीवन्त तथा उससे पृथक दृष्टिगोचर होने लगती है। गंभीरता, सघनता, रमणीयता तथा जीवन्तता आदि ऐसे गुण हैं जिनके कारण काव्य भाषा अन्य प्रणालियों से स्वतंत्र अस्तित्व को उद्घाटित करने लगती हैं। इस दृष्टि से काव्य भाषा में अन्तर्निहित कुछ तत्वों पर विचार करना अत्यावश्यक हो जाता है।

संवेदनात्मक काव्यभाषा का एक प्रमुख तत्व है। वास्तव में भाषा का आधार रूप वह है जो रचनाकार समाज से स्वीकार करता है और उसी के अनुकूल उसकी संवेदना निखरती है जिसे वह फिर अपनी काव्यभाषा में व्यक्त कर देता है। जैसा कहा गया, यह

काव्यभाषा एक निश्चित सीमा तक कवि के व्यक्तित्व के अनुकूल रूपकार ग्रहण करती है, पर अपनी आधारभूत सामाजिक भाषा से वह पृथक नहीं हो सकती, जो कि रचनाकार की संवेदना का माध्यम और स्रोत है। इसीलिए भाषा के अर्थ बोध के साथ-साथ साहित्य में संवेदनात्मक गहराई बढ़ती जाती है।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि कविता की भाषा संवेदनात्मक होती है। एम्पसन[2] आदि विद्वान भी इस बात को स्वीकार करते हैं। एम्पसन की मान्यता है कि साहित्य में रूपकों और प्रतीकों का सृजन संवदेना की ही प्रेरणा से होता है। कविता में उनके प्रयोग औचित्य को तर्क के माध्यम से सिद्ध करना बिल्कुल असम्भव है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संवेदना कविता का एक तत्व अवश्य है लेकिन एम्पसन आदिविद्वानों द्वारा किया गया विवेचन बिल्कुल अतिवादी है। प्रतीकों का सृजन मान संवेदना द्वारा ही सम्भव नहीं है, जबकि यह सत्य एवं तर्गसंगत है कि कोई भी रचनाकार प्रतीकों के माध्यम से ही संवेदना को व्यक्त करता है। वास्तव में समाज के अनुभवों को एम्पसन ने दो रूपों में विभक्त किया है -- काव्यात्मक और अकाव्यात्मक। यही कारण है कि कविता का क्षेत्र अनुभूतियों का है परन्तु अनुभूति मात्र संवेदनात्मक ही नहीं होती। जीवन में विचारों का भी अनुभव किया जाता है तथा उसे कविता में व्यक्त किया जाता है। वैसे तो विचार कविता के क्षेत्र में नहीं आता लेकिन जब वह अनुभूति के स्तर पर उतर जाता है तो कविता को गौरवपूर्ण बना देता है। इसलिए वहाँ कविता की भाषा संवेदनारहित हो जाती है। माधुर्य संवेदनात्मक भाषा की प्रमुख विशेषता है, जबकि कविता की भाषा में प्रसाद या ओज गुण का समावेश चिन्ता या दर्शन के संस्पर्श से होता है। यही कारण है कि भारतीयाचार्यों ने काव्य

---

1. भाषा और संवेदना - डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 - 98
2. सेवेन टाइप्स ऑफ एम्बीग्विटी - एम्पसन

के व्यापक स्वरूप को समझकर ही काव्यभाषा के ओज, प्रसाद और माधुर्य तीन गुण निर्धारित किये हैं। इसी के माध्यम से भावों एवं अनुभूतियों की विविधता के अनुरूप शब्द योजना करने की बात भी सिद्ध हो जाती है। कविता की भाषा के संबंध में आज के कवियों की धारणा नितांत वैज्ञानिक है क्योंकि वह कविता के लिए विषय की सीमा को स्वीकार नहीं करता तथा न ही वह उसका काव्यात्मक और अकाव्यात्मक विभाजन ही करता है।

वास्तव में काव्यभाषा की प्रमुख समस्या संवेदना नहीं है। इसकी प्रमुख समस्या है सम्प्रेषणीयता। अतः काव्यभाषा का वही प्रमुख तत्व है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का विचार है कि -- "आज का रचनाकार किसी अनुभूति के सुनिश्चित रूप के स्थान पर उस अनुभूति की जो एक व्यापक श्रेणी संप्रेषित करना चाहता है, उसका मुख्य कारण यह है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास और पिछली कुछ शताब्दियों के अनुभव के आधार पर वह ध्वनियों और शब्दों की प्रकृति तथा सीमा को कुछ और स्पष्टता से समझने लगा है।"[1] शब्द की यह समझ ही काव्यभाषा को एक नयी ऊर्जा प्रदान करता है तथा इसी के माध्यम से व्यापक स्वरूप का सम्प्रेषण होता है। इसकी सम्पूर्णता को व्यक्त करने में कवि की संवेदनाएँ ही मुख्य हो जाती हैं। इसी प्रकार संवेदनाओं का सम्प्रेषण ही काव्यभाषा का मुख्योपद्देश्य है। इस सम्प्रेषण का आधार यद्यपि शब्द होते हैं लेकिन यह सम्प्रेषण अलग-अलग कवियों द्वारा अलग-अलग ढंग से होता है। शब्दों में भी कई रूप दृष्टिगोचर होने लगते हैं -- शब्दों के नवीनार्थ, शब्द चयन तथा शब्दों की प्रयोगधर्मिता। शब्दों के नवीनार्थ काव्यभाषा सृजन में मुख्य भूमिका निभाते हैं। शब्दों में एक सा एक से अधिक अर्थ सम्मिलित रहते हैं। ये स्वयं अमूर्त होते हैं। अतः इनका

---

1. मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० -16

सम्प्रेषण तो कदापि सम्भव नहीं है। हाँ, इतना निश्चित है कि अन्ततः शब्द किसी मूर्त वस्तु को संकलित अवश्य करते हैं। इस प्रकार सारी भाषा अमूर्तन और प्रतीकन की क्रिया है।"[1] किसी भी भाषा के जन साधारण प्रयोग शनैः शनैः उसे चरमार्थ तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस चरमार्थ के बाद वह रूढ़ हो जाता है। इस रूढ़ार्थ को तोड़कर कवि वास्यनाकारउसे एक नया अर्थ प्रदान करता है, इसके पश्चात् फिर उसे नवीनार्थ की ओर प्रेरित करके भाषा को संस्कारवान बना देता है। रूढ़ार्थ को तोड़ने की शक्ति जबकि किसी भी भाषा में विद्यमान रहती है तब तक वह भाषा पुरानी नहीं हो सकती। लेकिन जब भाषा–संस्कार की इस स्थिति में परिवर्तन होगा तो भाषा मृत हो जायेगी। काव्यभाषा की शब्द–संस्कार की यह प्रवृत्ति काव्य–सृजन की प्रमुख समस्या है। ऐसी स्थिति में कवि के पास दो प्रकार के शब्द होते हैं –– पहला दैनिक बोलचाल के शब्द जो पहले से कोई संदर्भ नहीं रखते तथा दूसरा ऐसे शब्द जो पूर्व संदर्भ रखते हैं। ऐसे संदर्भ ही काव्यशास्त्र में विवेच्य हैं। इन दोनों शब्दों की स्थितियों में परिवर्तन करना ही कवि का कार्य है। इस प्रकार इस दृष्टि से शब्द के तीन अर्थ स्तर बन जाते हैं। उदाहरण स्वरूप मान लीजिए कोई रचनाकार **"घर"** शब्द का प्रयोग करता है तो समाज में घर तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है –– प्रथम "घर" घर है, द्वितीयार्थ में "घर" परिवार है तथा तृतीयार्थ में प्रेम या ममत्व। इसी प्रकार द्वितीय शब्द जो पूर्व संदर्भों से संबंध रखते हैं, उसे भी देख सकते हैं। जैसे – विभीषण। प्रथमार्थ में विभीषण एक नाम है, द्वितीयार्थ में उसका दैन्य, भक्ति, एवं निष्ठा के साथ–साथ राम, लक्ष्मण, हनुमान तथा रावण का पूरा दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है तथा

---

1. मध्यककालीन हिन्दी काव्यभाषा, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० –17

तृतीयार्थ में वह एक भेदी के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जब यही तृतीय रूप रूढ़ हो जाता है तो उसे तोड़ने की आवश्यकता पड़ती है। इस रूप में अर्थ की इन तीन गतियों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है --

शब्द -- (क) सामान्य (ख) प्रतीक (ग) भावचित्र।

प्रथमार्थ सामान्य भाषा है। शब्द निर्माण की पहली मंजिल है सामान्य शब्द को विशिष्टार्थ देना तथा उसे प्रतीक बना लेना। कभी-कभी ये प्रतीक भी जन-साधारण में अत्यन्त प्रचलित हो जाते हैं। इसलिए इसे काव्यभाषा की पूर्णता नहीं कहा जा सकता। बल्कि उसे हम सामाजिक अर्थ की वैयक्तिक परिणति कह सकते हैं। जब शब्द तृतीयार्थ में रूपान्तरित हो जाते हैं तथा प्रतीक भावचित्र के रूप में परिणत हो जाते हैं, तब शब्द भी विशेषीकरण में परिवर्तित हो जाते हैं। यह अर्थ का विशेषीकरण किसी भी अर्थ के साधारणीकरण के लिए अनिवार्य होता है। कारण यह है कि तृतीय रूप में शब्द भावचित्र बनकर बिन्दु से रेंज में परिवर्तित हो जाते हैं तथा जिस श्रेणी तक उनकी पहुँच होती है। वह वहाँ तक अर्थ को घोषित करते हैं। ऐसी योजना को ही प्रतीक से बिम्ब की ओर उन्मुक्तता माना गया है। यह स्थिति यद्यपि भारतीय परम्परा में उपमा और रूपक में भी दृष्टिगोचर होती है। लेकिन ये मूलतः काव्य के बहिरंग से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। जबकि दूसरी तरफ भावचित्र तथा बिम्ब शब्द के अन्तरानुवर्ती तत्व हैं। यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि काव्य भाषा के रूप में सामान्य भाषा का उन्मुखीकरण प्रतीक द्वारा तथा उसका विश्लेषीकरण भावचित्र या बिम्ब द्वारा होता है। क्योंकि प्रतीकन की प्रक्रिया तो सामान्य भाषा में भी होती रहती है। चूँकि शब्द स्वयं प्रतीक होते हैं इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक शब्द का प्रतीकीकरण करना पड़े। यही कारण

है कि अनेक प्रतीक भाषा में आकर भी काव्यभाषा में नहीं जुड़ते और ये सामान्य भाषा में ही सामान्यार्थ से इतर रूप में रूढ़ हो जाते हैं। कोई भी कवि जब इसे भावचित्रीकरण न होने के कारण काव्य में प्रयुक्त करना चाहता है तो वह इसके सामान्यअर्थ की भाँति प्रतीकार्थ को भी तोड़ता है। कारण यह है कि रूढ़ार्थ उसकी संवेदना का ग्राहक नहीं होता। इसे ही शब्द–संस्कार माना गया है।

वास्तव में शब्द–चयन किसी भी काव्य के लिए एकविशिष्ट प्रक्रिया है। इसे ध्वनि चयन भी कहा जा सकता है क्योंकि कवि या रचनाकार स्वरों एवं व्यंजनों चयन तक सचेष्ट रहता है। काव्य में शब्द–चयन की प्रक्रिया के अन्तर्गतअनेक तथ्यों की जानकारी रखना आवश्यक होता है। शब्द चयन से हम जितने रंगों का प्रयोग कर सकते हैं उतना अर्थ से नहीं। यही कारण है कि काव्यभाषा में शब्द चयन की महती आवश्यकता होती है। इस शब्द–चयन के अन्तर्गत, ध्वनि, शब्द की प्रकृति तथा लय का भी ध्यान रखना पड़ता है।

वास्तव में कवि रचना के क्षणों में जिस मनः स्थिति में रहता है वह शब्द चयन का ही कारण काल होता है तथा उसमें पर्याय या स्थानापन्न की आवश्यकता भी नहीं रहती। परन्तु आगे चलकर कवि स्वयं यह निश्चित नहीं कर पाताकि शब्द की समीचीनता पर्याय से हो सकती है। यही कारण है कि काव्य में शब्द–प्रयोग की युक्तियुक्तता एक कठिन कार्य है। संवेदनाओं के जागृत होने पर भी उनके लिए सही एवं सटीक शब्द की खोज एक समस्या बन जाती है। यह शब्द कवि के भावों के अनुकूल अभिव्यक्ति करने सक्षम नहीं होते तो उनके अर्थ–संकेत अपूर्ण रहते हैं। ऐसी स्थिति में कवियों यह ध्यान रखना चाहिए कि उनका शब्द–चयन अत्यंत संगठित और तथ्यात्मक हो। इस व्यवस्थापन में वह इतना ऊपर उठ जाता है कि एक शब्द को अर्थों के एक अद्वितीय तथा निस्सीम परावार

से युक्त बना देता है। शब्दों में इस अर्थ–संगुम्फन के फलस्वरूप सामान्य पाठक के लिए उसकी गम्यता अत्यन्त जटिल हो जाती है।

कवि ने अपने शब्दों पर नियन्त्रण तथा उसकी शुद्धता पर भी ध्यान रखता है। हाँ वह कभी–कभी आवश्यतानुसार उनमें किंचित परिवर्तन करके उनका अभिसंचान करता है और इसी शब्द के अर्थ नवीनता लिए होते हैं। इतना ही ये नवीन भावों के अनुरूप होते हैं जिससे नवीन काव्य का सृजन होता है तथा भाषा के स्वरूप में चैतन्यता आती है। आशय यह है कि काव्य–गत शब्द–प्रयोग, शब्द–निर्माण तथा व्याकरणिक नियमों के उल्लंघन के पीछे भावना की तीव्रता, कल्पना की भव्यता, अभिव्यक्ति की आवश्यकता, स्पष्टता तथा शब्दों के सार्थक प्रयोग की ही समस्या आड़े आती है। इस सम्बन्ध में स्वतंत्रेच्छा एवं भावना प्रक्रिया पर ही कवियों का शब्द–मनोविज्ञान अथवा शब्द–संघान आश्रित रहता है। यही कारण है कि रचनाकार अपनी काव्य–भाषा के सृजनकर्ता माने जाते हैं। वास्तव में कवि की अभिव्यक्ति की सफलता अभीष्टार्थ की व्यंजकता, उचित की प्राणवत्ता, समर्थ, शुष्ट एवं समीचीन शब्द प्रयोग के समाश्रित हैं। शब्द चाहे तत्सम हों या तद्भव, सशक्त हों या अशक्त, निश्चित हों या अनिश्चित, बिम्बात्मक हों या प्रतीकात्मक सबका भाषा में समान महत्व है। और उनकी यह समान महत्ता उनकी प्रयोग आवश्यकता तथा समीचीनता पर निर्भर है।

रचना के क्षणों में यदि प्रचलित शब्दों में से उपयुक्त शब्दों की कमी के कारण भावों की अभिव्यक्ति प्रदान करने में भाषा अवरुद्ध होने लगती है तो कवि आवश्यकतानरुप प्रायः शब्द को नयी योजना या प्रचलित शब्दों में परिवर्तन कर देता है या अन्य भाषाओं के शब्दों को एक नवीन अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, या व्यापक अर्थ संसार के साथ शब्दों को नियोजित कर देते हैं। भावानुभूतियों के प्रदर्शनार्थ ही कवि लोग ऐसा करने को विवश होते हैं । ऐसी स्थिति में उनका सम्पूर्ण कर्त्तव्य विनिष्ट हो सकता है। यदि वे शब्द–संघान या निर्माण द्वारा सार्थक या समीचीन शब्द प्रयोग पर ध्यान दें। इस प्रकार कवि भाषा भंडार की पूर्ति में सहायक होने के साथ–साथ उसकी सौन्दर्याभिवृद्धि भी करता है।

शब्द का तीसरा रूप है शब्दों की प्रयोगधर्मिता। भाषा के संबंध में कहा जा सकता है कि उसका अध्ययन अर्थाधार पर होता है। अपने यहाँ इसे दर्शन के विषय के रूप में मान्यता मिली है। लेकिन इसका प्रयोग काव्यभाषा के क्षेत्र में भी होने लगा है क्योंकि, भाषा विज्ञान एवं काव्यशास्त्र में भी इसकी उपादेयता है। भाषा का सार अर्थ को ही माना गया है– "अर्थवद्धातुर प्रत्ययः प्रातिपादकम्।" पाणिनि शब्द ही इस अर्थ के आधार हैं और उनके प्रयोग ही अर्थ को ध्वनित करते हैं। प्रकारान्तर से भतृहरि भी इसे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार– "शब्द के उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है। अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नहीं है।"[1] इसलिए भाव का स्थूल संकेतक और भाषा का अर्थ द्योतक अवयव शब्द ही है।

वास्तव में शब्द–चयन के समय कवि–शब्दों का अभष्टार्थ में भावन करता है। वह उसके लघुतम अर्थ वैशिष्ट्य को विस्तार की सीमाएँ इस प्रकार आबद्ध करता है कि उनके पर्याय भी वहाँ उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकते। जब कोई शब्द वहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता तो वह शब्दों का सृजन करता है अथवा नवीनार्थ को तोड़कर उसे नयी अर्थवत्ता प्रदान करता है। इस परिवर्तनया नव निर्माण में उसे व्यवहारिक नियमों तक का उल्लंघन करना पड़ता है। इतना ही कवि नवीन–शब्दों की खोज में किसी अन्य भाषा के, मृत–पुरानी भाषा के अप्रचलित शब्दों को अपनाकर उसमें परिष्कार करता है। यह परिष्कार अर्थ का होता है न कि शब्द का। इसके लिए वह देशज और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करने में झिझकता नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि अपना ध्यान भाव या संवेदना पर ही केन्द्रित रखता हैं। उसके लिए उसमें किसी प्रकार का

---

1. यस्मिस्तुच्चारिते शब्दे यदा यौऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थ तस्यैव नान्यर्थस्य लक्षणम्।।" वाक्यद्वीयम्–भतृहरि

बदलाव बिल्कुल सम्भव नहीं होता। उसके सही शब्द की खोज में वह शब्दान्वेषी हो जाता है। चूँकि भावों के मूर्तन के लिए शब्द–प्रयोग के क्रम में अनेक उपादान अपने आप समाहित हो जाते हैं। शब्दों का अभाव हमें सामान्य प्रयोग से भिन्न होता है इसलिए कवि के इस प्रकार के शब्द–प्रयोग के क्रम में अनेक उपादान अपने आप समाहित हो जाते हैं। शब्दों का अभाव हमें सामान्य प्रयोग में नहीं खटकता। किसी न किसी रूप में हम अपनी बात कह लेते हैं लेकिन कवि के लिए ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि उसके ऊपर चारुता या सौन्दर्य बोध का दबाव रहता है। यही दबाव उसे सुन्दर वर्णों की ओर सम्प्रेरित करता है। इस प्रकार उस स्थिति में उसमें कई तत्व जुड़ जाते हैं। इसी को आधार मानकर वह प्रचलित, अपरिचित, लाक्षणिक, आलंकारिक, नवसृजित और व्याकुंचित रूपों का निर्माण करता है। समीक्षकों ने इसी आधार पर आलोचना में शब्द के स्वरूप पर प्रहार करना प्रारम्भ किया। इस दृष्टि से अरस्तू होटेस आदि का नाम महत्वपूर्ण है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी गुण रीति और वक्रोक्ति इसी शब्दोचित्य से जुड़े हुए हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द की प्रयोगधर्मिता के इस स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] ने इस संदर्भ में इसके चार भेद किए हैं ––

1. गोचर रूप विघटन करने वाले शब्द
2. विशेष रूप व्यापार सूचक शब्द
3. वर्ण विन्यास
4. साभिप्राय विशेषता

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि शब्द प्रयोग के माध्यम से रचनाक्रम जिस संवेदना को व्यंजित करता है उसमें शब्द के विधान में ये प्रयोग आवश्यक होते हैं।

---

1. चिन्तामणि भाग–1 (कविता क्या है) पृ0–110,111,112,113

(घ) काव्यभाषा के बिम्ब, प्रतीक एवं मिथक –

बिम्ब –

बिम्ब काव्य की जीवन्तता का महत्वपूर्ण तत्व है। सम्पूर्ण काव्य में बिम्बों की योजना स्थायी रूप में विद्यमान रहती है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार –– "चित्र कविता का एक आवश्यक गुण है, प्रत्युत कहना चाहिए कि यह कविता का एक मात्र शाश्वत तत्व है जो उससे कभी नहीं छूटता।[1] इस संबंध में एजरापाउण्ड का तो यहाँ तक कहना है कि –– "बड़े–बड़े पौधे लिखने की अपेक्षा जीवन भर में केवल एक बिम्ब रचना करना कहीं बेहतर है।"[2] काव्य संरचना के शैल्पिक प्रतिमानों में बिम्ब अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कवि शब्दों का विधान एवं भाषा–प्रयोग इस प्रकार करता है कि पाठक के मानस पटल पर भी वैसा ही चित्र उभरता है। ऐसा करने के पीछे सर्जक का मुख्योद्देश्य सशक्त सम्प्रेषण ही होता है। सम्भवतः इसीलिए बिम्ब को काव्य का प्राणतत्व मानते हुए ड्राइटन लिखते हैं कि –– "बिम्ब–विधान कविता की उत्कृष्टता नहीं, उसका प्राप्त तत्व है।"[3] हम अपने आयाम के वातावरण में जो कुछ भी देखते हैं या अनुभव करते हैं, वह संश्लिष्ट भावों के रूप में संवेदित होकर बिम्ब के माध्यम से कविता में उभर कर सामने आ जाता है। प्रोक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में हम कह सकते हैं

---

1. चक्रवात (भूमिका) रामधारी सिंह "दिनकर" पृ0 – 72
2. Literature Essays of Kara Pound Page - 17
3. The Poetic Image - Draydon, Page - 25

कि बिम्ब काव्यतर वस्तु नहीं है बल्कि वह काव्य संरचना का महत्वपूर्ण शैल्पिकप्रतिमान है। यह स्मृति का पुनर्नियोजन है तथा इसकी संरचना में भावात्मकता एवं बौद्धिकता दोनों समाविष्ट होते हैं। काव्य–रचना एवं रसास्वादन दोनों दृष्टियों से इसका विशेष महत्व है। समग्र रूप से ऐन्द्रियता, चित्रात्मकता, शब्द रूपकाव्यकता, प्रभावोत्पादकता तथा आरोपणाभाव बिम्ब के लक्षण हैं। यह सज्जा का उपकरण मात्र नहीं है अपितु कर संवेदना[1], अलंकरण[2], क्रमबद्धता, प्राणवत्ता प्रभविष्णुमता[3] तथा भावों को मूर्तिमान करने का भी कार्य करता है। वास्तव में अल्प अनुभूतियों की रचकात्मक सर्व संदेष अभिव्यक्ति ही बिम्ब–विधान की श्रेष्ठता का आधार है।"[4]

भारतीय साहित्य में **"बिम्ब"**शब्द प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, प्रतिबिम्ब तथा मूल्यांकन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। लेकिन, आधुनिक साहित्य में **"बिम्ब"** शब्द अंग्रेजी के **"इमेज"** के हिन्दी रूपान्तर के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है। अंग्रेजी के **"इमेज"** का कोशगत अर्थ है –– मूर्तरूप प्रदान करना, चित्रबद्ध, प्रतिबिम्बित तथा प्रतिच्छायित करना आदि। बिम्ब की व्यापकता का बोध इस बात से हो जाता है कि साहित्य एवं मनोविज्ञान दोनों विषयों में यह समान रूप से विवेचित होता है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसका संबंध मनोविज्ञान से है लेकिन इसका प्रयोग अंग्रेजी **"इमेज"** के समानार्थक रूप में होता है, जिसका अर्थ है आकृति, रूप, प्रतिमान आदि। **लीविस** ने काव्य बिम्ब को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि –– "काव्य बिम्ब एक प्रकार से ऐन्द्रिय

---

1. Principles of Literary Crittcism- I.A. Rtcharda page- 114
2. चक्रचाल, रामधारी सिंह दिनकर, पृ0 – 71
3. जायसी की बिम्ब योजना, डॉ0 सुधा सक्सेना, पृ0 – 58
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डॉ0 रामगोपाल सिंह चौहान, पृ0–128

शब्द चित्र हैं जो कुछ अंश तक अलंकारपूर्ण होता है जिसके संदर्भ में मानवीय संवेदनाएँ निहित होती हैं तथा जो पाठक के मन में विशिष्ट रागातात्मक भाव उद्दीप्त करता है।"[1] मनोवल के अनुसार, "जहाँ दो वस्तुओं के पारस्परिक संबंध की दृष्टि से उन्हें एक साथ रखा जाता है, वहीं बिम्ब उपस्थित हो जाता है।"[2] डॉ0 केदारनाथ सिंह ने काव्य बिम्ब को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बिम्ब वह शब्द चित्र है जो कल्पना के द्वारा एन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।"[3] बाह्य जगत के विभिन्न पदार्थों की अनुपस्थिति में जब हम इन पदार्थों पर ध्यान देते हैं तो तत्क्षण ये पूर्व संचित मूर्त रूप ही हमारे ध्यान केन्द्र में प्रकट हो जाते हैं। पूर्वानुभूतियों के प्रभाव रूप में संचित ये मूर्त रूप या मानव प्रतिभायें ही बिम्ब की संज्ञा से अभिहित की जाती हैं। काव्य में अमूर्त भावों का मूर्तन बिम्बों के ही माध्यम से संभव है।

बिम्ब को रूप विधान भी कहा जाता है। कुछ विद्वान बिम्ब को अप्रस्तुत का विशिष्ट अंग मानते हैं। उनका कहना है कि इसकी अभिव्यंजना अप्रस्तुत रूप में ही होती है। अपनी चित्रात्मक शक्ति से प्रमाता के मानस पर प्रस्तुत की रूप समता को व्यंजित करने में सक्षम होने वाले अप्रस्तुत ही बिम्ब कहलाते हैं। वस्तुतः बिम्ब अप्रस्तुत-विधान का ही साम्य पर आधारित विशिष्ट रूप है।

---

1. "The poetic Image is more or Less sensuous piocture in words, to some degree mataphorical, with an undernote of some human emotion in its contest. But also charged with and releasing in to the reader a poetical poetic emotion or passion." The Poetic Image- Lavis Page- 22

2. Imagery is present wherever two things are put togehter in order that their relationship may be seen. Imagery of Keats and Shelley - Fogle - Page - 15.

3. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान, डॉ0 केदारनाथ सिंह, पृ0-23

डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार, "उपमान बिम्ब रचना का साधन है, सादृश्य विधान उपमान की सहायता से होता है, जो उद्दिष्ट अर्थ, अनुभूति या विचार को मूर्तित करने में सहायक होता है। वास्तव में उपमान की अपेक्षा बिम्ब की परिधि कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक है। बिम्ब विधान के अनेक उपकरणों में से उपमान एक अत्यंत उपयोगी उपकरण है।"[1]

बिम्ब–सृजन के प्रेरक तत्वों में भाव, कल्पना, स्मृति, ज्ञानेन्द्रियों तथा सार्थक शब्दों का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ इसका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

भाव–बिम्ब–सृजन का प्रमुख तत्व है। इसके बिना बिम्ब का अस्तित्व सम्भव नहीं है। कवि भावपूर्ण होकर जब कल्पनालोक में विचरण करने लगता है तथा अतीत की मदभरी स्मृतियों में निमग्न हो जाने के उपरान्त सुन्दर एवं स्वर्णिम स्वप्नों को संजोता है तभी उसके मानस पटल पर बिम्ब उभर जाता है। यही कारण है कि बिम्ब की उत्पत्ति कवि के भावोद्रेक की स्थिति

में ही होती है। जब भाव वर्ण्यवस्तु से मिल जाते है, वर्ण्यवस्तु विशिष्ट वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाती है।"[2] कल्पना की भी बिम्ब निर्माण की प्रकिया में मुख्यभूमिका होती है। क्योंकि कल्पना के द्वारा ही स्मृति जागृत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भावों के प्रवर्तन में कल्पना को अनिवार्य मानते हुए लिखते हैं कि --- "जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार

---

1. काव्य बिम्ब– डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 6

2. "When emotions are attached to real objects, they gives them a certain particulately." Illusion and Reality - page - 133

भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"[1] कल्पना ही मस्तिष्क की ऐसी प्रक्रिया है जिससे कवि हृदय में सुप्तानुभूतियों को जागृत कराने के साथ-साथ छाया प्रतिमाओं का बिम्ब-ग्रहण भी कराती है। इसीलिए कल्पना भावों की तीव्रतम अभिव्यक्ति तथा कवि-मानस पटल पर बिम्बों का पुनरूत्थान करने में महत्पूर्ण भूमिका निभाती है। लीविस के शब्दों में- "बिम्बोत्पादन का सम्बन्ध धूमिल अवचेतन को स्पष्ट करने वाली मस्तिक की सामान्य प्रक्रिया है।"[2]

बिम्ब-सृजन में कवि के अतीत के अनुभवों का भी योगदान रहता है। वाह्य जगत के नैकट्य से प्राप्त अनुभव हृदय में मलिन एवं अस्पष्टता से मौजूद रहते हैं तथा स्पष्ट आकार स्मृति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। इसीलिए स्मृति ही रचनाकार के अतीत के अनुभवों को जागृत करके बिम्ब निर्माण में सहायक होती है।

मनुष्य के अनुभवजन्य ज्ञान को व्यापक रूप प्रदान करने में ज्ञानेन्द्रियाँ मुख्य रूप से सहायक होती हैं। दिव्य या सुन्दर दृश्य अथवा आकृति को देखकर, नेत्र, मनोहर एवं सुमधुर ध्वनि को सुनकर कान, सुगन्धित वस्तु के संयोग से नासिका आपदि ज्ञानेन्द्रिया मन तथा मस्तिक पर एक अविस्मरणीय मलिन चित्रांकन करती हैं तथा अनुभव के जागृत होने के बाद भावोद्रेक की स्थिति में ये धूमिल एवं मलिन चित्र ही बिम्ब का रूप धारण कर लेते हैं।

काव्य बिम्ब का एक प्रमुख प्रेरक तत्व है-सार्थक शब्दावली

---

1. चिन्तामणि - (कविता क्या है) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0 101

2. "The production of imagery belongs to the general action of the mind, in disk of unconsciousness."
The Poetic Image - O.P. Levis Page-39

के माध्यम से ही काव्य बिम्ब मूर्तवान होते हैं। चित्र ही अनुभूत को आकार प्रदान करने का सबसे सरल माध्यम है। क्योंकि मूलतः आकार चित्र रूप ही होता है। अनुभूति का चित्र कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि वह निराकार होती है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए कलाकार अनुभोक्ता की मूर्त चेष्टाओं का अंकन करता है या तो फिर उपभोक्ता की वासना से रंगे हुए अनुभूति विषय या पात्र के रूप का चित्रण। वस्तुतः सफल बिम्ब–सृजन हेतु सार्थक चित्र भाषा प्रमुख तत्व है।

जहाँ तक बिम्बों के वर्गीकरण का प्रश्न है, इस पर विद्वान एक मत नहीं हैं। वैसे बिम्बों को वर्गीकृत करने में मुख्य रूप से तीन आधार माने गये हैं– पहला वस्तु का, दूसरा ऐन्द्रियता का तथा तीसरा अभिव्यंजना पद्वति का। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने बिम्बों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। लीविस ने बिम्बों को दो भागों में विभाजित किया है– सजीव बिम्ब और खंडित बिम्ब।[1] डॉ0 शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने बिम्बों के दो भाग किये हैं– ऐन्द्रिय बिम्ब और मानस बिम्ब।[2] डॉ0 कैलाश बाजपेयी ने बिम्बों के छः भेद–दृश्य बिम्ब, वस्तु बिम्ब, भाव बिम्ब, अलंकृत बिम्ब, सान्द्र बिम्ब, एवं विकृत बिम्ब बताये हैं।[3] बिम्बों का एक तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण हम निम्नांकित प्रकार से कर सकते हैं–

(क) दृश्य बिम्ब – (1) स्थिर (2) गतिशील (3) व्यापार विषयक

(ख) मानस बिम्ब – (1) भावानुमोदित (2) विचारानुमोदित
(3) वैज्ञानिक एवं यांत्रिक।

---

1. Poetic Image - Lewis Page-90
2. नयी हिन्दी काव्य और विवेचना–डॉ0 शम्भूनाथ चतुर्वेदी पृ0 –334
3. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प–डॉ0 कैलाश बाजपेयी– पृ0– 81

(ग) संवेध बिम्ब – (1) स्पर्श संवध (2) श्रवण संवेध (3) घ्राण संवेध (4) वर्ग संवेध (5) आस्वाध संवेध।

दृश्यात्मकता प्रत्येक बिम्ब की मुख्य विशेषता है। बिम्बों का चाक्षुष संबंध भी इसी दृश्यात्मकता से ही है। दृश्य बिम्बों का चाक्षुष से सम्बंध होने के कारण ही उन्हें स्थिर और गतिशील भी स्वीकार किया जाता है। जहाँ स्थिर दृश्य बिम्ब मानचित्र का बोध कराते हैं। वहीं गतिशील बिम्ब क्रिया व्यापार से सम्बंध रखते हैं।

मानस बिम्ब मानवीय चेतना के बौद्धिक एवं भावात्मक स्तर के सम्बंधित होते हैं। अनेक भावों तथा मन:स्थितियों को मूर्तमान करने वाले मानस बिम्ब ऐन्द्रिय बिम्बों की भांति ही आकर्षक होते हैं। बस, अंतर केवल इतना है कि इन्हें उपमानों की सहायता से ही आकृति प्रदान की जाती है।

संवेध बिम्ब ऐन्द्रिय–संवेदन के आधार पर सृजित होते हैं। स्पर्श, प्राण नाद, वर्ण एवं आस्वादन ऐन्द्रिय वृत्तियाँ हैं। रचनाकार इन वृत्तियों को संवेदन विषय बनाकर काव्य में स्थान्तरित कर देता है। वास्तव में यह चित्रकारिता से भिन्न है क्यों कि यह संवदेन बोधात्मक होता है।

इस प्रकार काव्यात्मक अभिव्यक्ति व काव्यभाषा के क्षेत्र में बिम्बों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

प्रतीक –

"प्रतीक" से संक्षेप में बहुत कुछ कहने की सामर्थ्य होती है। जो बात पूर्णतः व्यक्त नहीं की जा सकती उसे प्रतीक के माध्यम से

बड़ी सुगमता और अच्छे ढंग से कह दिया जाता है। आज प्रतीकों का व्यवहार जन–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। "प्रतीक" शब्द भौतिकी रसायन, गणित, तर्कशास्त्र, धर्म, कला आदि विविध विधाओं में प्रमुख्यता से प्रयुक्त होता है। लेकिन प्रस्तुत संदर्भ में इसका सम्बंध उन प्रतीकों से है "जो मानस प्रत्यक्ष तथा कल्पना के क्षेत्र में आने वाले विचारों, भावों और अनुभूतियों के गोचर संकेत अथवा चिह्न हैं।"[1] इसका व्युत्वत्तिमूलक अर्थ है– जिससे प्रतीत हो या किसी वस्तु की अभिव्यक्ति हो. वह प्रतीक हैं।[2] हलायुध कोशकार के अनुसार – "जिस वस्तु या साधन के द्वारा बोध या ज्ञान की प्रतीति अथवा विश्वास होता है, उसे प्रतीक कहा जाता है।"[3] एनसाइक्लोपोडिया बिटेनिका के अनुसार– "प्रतीक" उस दृश्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है जो अपने सादृश्य के कारण साहचर्य से अदृश्य वस्तु का ज्ञान कराता है।[4] इस सम्बंध में डॉ0 कुमार विमल का मत है कि ""धर्म विज्ञान के प्रतीक प्रायः सर्वधा निर्धारित मान्य अर्थ रखते हैं, किन्तु कला के प्रतीकों में प्रयोक्ता और पाठक, द्रष्टा या श्रोता के बीच किसी निर्धारित अर्थ के लिए ऐसा विश्रब्ध ऐकमत्य नहीं रहता है।"[5] प्रो0 क्षेम का कहना है –– "प्रतीक लाक्षणिक–प्रक्रिया की निर्मित हैं, अतः मूर्तिमत्ता और चित्रात्मकता उनकी विशिष्टता होती है। प्रतीकों का जन्म प्रयोजन को लेकर होता है। अतएव प्रतीक में प्रयोजनवती लवणा ही सक्रिय होती है। बहुत से प्रतीक प्रयोग विशिष्ट युग या कवि के काव्य में रूढ़ता की ओर भी झुकने लगते हैं।"[6] डॉ0 कैलाश

1. इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एपिक्स (वै0–12) पृ0 – 139
2. "प्रतीयते अनेन इति प्रतीक" हिन्दी शब्द सागर – भाग–3, पृ0 –2208
3. "प्रतीयते प्रत्येवि वा इति प्रति+इ+अविकाद पश्येति ईकन प्रत्ययेन साधू।"
4. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृ0 – 701
5. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व – डॉ0 कुमार विमल, पृ0 – 246
6. छायावाद के गौरव चिह्न – प्रो0 क्षेम, पृ0 – 242

बाजपेयी ने विस्तार को संक्षेप में कहने के माध्यम को प्रतीक कहा है।[1] प्रतीक के संबंध में डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल का विचार है कि "प्रकृति के विभिन्न उपादानों स्वरूपों के साथ नैत्यिक परिचय के कारण हमारा रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। यह संबंध जब तक हृदयस्थ रहता है तब तक उसकी अमूर्तावस्था रहती है किन्तु जब हम रागात्मक संबंध का मानों मूर्तीकरण कर देते हैं। शब्दों के इसी प्रकार के प्रयोग का नाम प्रतीक हैं।"[2] इस प्रकार "प्रतीक का रूप संक्षिप्त होता है लेकिन उसमें अभिव्यक्ति को व्यापक हृदय संवेद्य और अर्थ व्यंजक बनाने की अद्भुत शक्ति होती है।"[3] काव्य में वह गोचर या अगोचर वस्तु जो किसी अन्य वस्तु या भाव का बोध कराये और जिसमें भाव जगाने की शक्ति हो प्रतीक कहलाती है।"[4] डॉ0 लक्ष्मीनारायण सुधांशु के विचार से -- "प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनमें केवल अर्थ की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, वरन् भावनाओं का उद्बोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषतापूर्ण आकर्षण है तथा जिन पर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है वे हमारे काव्य में प्रतीक का कार्य करते हैं।"[5] डॉ0 नित्यानंद शर्मा का मन्तव्य है कि --- "अप्रस्तुत अगोचर अथवा अमूर्त का प्रतिनिधित्व करने वाले उस प्रस्तुत या गोचर विधान को प्रतीक कहते हैं। जो देशकाल एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण हमारे मन में चिर साहचर्य के कारण किसी शीघ्र भावना को जाग्रत करता है।"[6]

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, डॉ0 कैलाश बाजपेयी, पृ0 – 75
2. हिन्दी साहित्य में विविधवाद, डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल, पृ0–468
3. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद, डॉ0 चन्द्रकला, पृ0 –1–2
4. गजानन माधव मुक्तिबोध:व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ0 जनक शर्मा, पृ0361
5. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, डॉ0 लक्ष्मीनारायण सुधाँशु, पृ0–482
6. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक, विधान, डॉ0 नित्यानंद शर्मा, पृ0–364

"**प्रतीक**" संबंधी उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर सार रूप में हम कह सकते हैं कि प्रतीक उस प्रस्तुत का नाम है जो परोक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। ये किसी वस्तु भाव या गुण विशेष के सूचक होते हैं। परिस्थिति एवं संदर्भों के अनुरूप ये परिवर्तित होते रहते हैं क्योंकि उस पर अपने युग देश व संस्कृति की छाप रहती है। प्रतीक भाव गुणादि से सम्बद्ध सत्य की प्रतीति कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वास्तव में ये विशिष्ट अर्थ का बोध कराने वाले चिह्न हैं। मेरे मतानुसार प्रतीक विशिष्टार्थ बोधक ऐसे चिह्न हैं जिन पर अपने युग, देश, संस्कृति तथा मान्यताओं आदि का प्रभाव पड़ता है। ये परिवर्तनीय तथा भाव–गुणादि के सम्बद्ध सत्यान्वेषण करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

कुछ विद्वानों ने प्रतीक को प्रायः अलंकार प्रणाली के अंतर्गत अप्रस्तुत के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रतीक को विशेष प्रकार का उपमान मानते हुए लिखते हैं कि --- "कहीं–कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प मान रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव–साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्ष के रूप में या प्रतीकवत् होते हैं।"[1] यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक प्रतीक उपमान रूप में नियोजित रहता है, फिर भी ऐसा सम्भव नहीं है कि सारे उपमान प्रतीक ही हों। प्रतीकोपमान में अंग और अंगी का भाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में डॉ0 नगेन्द्र का विचार है कि, "प्रतीक एक प्रकार से रूढ़ उपमान का ही दूसरा नाम है। जब उपमान स्वतंत्र न रहकर पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में उपमान

---

1. रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 277

होता है। धीरे–धीरे उसका बिम्ब रूप या चित्र रूप संचरणशील न रहकर स्थिर या अचल हो जाता है, अतः प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है जिसके आयाम सिमट कर अपने भीतर बन्द हो जाते हैं।"[1] वास्तव में प्रतीक और अप्रस्तुत में विशेष सामंजस्य अवश्य रहता है, लेकिन इसमें अतंर है।

प्रतीक के संबंध में कुछ लोगों की धारणा है कि इसमें परम्परा स्वीकृत तथा पूर्व निश्चित अर्थो का होना अनिवार्य है। इसके लिए कवि की व्यक्तिगत एवं स्वैच्छिक दृष्टि तथा नये प्रतीकों के निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं है। समाज के द्वारा स्वीकृत ये प्रतीक पीढ़ी दर पीढ़ी स्वयं चले आते हैं तथा ऐसे प्रतीक एक प्रकार से कूट प्रतीत मात्र एवं लोक संवेदन की क्षमता से रहित हुआ करते हैं। ये सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत या प्रचलित न होकर किसी दल या सम्प्रदाय के अत्यंत संकुचित वातावरण व परिवेश में प्रयुक्त होते हैं। लेकिन प्रतीक के संबंध में उपरोक्त मन्तव्य सर्वमान्य नहीं हो सकता। कवि परम्परा स्वीकृत प्रतीकों को ग्रहण करने के साथ–साथ यह नये तथा अर्थ की अभिनव संभावनाओं से पूर्ण अपने व्यक्तिगत प्रतीत के माध्यम से काव्य शोभा और श्री का संवर्द्धन करता है। इतना ही नहीं बल्कि वह स्व कल्पना तथा प्रयोग कौशल्य के माध्यम से परम्परा प्राप्त प्रतीकों में नये अर्थ का संचार करता है।

अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए कवियों द्वारा प्रतीकों का आश्रय लेने के कारण उसे मनुष्य की चिन्तन प्रणाली एवं कार्य व्यापार का अंग भी स्वीकार किया गया है। प्रतीक प्रत्येक भाषा और प्रत्येक युग के साहित्य में कम या अधिक मात्रा में अवश्य मिलते

---

1. काव्य–बिम्ब, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 8

हैं। प्रतीकों का निर्माण मनुष्य की अपरिमेय शक्ति, उसकी सर्जना तथा असाधारण उद्भावना शक्ति को द्योतित करता है। भाषा की सुसंगठित एवं बँधी – बधाई प्रणाली में कवियों की अनेक अनुभूतियाँ हालांकि अभिव्यक्त हो जाती हैं फिर भी सहृदय, संवेदनशील तथा कल्पनाकलित कवि–चित्त की तमाम ऐसी भी अनुभूतियाँ हैं जिनकी सामान्यतः प्रयुक्त भाषा में संवेदित करना असम्भव है। ऐसी अनुभूतियों के लिए ही कवि या रचनाकार प्रतीकों का आश्रय लेने को विवश हो जाता है। प्रतीकों का व्यवहार उन्हीं के निमित्त होता है जिन अनुभूतियों और सौन्दर्यमयी प्रतीतियों को साधारण भाषा में निवेदित नहीं किया जा सकता। प्रतीक के संबंध में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इसमें अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, अनिश्चितता, धुँधलापन या विस्तार होता है। इसमें कथ्य बिल्कुल स्पष्ट, सुनिश्चित तथा साफ–साफ रूपकार में कथित नहीं होता। बल्कि कुछ तितर–बितर सा प्रतीत होता है। इसी को कुछ विद्वान गोपन और प्रकाशन की क्षमता भी कहते हैं। वस्तुतः प्रतीक उद्दिष्ट वस्तु को यथावत उपस्थित न करके, वर्ण्य का पुनर्प्रत्यक्ष न कराकर उसको उद्भाषित मात्र कर देते हैं। प्रतीक का मुख्योद्देश्य वर्ण्य को प्रसारित और महिमान्वित करना होता है। संक्षेप में प्रतीक के लक्षण के रूप में निम्नांकित बातें उल्लिखत की जा सकती हैं ––

1– प्रतीक के समक्ष हमेशा समाज रहता है। उसका अर्थ समाज के द्वारा निश्चित होता है अथवा यदि कवि उसमें कोई नवीनार्थ उत्पन्न करता है तो वह भी किसी न किसी अंश में समाज द्वारा स्वीकृत ही होता है।

2. सृजन–स्तर पर प्रतीकार्थ और उसकी संभावनायें प्रायः नियंत्रित रहती हैं।

3. प्रतीक विधान में जाने–अनजाने एक तार्किक संगति अवश्य होती क्योंकि वह किसी न किसी सूक्ष्म और गूढ़ एकता का बोध कराता है।

4. साहित्य की सम्प्रेषणीयता के लिए यह अत्यावश्यक है कि यथार्थ के अनुभवों के माध्यम से ही प्रतीक व्यक्त हों तथा अपने पीछे एक संभावित बौद्धिक या भावात्मक तर्क रखते हों।

5. ऐसे प्रतीक जो व्यक्तिगत हों, को काव्य में उसी सीमा तक ग्रहण करने योग्य समझा जाना चाहिए जिस सीमा तक वे भाषा के व्याकरण को स्वीकार करते हों।

वास्तव में प्रतीक की आत्मस्थिति को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता हमेशा बनी रहेगी। प्रतीक के द्वारा ही अचेतन मन की इच्छायें, कुण्ठायें तथा दमित वासनायें छद्म रूप में अभिव्यक्त होती हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसी अभिव्यक्ति में व्यर्थ, तितर–बितर अनर्गलबातें ही रहती हैं बल्कि उसमें तो विश्लेषण से निश्चितधारणाओं तथा विचारों का भी ज्ञान होता है। इनका संबंध मनुय की वैयक्तिक परिस्थितियों से होता है। ये आसंग मुक्त न होकर संवेग संदर्भ से संश्लिष्ट होते हैं।

जहाँ तक प्रतीकों के वर्गीकरण का प्रश्न है तो इसको गुण, अर्थ, विषय या स्रोत के आधार पर विभाजित करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक युग में प्रत्येक क्षेत्र में प्रतीकों का चयन होने के कारण विषय या स्रोत पर आधारित प्रतीक ही अधिक वैज्ञानिक हैं। इसलिए विषयाधार पर प्रतीकों का वर्गीकरण अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। स्थूल रूप से प्रतीक के दो भेद किये जा सकते हैं ––

1. परम्परागत प्रतीक –

वे प्रतीक, जो हैं तो पुराने लेकिन अर्थ की दृष्टि से नवीन हैं।

2. **नव्य प्रतीक –**

नवीन प्रतीकों में स्वच्छन्द प्रतीक या प्रकृति, विज्ञान, दर्शन आदि जैसे नये क्षेत्रों से नव्य प्रतीकों को निम्नलिखित वर्गों में रखा गया है ––

(क) **सांस्कृतिक प्रतीक** – पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा धार्मिक प्रतीक।

(ख) **प्राकृतिक प्रतीक** – (अ) लौकिक अभिव्यक्ति के द्योतक
(ब) आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के द्योतक

(ग) **वैज्ञानिक प्रतीक**

(घ) **मौन प्रतीक**

वास्तव में प्रतीकों के वर्गीकरण तथा उनके स्वरूपों को संख्यात्मक रूप में निश्चित एवं निर्धारित नहीं किया जा सकता।

मिथक –

"मिथक" शब्द **"मिथ"** से निर्मित हुआ है। इसका आशय पुराख्यान से है। पुराख्यान का संबंध धार्मिक अनुष्ठानों से है। मिथक के संबंध में शम्भुनाथ लिखते हैं कि – "आदिम समाज में भाषा और मिथक अलग नहीं थे, क्योंकि उस काल की सामाजिक वास्तविकता का स्वरूप समग्रत: मिथकीय था। अपने जीवन की कठोर भौतिक परिस्थितियों से घिरे मुनष्यों ने क्षुधा और काम की जरूरतों को पूरा करने के मार्ग में अपने आसपास के संसार एवं अपनी मानवीय प्रकृति को पहचानने और अपनी वैचारिक आस्था की रचना करने की चेष्टा की गयी। औरत से संबंध स्थापित करने और श्रम करने की सामाजिक प्रक्रिया में उसने अपनी चेष्टाओं को शब्दों में परिभाषित भी किया था। जिसके उपलब्ध स्वरूप को आज हम मिथक के नाम से जानते हैं। आदिम समाज के मिथक भी

श्रम और संवेदना के उत्पादन हैं। अतीत के ज्ञान–विज्ञान को आज हम मिथक कहते हैं।"[1]

मिथकों की रचना–प्रक्रिया गहरे सामाजिक विश्वासों से सम्बद्ध रहती है। यही कारण है कि मिथकों में संरचना के साथ–साथ सामाजिक अन्तर्वस्तु भी सन्निहित रहती है। इसकी संरचना परिवर्तनशील होती है। उसके भीतर निरन्तर कुछ न कुछ जुड़ता व निकलता रहता है। मनुष्य ने जब से कुछ कहना सीखा है, चाहे वह काव्यात्मक शब्द हो या कोई कथा तब से मिथक के माध्यम से सामाजिक यथार्थ के नये–नये सांकेतिक या प्रतीकात्मक रूप व्यक्त हो रहे हैं। मिथक का अर्थ उस कथ्य में निहित है जिसे वह व्यक्त करने को उत्सुक रहता है। मिथक को मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व का सामाजिक कथ्य मानना चाहिए।[2] डॉ0 अवधेश्वर अरुण के अनुसार – "इसमें संदेह नहीं कि मिथक मानव जाति के सामुहिक अनुभवों का दूसरा नाम है। मानव–चेतना मिथकीय चेतना से विकसित होकर यथार्थवादी चेतना में परिणत होती है। इसका आधार आस्था और इससे भी अधिक हकात् आस्था है। यह आस्था ही मिथक को यथार्थ और पुनीत रूप प्रदान करती है। मिथक ऐतिहासिक स्थिति का अतिक्रमण करती है। फलतः मिथकीय काल चिरन्तन या महाकाल हो जाता है जहाँ न तो क्रम है न परिवर्तन और न ही गति।"[3]

मिथकों का विकास भी समाज के विकास के साथ–साथ हुआ है। ये भारतीय मिथक धार्मिक रूढ़ियाँ हैं। बाल्मीकि के राम से लेकर निराला के राम तक की यात्रा के बीच राम के ऐसे अनेक स्वरूप

---

1. मिथक और आधुनिक कविता – पृ0 – 10
2. वही, पृ0 – 3.
3. हिन्दी का नया साहित्यशास्त्र, डॉ0 अवधेश्वर अरुण, पृ0 –39–40

परिलक्षित हो जायेंगे जो परस्पर विरोधी भी होंगे। आशय यह है कि राम के मिथक व्यक्तित्व में जो भारतीय गत्यात्मक दृष्टि है वह सिद्ध प्रतीक के माध्यम से सभी कवियों को अपनी वैयक्तिक कवि दृष्टि विकसित करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करती है। राम के सदृश ही कितने ऐसे मिथक चरित्र भी भारतीय धर्म संस्कृति में उपलब्ध हैं जो मानव-व्यक्तित्व के सम्पूर्ण जीवन को समेटे हुए है तथा अपने विविध आदर्श चरित्र के माध्यम से मानव-जीवन के पग-पग का पथ-प्रदर्शक बना हुआ है। यही कारण है कि इन भारतीय मिथकों का प्रयोग प्रत्येक स्थिति में समयातीत बोधक होता है, चाहे वह मिथक के रूप में प्रयुक्त हो या प्रतीक के रूप में। रामायण में रामकथा से संबंधित घटनाएँ सामयिक हैं, फिर भी राम प्रतीक हो गये हैं। इसीलिए रामकथा से संबंधित अन्य अनेक प्रसंग जैसे - वनवास, सेतुबन्ध, अग्निपरीक्षा, आदि भी राम के प्रतीक हो जाने के कारण प्रतीक बन गये हैं। कुछ समयोपरान्त इन प्रतीकों का संबंध केवल उस रचना, कथा, संदर्भ तथा चरित्र तक ही सीमित नहीं रहता अपितु ये प्रतीक ही जीवन के मूल्य या मिथक बन जाते हैं। मिथ में कथाँश अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। बिना कथा के मिथ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में वह वर्णन या प्रतीक मात्र बनकर रह जायेगा।

मिथों के द्वारा ही सृष्टि के आदि मानव की कहानी ज्ञात हो सकती है। इसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। मिथ और प्रतीक का संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण है। वहाँ कथा, पात्र एवं पदार्थ सभी प्रतीक का कार्य करते हैं। मिथ को आद्य प्रतीकों का समूह कहा जा सकता है।[1] इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ0 अवधेश्वर अरुण आगे

---

1. हिन्दी का नया साहित्यशास्त्र, डॉ0 अवधेश्वर अरुण, पृ0 - 40

लिखते हैं कि "मिथ में प्रतीक की सत्ता रहती है। अनेक प्रतीकों के योग से ही मिथ की रचना हो सकती है। एक प्रतीक मिथ की रचना करने में सक्षम नहीं है। अगर मिथ मानव जाति की आदिम इच्छा आकांक्षाओं का रूप है तो प्रतीक में भी आदिम मानव की भाव प्रतिमाओं की अभिव्यक्ति होती है। हाँ प्रतीक में कलात्मक मूल्य अधिक रहता है। जबकि मिथ में धर्म की तरह आस्था की प्रधानता रहती है। किन्तु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि ऐलिगिरी की तरह ही मिथ में भी कथा की श्रृंखला प्रतीक की कड़ियों से ही अस्तित्व पाती है।"[1] मिथक और प्रतीक के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना अत्यंत दुरूह कार्य है। सामान्यतः धार्मिक प्रतीक मिथ्यातंत्र के अंतर्गत अनुरक्त प्रतीत होते हैं। आदिम मानव आश्चर्य और कौतुहल से आपूरित था। मानसिक द्वन्द को उस साधनहीनता के चरण में बड़े ही विस्मयकारी आकारों में व्यक्त किया जाता था। बौद्धिक विचारण की अपेक्षा चित्रात्मक विचारण अधिक प्राचीन है। इससे स्पष्ट होता है कि मिथक आदिम चित्र भाषा है जिसका प्रयोग परवर्ती साहित्य में भी मिलता है। चेतन और अचेतन दोनों ही प्रतीक के निर्माण में सहायक होते हैं, जबकि मिथक सदैव मन के अचेतन अंश से स्फुरित होता है जो भाव और भाषा की स्वीकृति व्यवस्था को दर्शाता है। पौराणिक आख्यानों से पूर्व की परिकथाएँ मिथकों में ही विरचित हैं। मिथकीय प्रयोग एक ऐसी गहन प्रक्रिया है जो सामूहिकता का सहज बोध कराती है न कि वैयक्तिकता का। उसके पीछे कलाकार के अचेतन मन की ऊर्जा अन्तर्स्फूरित प्रचण्ड प्रेरणा होती है।

मिथक एवं प्रतीक में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मिथकीय प्रतीकों के महत्व को समझना आवश्यक है। काव्य–रचना प्रक्रिया का सम्पूर्ण व्यापार दृष्टि पर ही आधारित होता है न कि काव्य–प्रज्ञा की दृष्टि पर

1. हिन्दी का नया साहित्यशास्त्र, डॉ0 अवधेश्वर अरुण, पृ0 –40

प्रज्ञा–दृष्टि साधनात्मक दृष्टि है। इसमें किसी भी पक्ष के "स्व" का साज तक नहीं होता। यहाँ तक की मानवीय "स्व" ही प्रज्ञा का पुरस्कर्ता भी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानदीय "स्व" ही सृष्टि के समस्त जड़ एवं चेतन के कार्य व्यापार का संग्राहक केन्द्र बिन्दु होता है। किन्तु वह स्वयं मानवीकरण की प्रक्रिया सदृश "स्व" का प्रक्षेपण नहीं कर पाता। वह पुरस्कर्ता जब प्रभात्मकता की एक स्थिति पर पहुँच जाता है तो स्वयं सृष्टिपूर्ण हो जाता है। सृष्टि, दृष्टि तथा प्रज्ञा व स्व की जो विवेचना उपरोक्त पंक्तियों में की गयी है उसका उद्देश्य ही यही है कि केवल प्रभात्मकता के द्वारा ही मानवीय सत्ता का आकाश और धरती के बीच ऐसा सृजनात्मक आवागमन संभव है। इसी कारण इस पृथ्वी का ध्रुव नाम का एक अबोध एवं अनाथ बालक शाश्वत नक्षत्र बनकर चिरकाल के लिए आकाश में केन्द्रित हो जाता है। रोहिणी, वृहस्पति, शुक्र आदि सभी इस अमरशील सृष्टि में यथोचित स्थान प्राप्त किए हैं। आकाश में जाकर काल सापेक्ष पृथ्वी की सृष्टि काल निरपेक्ष शाश्वतता ग्रहण कर लेती है। इससे यही प्रतीत होता है कि मिथक प्रतीकों अथवा मिथक परिवार में प्रतीकों का प्रयोग काव्य की सहजता, रहस्यात्मकता तथा शाश्वतता के लिए आवश्यक है। ऐसा काव्य, काव्य प्रभा द्वारा सांसारिकता तथा भौतिकता से ऊपर उठकर आध्यात्मिक धरातल पर जीवनात्मक दर्शन के रूप में ही संभव होता है। जहाँ काव्य शिल्प में कविचेतना की क्रियाशीलता विद्यमान रहने के कारण अन्य उपकरणों का दायित्व अभिव्यक्ति की सीमा में एक माध्यम बनता है वही मिथक शुद्ध एवं विश्वसनीयत्व में जातीय चेतना के सहारे प्रतिनिधित्व प्रदान कर रचना व्यंजनों को प्राणयुक्त बना देता है। समग्रता की सीमा कवि के प्रयोग प्रकार तथा पाठक की ज्ञानानुभूति के धरातल पर अवस्थित होने के कारण यद्यपि मिथक प्रतीक का प्रयोग अपने आप समग्रता का दावा नहीं

करता फिर भी अर्थ, संकेत तथा भावोद्‌बोध की शक्ति द्वारा वह संदर्भ से कहीं अधिक व्यापक अर्थवत्ता को अभिव्यक्त करता है।

कवि के पारदर्शक होने के बावजूद भी इस दर्शन में जीवन के किंचितांश प्रकाशित नहीं हो पाते। इसीलिए कवि इन अप्रकाशित सत्यों को प्रकाशित करने के लिए भाषा का प्रयोग स्वीकार करता है। कभी–कभी ऐसा भी देखने को मिलता है कि भाषा प्रयोग के माध्यम से कवि जिस प्रतीक योजना से सहजानुभूतियों को उद्‌दीप्त करने का कार्य करता है उससे बार–बार प्रतीक–योजना की रचना–प्रक्रिया द्वारा एक अपूर्व के रूप में नवीन बोधक नयी रहस्यानुभूति निर्मित हो जाती है। इसलिए रहस्यानुभूति की व्यंजना में प्रतीक–योजना समानार्थक गोपनीयता की सृष्टि भी करता है। आध्यात्मिक धरातल से संबंधित भावचित्र प्रस्तुत करने वाले प्रतीक व्यंजना प्रक्रिया के तत्वांश से युक्त होते हैं तथा वे भी मिथक परिवार से ही संबंधित होते हैं। कारण यह है कि एक प्रकार से काव्यात्मक दृष्टि धार्मिक दृष्टि ही होती है। प्राचीन काल से ही काव्य समाज एवं धर्म के मध्य सेतु का कार्य करता आ रहा है और इस सेतु का निर्माण मिथक तथा उसके समानधर्मी प्रतीकों के माध्यम से होता है न कि काव्य शिल्प के अन्य उपकरण से।

भारतीय दर्शन में काव्य–निर्माण को साधनामूलक कर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। क्योंकि, आध्यात्मिकता, रहस्यात्मकता तथा दिव्यता मिथकीय प्रतीक–प्रयोग के सहजाधार बन जाते हैं जो सात्विक विश्वासों एवं संकल्पों का सृष्टा से लेकर पाठक तक के मानस पटल पर जागृति पैदा करते हैं। परन्तु मिथकीय प्रयोग के संदर्भ में विश्वासों तथा संकल्पों की यह अवधारणा मात्र भारतीय दर्शन तक ही सीमित नहीं है। इन मिथकीय प्रतीकों को जो सभी–भाषाओं के काव्य में प्रयुक्त होते हैं, को शुद्धतया व्यापक वर्ग के अंतगर्त रख सकते हैं जो अपने भावों

की व्यंजना करने के साथ–साथ अनेक धर्मों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। इनमें प्रभाव साम्य पाया जाता है।

मिथकीय प्रतीक धार्मिक भी दृष्टिगोचर होते हैं। ये धार्मिक प्रतीक वैयक्तिक नहीं हो सकते। वह सार्वभौमिक सत्य, आस्था- तथा सार्वभौम सौन्दर्य के प्रसंगों से युक्त होता है। यथार्थ बिम्बों और प्रतीकों पर आधारित स्वाभाविक भाषा अपना विकास मानवीय विश्वासों और क्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में करती है। लोक प्रचलित एवं धर्म निरपेक्ष तत्वों से समन्वित भाषा किसी एक समुदाय की नहीं होती और उसमें सामूहिक जनता के सामाजिक अभिप्रायों की अभिव्यक्ति होती है। मिथक उन अभिप्रायों के सामाजिक रूप को व्यक्त करते हैं।[1] यही कारण है कि मानव मनपर मिथकीय प्रतीकों का गहरा तथा स्थायी प्रभाव पड़ता है। बल्कि हम कह सकते हैं कि मनुष्य के पास इस उपाय मार्ग के सिवाय कोई दूसरा मार्ग नहीं है। धर्म को जीवन के मूल्यों, सत्यों व रहस्यों को समझने के लिए मानव जीवन का प्रभावोत्पादक परिणाम इसके तत्व को, भाव–कल्पना का प्रकाशयुक्त रंग मिलने पर तथा प्रभावपूर्ण प्रतिमानों का सृजन होने पर ही प्राप्त होता है। मानसिक अनुभूतियों के प्रदर्शन के लिए धार्मिक प्रतीक प्रभावोत्पादक तथा मोहक सिद्ध होते हैं जबकि मिथकीय प्रतीक धार्मिक प्रतीकों की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं।

(ड.) काव्यभाषा के भारतीय तत्व –

रीति –

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में अलंकार की महत्ता

---

1. मिथक और आधुनिक कविता, शंभुनाथ, पृ0 – 72

का विस्तृत विवेचन किया, फिर भी इससे काव्यात्मा की स्पष्ट व्याख्या न हो सकी। इनके मत विवादास्पद ही बने रहे। रीति सम्प्रदाय की स्थापना इसी मत की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई। वामन इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने "रीतिरात्मा का व्यस्य"[1] कहकर अलंकारियों का विरोध किया। "रीति" की चर्चा यद्यपि आचार्य वामन से पूर्व भामह, दण्डी तथा कुछ सीमा तक आचार्य भरत भी कर चुके थे। लेकिन ये लोग रीति का स्पष्ट व्यवहार तथा लक्षण प्रस्तुत करने में असफल रहे। इसलिए आचार्य वामन ही रीति सम्प्रदाय के आदि संस्थापक माने गये। अपने ग्रंथ "काव्यालंकारसूत्र" में रीति को लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है -- विशिष्टपदरचनारीतिः। विशेषो गुणात्मा।"[2] अर्थात विशिष्ट पद रचना ही रीति है तथा पद रचना में विशिष्टता गुणों के कारण आती है। गुण काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं।[3] मुख्य रूप से काव्य शब्द का अर्थ उस शब्दार्था से है जो ओजादि गुणों तथा यमकोपमादि अलंकारों से सुशोभित हो, लेकिन गौण रूप से इसका अर्थ शब्दार्थ का द्योतक वाक्य है। रीति (शब्दार्थ) काव्य की आत्मा है।[4] वामन के मतानुसार सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य तीनों रीतियों में उसी प्रकार समाहित हो जाता है जैसे रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है।[5] कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी पद रचना गुणों से विशिष्ट होकर ही रीति कहलाती है। चूँकि वामन का कहना है कि ओजादि दस गुण शब्दगत और अर्थगत दोनों होते हैं इसलिए रीति का अभिप्राय मात्र शब्दगत सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है अपितु वह अर्थगत सौन्दर्य भी है।

---

1 काव्यालंकार सूत्र, आचार्य वामन, 1/2/6

2 काव्यालंकार सूत्र, आचार्य वामन, 1/2/7 तथा 1/2/8

3 "काव्यशोभायाः कर्तारा धर्मा गुणाः" काव्यालंकार सूत्र, 3/1/1

4 "रीतिरात्माकाव्यस्य", काव्यालंकारसूत्र, 1/2/6

5 "एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव थित्रं प्रतिष्ठितमिति।" – काव्यसूत्रवृत्ति – 1/2/13

वामन की विशिष्ट पद रचना रीति को आनंदवर्द्धन ने "संघटन" (सम्यम घटना) नाम से अभिहित किया। पद रचना और घटना का ही पर्याय है। जबकि आचार्य कुन्तक ने "कविप्रत्यानहेतु"[1] कहकर रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है और स्पष्ट रूप में वह मार्ग जिस पर कवि प्रस्थान करे अर्थात् रचना–शैली। वास्तव में कवि स्वभाव पर आधारित कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा माध्यम ये तीन मार्ग रचना शैली से भिन्न नहीं है। भोजराज ने "रीति" शब्द की उत्पत्ति –

"वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ, गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरच्यते।।"[2]

यताकरप्रकारान्तर से इस शंका का समाधान कर दिया है कि रीति शब्दमार्ग, वर्त्म तथा पन्थ का पर्याय क्यों माना जाता है।

राजशेखर, कुन्तक तथा भोजराज आदि भाषाओं ने रीति और रस के संबंध पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, लेकिन आनंदवर्द्धन के अनुयायी ध्वनिवादी आचार्य मम्मट तथा रसवादी विश्वनाथ ने इस पर विशेष ध्यान दिया। मम्मट के अनुसार रस विषयक व्यापार ही वृत्ति या रीति है।[3] तथा विश्वनाथ के अनुसार रस, भाव आदि की उपकारिका ही रीति है।[4] विश्वनाथ ने आनंदवर्द्धन के 'संघटन" शब्द के अनुकरण पर ही रीति को "पद संघटन" कहा है।[5]

---

1. वक्रोक्तिजीवित, आचार्य कुन्तक, 1/24
2. "सरस्वतीकण्ठाअरणं – भोजराज, 2/27
3. "वृत्तिर्नियतवश्रीगतो रस विषयोव्यापारः।" काव्यप्रकाश, मम्मट 9 म उ0 पृ0 – 495
4. "xxx उपकर्त्ती रसादीनाम्।" साहित्य दपर्ण, विश्वनाथ 9/1
5. "पद संघटना रीतिः अंगसंस्थाविशेषवत्" साहित्यदर्पण, विश्वनाथ 9/1

जहाँ तक रीतियों की संख्या का प्रश्न है इस पर प्रायः विद्वानों में मतभेद है। भामह और दण्डी ने वैदर्भी और गौड़ी दो ही रीतियाँ मानी हैं जबकि वामन ने तीन। उन्होंने पांचाली नामक एक तीसरी रीति को उल्लिखित किया है। रुद्रट और राजशेखर लाटी नामक एक चौथी रीति भी स्वीकार करते हैं। लेकिन वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियाँ ही सर्वमान्य हैं।

वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वामन इसे समग्रगुणा मानते हैं।[1] इसके स्वरूप का निरूपण करते हुए दण्डी ने लिखा है कि ---

श्लेषः प्रसादः समता, माधुर्य सुकुमारता
अर्थव्यक्तिरुदारत्व मोजः कान्ति समाथयः।
हाति वेदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।।"[2]

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि वैदर्भी शैली के प्राणभूत दस गुण हैं।

गौड़ी रीति ओज और कांति गुणों से युक्त होती है।[3] इसमें समास बहुलता तथा उद्भव पदों की योजना पाई जाती है।

पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है।[4] लाटी रीति वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति को कहते हैं।

---

1. "समग्रगुणा वैदर्भी, काव्यालंकारसूत्र, दामन 1/2/11
2. काव्यादर्श, दण्डी, 1/41/42
3. "ओजः कान्तिमयी गौड़ीया", काव्यालंकार, सूत्र, वामन 1/2/12
4. "माधुर्यसोकुमार्योपपन्ना पांचाली", वहीं, 1/2/13

उपरोक्त तीनों रीतियों में वैदर्भी सर्वाधिक ग्राह्य है क्योंकि यह समस्त गुणों से युक्त होती है। शेष दोनों अर्थात् गौड़ी और पांचाली अल्पगुण वाली होने के उतनी ग्राह्य नहीं हैं।[1]

वृत्तियों और रीतियों में परस्पर साम्य के कारण मम्मट आदि आचार्यों ने दोनों में कोई अंतर नहीं माना है। जबकि कुछ आचार्यों ने इसे भिन्न-भिन्न माना है। इनके अनुसार रीति के अन्तर्गत संघटना और वर्ण योजना दो तत्व होते हैं। इनमें वृत्ति के अंतगर्त केवल वर्ण-योजना ही आती है। इसीलिए रीति का वृत्ति का पर्याय नहीं माना जा सकता काव्यशास्त्र में वृत्तियों के दो भेद किये गये हैं -- अर्थवृत्ति या नाट्यवृत्ति तथा काव्य वृत्ति या वर्ण-शब्द वृत्ति। अर्थवृत्तियों के अंतर्गत भारती, सात्वती कैशिकी तथा आरमटी और काव्यवृत्तियों के अतंगर्त उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियाँ आती हैं।

गुण -

गुण-दोष से युक्त इस विश्व में दोषों का बहिष्करण तथा गुणों का समादर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। प्रत्येक वस्तु में ये गुण बाह्य और आंतरिक दो रूपों में विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में बाह्य गुण शरीर पक्ष से तथा आन्तरिक गुण उसके आत्मपक्ष से संबंध रखते हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी शब्दगत और अर्थगत गुण होते हैं जो काव्य की शोभावृद्धि में सहायक होने के साथ-साथ उसे समादरित भी करते हैं। गुणहीन काव्य गुणहीन व्यक्ति की भाँति रसिक

---

1. "तासा'पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्" काव्यालंकारसूत्र-वामन 1/0/14
   न पुनरितरे स्तोकं गुणत्वात्" काव्यालंकारसूत्र-वामन 1/2/15

समाज में अप्रिय होता है। भारतीय काव्याघाघों – भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनंदवर्द्धन तथा मम्मट आदि ने गुणों पर व्यापकचर्चा की है।

वास्तव में गुण का स्वतंत्र लक्षण केवल वामन और आनंदवर्द्धन ने ही प्रस्तुत किया है। मम्मट और विश्वनाथ जहाँ आनंदवर्द्धन से प्रभावित हैं वहीं हेमचन्द्र मम्मट से। यद्यपि भरत और दण्डी ने वामन से पूर्व गुण का स्पष्ट लक्षण नहीं दिया, फिर भी गुण–स्वरूप पर उनके विचार तो सामने आ ही जाते हैं। भरत मुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" में श्लेष, प्रसाद आदि दस गुणों को काव्य का गुण स्वीकार करते हुए इन्हें दस दोषों से विपर्यस्त माना है।[1] जबकि दणी ने जहाँ एक ओर श्लेष प्रसादादि गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है।[2] वहीं दूसरी ओर स्वभावाख्यान, उपमादि अलंकारों को वैदर्भ और गौड़ दोनों भागों के साधारण अलंकार माना है। इतना ही नहीं उन्होंने गुणों को प्रकारान्तर से केवल वैदर्भ मार्ग के विशेष अलंकार बताया है।[3] उनके अनुसार गुण का स्वरूप वैदर्भ काव्य का शोभाकारक (अनिवार्य) धर्म हुआ। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जहाँ भरत ने गुणों को रसाश्रित निर्दिष्ट किया था वहीं दण्डी ने माधुर्य गुण का लक्षण मधुर रसवत् प्रस्तुत करके प्रकारान्तर से रस को ही गुणाश्रितमान लिया है। आचार्य वामन ने –– "काव्यशोभायः कर्त्तारोधर्मा गुणाः"[4] कहकर गुण का सर्वप्रथम स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भरत, दण्डी तथा वामन ये सभी इस बात पर सहमत हैं कि गुण काव्य के शोभाकारक हैं। वामन की स्पष्ट धारणा थी कि रीति गुणों के वैशिष्ट्य के कारण ही रीति

---

1. "एसे दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः।
   एत एव विषर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।।" नाट्यशास्त्र– 17/95
2. "एसे वैदर्भामार्गस्य प्राणाः स्मृताः।।" काव्यादर्श–दण्डी – 1/42
3. काव्यादर्श – दण्डी – 2/3
4. काव्यालंकार सूत्र – वामन – 3/11

कहलाती है अन्यथा नहीं – "विशेषों गुणात्मा।"[1] तात्पर्य यह है कि वामन-ने-जिस रीति को काव्यात्मा माना वह गुणाश्रित है।

जहाँ भरत, दण्डी तथा वामन गुण को काव्य का धर्म मानते आ रहे थे वहीं आनंदवर्द्धन ने सर्वप्रथम इसे रसाश्रित धर्म मानकर एक नयी दिशा प्रदान की। इसी मूल तत्प को मम्मट तथा विश्वनाथ ने भी अंगीकार कर लिया। आचार्य मम्मट ने गुण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है ––

"ये रसस्यार्गिनों धर्माः शोर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्मुरवलस्थितयों गुणाः।।"[2]

इस प्रकार गुण उसे कहते हैं जो रस के धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहते हैं और उसका उत्कर्ष करते हैं।

वर्तमान साहित्यशास्त्र में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद तीन ही गुण उल्लिखित हैं लेकिन प्राचीन संस्कृत साहित्य में गुणों की संख्या अधिक थी। भरत का "नाट्यशास्त्र" जो प्रथम शास्त्रीय ग्रंथ है, में गुणों की संख्या दस बतायी गयी है।[3] तथा अग्निपुराण में उन्नीस। दण्डी ने भी यद्यपि दस गुण ही माने हैं लेकिन उनका क्रम भिन्न है। इनके अतिरिक्त आचार्य वामन ने बीसगुण बताया है। जिसमें गुण शब्द के तथा दस अर्थ के हैं। जबकि भोजराज चौबीस गुण शब्द के तथा चौबीस ही अर्थ के मानते हैं। गुणों की संख्या के इस परिवर्तन का कुछ अन्य आचार्यों ने विरोध किया है। आचार्य भामह सभी गुणों का सन्निवेश ओज, माधुर्य और प्रसाद तीन गुणों में करते हैं। मम्मट भी इनके समर्थक हैं। इन्होंने वामन द्वारा उल्लिखित श्लेष, उदारता, प्रसाद तथा ओज को ओज गुण के अतंगर्त तथा अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण के अंतर्गत रखा

---

1. काव्यालंकार सूत्र – वामन – 1/2/8
2. काव्य प्रकाश–मम्मट – 8/66
3. "श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्य्ययोजः पदसोकुमार्य्यम्।
   अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यार्थगुणादशेते।।"–नाट्यशास्त्र–भरत 17–69

है। माधुर्य गुण को स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया है। मम्मट ने समता गुण को दोष रूप सिद्ध किया है। इतना ही नहीं उनके अनुसार कान्ति और सुकुमारता ग्राम्यत्व और क्लिष्टत्व दोषों का अभाव मात्र है। इनका यह भी कहना है कि कान्ति और सुकुमारता इन दोनों दोषों के अभाव में स्वतः ही स्थिर हो जाती है। इस प्रकार मम्मट ने गुणों की संख्या की तीव्र आलोचना करते हुए पुष्ट तर्कों के द्वारा माधुर्य ओज ओर प्रसाद इन तीन गुणों को स्वीकार किया जो प्रायः सर्वमान्य हें।

माधुर्य गुण से युक्त रचना अन्तःकरण को आनंद से द्रवित करने की क्षमता रखती है। आचार्य मम्मट के अनुसार यह क्षमता उस रचना में होती है जिसमें ट,ठ,ढ, ड को छोड़कर क से लेकर म तक के अक्षर ङ,ण, न, म से मुक्त ह्रस्व स्वर और ण, समासाभाव या अन्य समास के पद आदि की प्रतिष्ठा होती है।"[1]

ओज गुण चित्त को सफूर्ति से उत्तेजित करने की विशेषता से युक्त होता है। इसके लिए द्वित्व वर्णों, संयुक्तवर्णों र का संयोग ट, ठ, ड, ढ तथा समासधिक्य कठोर वर्गों की प्रचुरता आवश्यक होती है। भिखारीदास के अनुसार --

'उद्धत अक्षर जहँ परै स क टवर्ग मिलि जाय।
ताहि ओजगुण कहत हैं जे प्रवीन कवि रा।।"[2]

प्रसाद गुण की स्थिति वहाँ होती है जहाँ काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाये जो सुनते ही श्रोता के चित्त पर चढ़ जाये तथा समझ में आ जाय। इसकी स्थिति सब रसों तथा सभी रचनाओं में होती है।

---

1. काव्यप्रकाश, मम्मट, 8/68
2. काव्यनिर्णय, भिखारीदास, 19/8

यह माधुर्य तथा ओज गुणों की भाँति किसी रस विशेष के साथ सम्बद्ध नहीं रहता। इसका मुख्य संबंध रस के साथ ही होता है।

अलंकार –

"अलंकार" शब्द "अल" और "कार" दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है भूषित करने वाला। इस प्रकार अलंकार उसे कहते हैं जिस साधन से वस्तु अलंकृत हो जाय। वैयाकरणों ने **"अलंकरोतीत्यलंकारः"** तथा **"अलंक्रियतेऽनेनेत्यालंकारः"** कह कर दो रूपों अर्थात कर्ता और कारण में अलंकारों के महत्व को सिद्ध किया। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए कुछ विद्वान काव्यशास्त्र को **"अलंकारशास्त्र"** भी कहते हैं। काव्य और अलंकार में अन्योन्याश्रय संबंध है। इस संबंध में तो जयदेव का यहाँ तक कहना है कि –– "जो व्यक्ति अलंकारविहीन काव्य को काव्य कहता है वह अग्नि को ऊष्णतारहित क्यों नहीं स्वीकार कर लेता।"[1]

सामान्यतः अलंकार सौन्दर्य[2] का पर्याय है लेकिन कुछ विद्वान कला के समस्त बाह्य शोभा विधायक तत्व को अलंकार मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने तो अलंकारों को विशिष्ट अर्थ में भी विश्लेषित किया है तथा उसे काव्य शोभा परक धर्म के रूप में स्वीकार किया है ––

---

1. "अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
   असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती।" चन्द्रलोक – 18
2. "सौन्दर्यमलंकारः" – काव्यालंकारसू वृत्ति – आचार्य वामन – 1/1/2

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं मेगंगाद्वारेण जातुचित।
हारादिवलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।"[1]

काव्य में अलंकारों का प्रश्न उठाने से पहले यह समझना अत्यावश्यक है कि क्या काव्य भौतिक पदार्थ से भिन्न है? वास्तव में कलाकृति की सर्जना मात्र दैनिक उपयोग से ही संबंध नहीं रखतीं, बल्कि उसका सामान्य से परे विशिष्ट प्रभाव भी होता है। इसमें कवि की स्वानुभूति झलकती है। कवि स्वानुभूति की भव्यतर प्रस्तुति के लिए कल्पना का आश्रय लेकर सर्जना करता है जिसमें कला में चमत्कार–सृष्टि होती है। हिन्दी में रचना–प्रक्रिया में इसी कलागत वैशिष्ट्य को दृष्टिगत रखते हुए आचार्यों ने अलंकारों को परिभाषित एवं व्याख्यायित करने का प्रयास किया तथा उसके प्रभाव की भिन्न–भिन्न स्थितियाँ बताई। इस प्रकार काव्य में अलंकारों की स्थिति का प्रश्न विवादास्पद हो गया जिसे हम दो वर्गों में रख सकते हैं, पहला यह कि जो कला में अलंकार को ही सौन्दर्य मानते हैं तथा दूसरे वे जो अलंकारों को शोभावर्द्धक बताते हैं।

संस्कृत–नाट्यशास्त्र प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं, जिसमें आचार्य भरत ने अलंकार का प्रथम विवेचन करते हुए उसे भूषण के रूप में स्वीकार किया है जो धारण करने पर वस्तु का अलंकार करता है ---

"अलंकारेगुणेश्चेव बहूभिः समानंकृतम्।
भूषणेरिव विन्यस्तेंस्तद् भूषणमितिस्मृतम्।।"[2]

आचार्य भरत ने काव्य में रस को विशेष महत्व देते हुए मात्र चार अलंकारों दीपक, उपमा, यमक और रूपक का उल्लेख किया है। इनके "नाट्यशास्त्र" के उपरान्त अनेक आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय विवेचना

---

1. "काव्यप्रकाश" – आचार्य मम्मट – 8/67
2. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत

के अन्तर्गत अलंकारों के स्वरूप वैशिष्ट्य को सिद्ध करने का प्रयास किया जिससे काव्यारत्मा संबंधी विचार का श्रीगणेश हुआ। परिणामस्वरूप अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ। काव्य में आनन्द की परिकल्पना ही इस मान्यता का आधार था। दार्शनिक भावभूमि पर आनंद को ब्रह्मानंद सहोदर के रूप में सिद्ध किया गया जिसका भावक आत्मा को माना गया। इस परिकल्पना के पश्चात् अनेक आचार्यों द्वारा आनंदानुभूति के उपादान पर विचार व्यक्त किये गये, फलतः अलंकार, रस, ध्वनि, रीति तथा वक्रोक्ति आदि काव्य सिद्धात सामने आये। इन काव्य सिद्धाँतों के समर्थकों ने काव्य में अपने मत को आनंद का कारण तथा अन्य तत्वों को उपत्कारक मात्र सिद्ध किया। इस प्रकार अलंकार भी काव्य के एक विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप में सामने आया।

आचार्य भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठायक आचार्य थे। इन्होंने अपने काव्यालंकार में अलंकारों को विवेचना करते हुए लिखा है कि –

"रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्वहुयोतितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।।"[1]

इनका मन्तव्य था कि काव्य का सौन्दर्य अलंकारों के बिना उसी प्रकार नहीं बढ़ता जैसे आभूषण–रहित सौन्दर्याभिमंडित स्त्री का मुख। भामह की स्पष्ट धारणा थी कि काव्य के लिए शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों अपेक्षित हैं। क्योंकि सौन्दर्य शब्द बोधित अर्थ तथा अर्थबोधित शब्द दोनों में ही होता है। अलंकारवादी आचार्यों में दण्डी का भी नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने – "काव्यशोभाकरान् धर्मानुलंकारान् प्रचक्षते।"[2] कहकर

---

1. काव्यालंकार – आचार्य भामह 1/13–15
2. काव्यादर्श, दण्डी 2/1

अलंकार को परिभाषित किया। दण्डी ने भी रसादि को पृथक महत्व न देकर रसवत् आदि अलंकारों में रख दिया है। इस प्रकार भामह और दण्डी ने काव्य में अलंकार को ही श्रेष्ठ मानने वालों की परम्परा को गति प्रदान की।

भामह के समर्थक आचायं उद्भट ने अपने **"काव्यालंकारसार संग्रह"** ग्रंथ में भामह की पुर्न व्यवस्था प्रस्तुत की। इन्होंने दृष्टान्त, काव्यलिंग, पुनरुक्तवदाभाव की उद्भावना की। आचार्य रुद्रट अलंकार को पृथक मानकर अलंकार की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। उन्होंने कवियों में प्रथम कर्तव्य रस युक्तसर्जना के साथ–साथ अलंकारों के वैशिष्ट्य को भी सिद्ध किया। वे रसवादी होते हुए भी अलंकार के समर्थक थे। इनके अतिरिक्त जयदेव विद्याधर आदि ने भी अलंकारों का विशद्विवेचन किया है।

रीति और वक्रोक्तिवादी आचार्य भी अलंकारवादी आचार्यों के समानान्तर ही आते हैं। ये भी परोक्ष रूप से काव्य में अलंकारों के वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हैं। रीतिवादी आचार्य वामन ने रीति को काव्यात्मा मानने के साथ–साथ अलंकार को काव्य के नित्यधर्म गुणों के विकास में आवश्यक माना है। इनके अनुसार, **"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्"**[1] अथार्त् अलंकार के कारण ही काव्यग्राह्य होता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा रही है रसवादीआचार्यों की। इन आचार्यों ने रसको काव्यात्मा मानने के साथ–साथ अलंकारों को भी विवेचित किया है। इस दृष्टि से रसवादी आचार्य मम्मट सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने अलंकारों को काव्य का अनित्यधर्म तथा इसे रस का उपस्कारक सहायक तत्व मात्र माना है। उनके अनुसार ---

---

1. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, आचार्य वामन, 1/1/1

"उपकुर्वन्तु तं सन्तं येऽङ्गाद्वारेण जातुचित्।
हारादियलंकारान्तेऽनुप्रासोपमादय:।।"[1]

और अधिक स्पष्ट रूप में – "शब्द–अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादिक आत्मा हैं। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष, काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंगरचना के सदृश और उपमादिक अलंकार कटक, कुंडल आदि के तुल्य होते हैं।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं।

आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ ने भी मम्मट की भाँति अलंकारों को विश्लेषित किया। उनके अनुसार ––

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन:।
रसादीनुकुर्वन्तो लंकारास्तेअंगदादिवत्।।"[3]

जबकि पं० राजजगन्नाथ ने काव्यात्मा की व्यंजना में रमणीयता लाने में अलंकार को सहायक बताया है।

ध्वनिवादी विचारकों ने भी रसवादी आचार्यों की भाँति काव्य में अलंकारों का विवेचन किया है। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनंदवर्धन ने काव्य को दो भागों साध्य और प्रतीयमान में विभाजित किया है। उन्होंने उपमा आदि से पोषित अर्थ वाच्यार्थ तथा रमणी के शारीरिक अवयवों से भिद्य लावण्य तुल्य तरल भाव को प्रतीयमान कहा है। उनके अनुसार अलंकार प्रतीयमान अर्थ का अंग है ––––

---

2. साहित्यदर्पण, विमला टीका (प्रथम परिच्छेद)
1. काव्यप्रकाश, मम्मट, 8/67
3. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ 10/1

"प्रतीयमानं पुररुयदेव वस्त्वस्ति वागीषु महाकवीनाम्'
यत्तत प्रसिद्धावयवारिक्तं विभाति लावण्यमिवांगलासु।।"[1]

अलंकार और वक्रोक्ति में पर्याप्त समानता है। वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने अलंकारों को काव्य में भामह की भाँति प्रतिष्ठित किया। इनके अनुसार अलंकार काव्य के मुख्यांग होते हैं। काव्य में अलंकार को अनिवार्य मानने के साथ-साथ इन्होंने उसका पृथक विवेचन भी किया। इसे व्याख्यायित करते हुए कुन्तक ने कहा कि काव्य में शोभाकारक होने पर भी इनका अपना अलग वैशिष्ट्य होता है ---

"अलंकृतिरलंकार्ययपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्वं सालंकारस्य काव्यता।।"[2]

काव्य में अलंकारों के औचित्य को औचित्य सम्प्रदाय के समर्थक वेमेनद्र ने भी अंगीकार किया है। उनके अनुसार- "काव्यभारती के पीन स्तनों पर हार से सुसज्जित रमणी की भाँति अलंकार भी प्रयुक्त होते हैं।"[3]

संस्कृत की भाँति हिन्दी काव्यशास्त्र में भी अलंकारों का पर्याप्त विवेचन हुआ है लेकिन वह अधिकाँशतः संस्कृत काव्य परम्परा का अनुधावन मात्र बनकर रह गया है। इस प्रकार अलंकार कविता कामिनी के संभार बनकर उसकी अर्थवत्ता में चमत्कार की सृष्टि करते हैं।

---

1. ध्वन्यालोक - आनंदवर्धन, 1/4
2. वक्रोक्ति, कुन्तक 1/14
3. "अद्यौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते। पीनस्तनस्थितेनैव हारेण हरिणेक्षणा।।"क्षेमेन्द्र

वक्रोक्ति –

साहित्य में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म ध्वनि सिद्धान्त के दृढ़ स्थापन्न काल मे ही हो गया था। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिस्थापक आचार्य कुन्तक हैं। इनके समय में ही अधिकाँश आचार्यों ने आनंदवर्द्धन के ध्वनि सिद्धांत के महत्व को स्वीकार किया। आनंदवर्द्धन ने पूर्वाचार्यो द्वारा प्रस्थापित अलंकार, रस, रीति तथा औचित्यादि सम्प्रदायों को ध्वनि सम्प्रदाय में ही अन्तर्मुक्त करके उन सभी तत्वों को महत्वहीन कर दिया था। लेकिन आचार्य कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त का विरोध करते हुए "वक्रोचित:काव्यजीवितम्" की उद्घोषणा की। भारतीय साहित्य में "वक्रोक्ति" शब्द अत्यंत प्राचीन काल से ही प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य कुन्तक ने इसे व्यापक स्वरूप प्रदान कर एक पृथक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय लिया।

प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों में "वक्रोक्ति" शब्द का प्रयोग क्रीड़ा का परिहास के अर्थ में होता था। कादम्बरी तथा अमरुकशतक में वक्रोक्ति शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अलंकारवादी आचार्य भामह तथा दण्डी ने इसे साहित्यशास्त्र में प्रविष्ट कर विशद एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया। भामह की मान्यता है कि वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति का पर्याय है। उनके अनुसार वागवेदग्ध्य का एक रूप तो है ही सभी अलंकारों का मूल भी है ---

सैया सर्वत्र वक्रोक्तिनथार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनया विना।।"[1]

उन्होंने वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि – "लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्नोचित ही वक्रोक्ति है।"[2]

---

1. काव्यालंकार – भामह 2/85
2. "लोकातिक्रानतगोचरं वचनम्" भामह

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में वाड.मय को दो भागों – स्वभावोचित तथा वक्रोक्ति में विभाजित करते हुए वक्रोक्ति को स्पष्ट रूप में विवेचित करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि यह स्वभावोक्ति अलंकारों के अतिरिक्त अर्थालंकारों का सामूहिक रूप है न कि एक अलंकार विशेष। उनके अनुसार वक्रोक्ति में सौन्दर्य वृद्धि श्लेष के द्वारा ही होती है --

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।

द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिवक्रोक्श्चेति वाड.मयम्।।"[1]

आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार विशेष के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए स्वीकार किया है कि सादृश्य पर आश्रित लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हैं।[2] कुछ अलंकारवादी आचार्यों ने इसे एक अलंकार विशेष के रूप में ही मान्यता दी। रुद्रट, मम्मट, जयदेव आदि आचार्य इसे शब्दालंकार मानते हैं। अग्निपुराण भी इसे इसी रूप में स्वीकार करता है ---

"वक्राकित्स्तु भवेद्र्भगया काकुस्तेनकृता द्विधा।"[3]

कुन्तक का मन्तव्य है कि काव्य-सौन्दर्य की व्यंजना वक्रोक्ति द्वारा ही संभव है। इन्होंने भामह और आनंदवर्द्धन द्वारा निर्देशित वक्रोक्ति के स्वरूप को ग्रहण कर उसे काव्य का प्राण मानते हुए उसके स्वरूप और महत्व की विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार- "वाक्वैद्ग्घ्यपूर्ण विचित्र उक्ति ही वक्रोक्ति है।"[4] उन्होंने वैदग्ध्य भंगीभणिति को चमत्कार मूलक भी स्वीकार किया है। यह बात इस कथन से बिल्कुल स्पष्ट है -----

---

1. काव्यादर्श – दण्डी 2/362
2. सादृश्याश्रयात् लक्षणा वक्रोक्ति – वामन
3. अग्निपुराण – 342/33
4. "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीमणितिरुच्यते" वक्रोक्ति जीवित– कुन्तक 1/10

'लोकोत्तर चमत्कारकारि – वैचित्र्यसिद्धये।

काव्यत्यापमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।।"[1]

कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा में चमत्कारपूर्ण आनंद उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य वर्णन के लिए वक्रोक्ति में तीन बातें अनवार्य मानी हैं ---- कवि कौशल, या कवि प्रतिभा व्यापार चमत्कार तथा उक्ति।[2]

वक्रोक्तिवादी आचार्य यह मानते हैं कि शब्दार्थ के वैचित्र्य के बिना काव्य के उद्देश्यानंद का पूर्ण प्रसार संभव नहीं है। इसीलिए शब्द और अर्थ के वैचित्र्य को महत्व प्रदान करते हुए कुन्तक ने काव्य की परिभाषा में स्पष्ट किया है कि -- "कवि के वक्र व्यापार से युक्त काव्य कोविदों को अहलादित करने वाले व्यवस्थित रूप में नियोजित शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप ही काव्य है।"[3] वे अलंकार और वक्रोक्ति को शब्दार्थ के अलंकारण का साधन मानते हुए कहते हैं कि --- "शब्द और अर्थ दोनों अलंकार्य हैं और उन्हें अलंकृत करने वाली वैदग्ध्यर्भगीभणिति की वक्रोक्ति है।"[4] अभिनवगुप्त का विचार भी बहुत कुछ इसी से मेल खाता है। उनके अनुसार "शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णन रुपणावस्यानमिति अयमेवासो अलंकारस्यालंकारानतरभावः।"[5]

---

1. वक्रोक्तिजीवित – कुन्तक 1/2
2. "वैदग्ध्यं विदग्धभावः कवि कर्म कौशलं तस्यविच्छत्तिः तथा भणितिः विचित्रैव अभिघा वक्रोक्तिः। वक्रोक्तिजीतिव – कुन्तक – पृ0 – 22
3. "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनी।
   वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहलादकारिण।" वक्रोक्तिजीवित – 1/7
4. "उभावेतवलंकार्यो तयोः पुनरलंकृतिः।
   वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुपयते।" वक्रोक्तिजीवित – 1/10
5. लोचन, पृ0 – 208

कुन्तक ने कवि व्यापार में उपलब्ध वक्रोक्ति को छः प्रकारों में निबद्ध किया है -- वर्ण विन्यासवक्रता, पद-पूर्वाद्ध वक्रता, पद-पराध्र्वक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता।

वर्ण विन्यास वक्रता में व्यंजन वर्णों की सौन्दर्य संबंधी बातों को प्रस्तुत किया गया है। इसके अतंगर्त यमकानुप्रास को विवेचित किया गया है। पद-पूर्वाद्ध वक्रता में पद के पूर्वाद्ध में स्थित वक्रता का उल्लेख किया गया है। पर्याय, रूढ़ि, उपचार, विशेषण, संवृत्ति वृत्ति भाव, लिंग, क्रिया आदि की प्रयोगविधि इसके ही अंतगर्त आती है।

पद-पराद्ध वक्रता में प्रत्यय रहने के कारण इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। इनमे काल, कारण, संख्या आदि के प्रयोग पर चर्चा की गई है। वाकयवक्रता में मुख्य रूप से अलंकारों पर विचार किया गया है। इस संबंध में कुन्तक ने लिखा है ---

"वाक्यस्य वक्रता वाण्या भियते या सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गौ सौ सर्वोप्यन्तभैविष्यति।।"[1]

प्रकरण वक्रता में प्रबंध सौष्ठव के लिए प्रकरण की चारुता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। लालित्यपूर्ण एवं सरस प्रसंगों से प्रकरण में सौन्दर्य को समाविष्ट किया जाता है।

प्रबन्धवक्रता में सम्पूर्ण प्रबन्ध में वक्रता होती है। इसकी विस्तृत विवेचना संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध है।

ध्वनि -

ध्वनि पर विवेचन सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य में हुआ। अनेक

---

1. वक्रोक्तिजीवित - कुन्तक, 1/20

आचार्यों ने तमाम तर्कों के आधार पर साहित्य में ध्वनि का प्रस्थापन किया। काव्यात्मा के रूप में ध्वनि का विवेचन सर्वप्रथम किसने किया यह निश्चयतः अज्ञात है। लेकिन ध्वनि संबंधी विचारों को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य आनंदवर्द्धन को है। यह सिद्धांत इसके पूर्व भी प्रतिष्ठित था लेकिन आनंदवर्द्धन के समय सुप्त हो गया था। इन्होंने समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि सिद्धांत को प्रस्थापित किया। इस संबंध में उन्होंने स्वयं लिखा है --

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व
स्तस्याभावे जगदुरपरे भक्तमाहुस्तमन्ये
केचिद्वायां स्थितिमविषये तत्वमूचुस्तदीयं,
सेन कुमः सहूदययनः प्रीतये तत्स्वरुपम्।।"[1]

काव्य में ध्वनि की प्रतिष्ठा व्याकरण के स्फोटवाद से हुई है। पूर्ववर्ती वर्णों के अनुभव से युक्त संस्कार के आधार पर अंतिम वर्ग के अनुभव के माध्यम से अर्थाभिव्यक्ति ही स्फोट है। यह बताना कठिन हे कि क्रमोच्चरित वर्गों में अर्थ का वाचक पहला है या दूसरा या तीसरा। अंतिम अर्थ की अभिव्यक्ति तभी करता है जब पूर्वगामी वर्णों का क्रम विद्यमान हो। कारण यह है कि क्रमोच्चरित वर्ग उच्चारणोपरान्त नष्ट होते रहते हैं। समुच्चय को एक साथ नहीं उच्चरित किया जा सकता। इसलिए अर्थ का प्रस्फुटन अंतिम वर्ष के साथ पूर्वोच्चरित वर्णों वर्णों के संस्कार से होता है। इसी को स्फोट कहते हैं तथा स्फोट को प्रकट करने वाला वर्णों का उच्चारण ध्वनि कहलाता है।[2]

काव्य में सामान्य वाक्यार्थ से उसका मूलार्थ उसी प्रकार प्रकट नहीं हो सकता जिस प्रकार वर्णों का अलग-अलग उच्चारण करने से उसका अर्थ

---

1. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन।
2. स वर्ण व्यंजनद्वारा समर्थ व्यंज्येत्स्फुटम्। तथ्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकः परिभाष्यते।"
   - भाव प्रकाशन-6, पृ0-178

नहीं प्रकट होता। इस अर्थ को प्रतीति हमें व्यंजना के द्वारा ही होती है। व्यंग्यार्थ वैशिष्ट्य की स्थिति ध्वनि द्वारा ही संभव है। इस संबंध में ध्वन्यालोकलोचनकार ने लिखा है ---

"एवं घण्टानादस्थानीयः अनुरणनांत्योपलदितः व्यग्योऽप्यर्थः ध्वनिरिति व्यवकृतः।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घंटे पर बाँट करने से मधुर–मधुर झंकार टंकारोपरान्त निकलती रहती हैं उसी प्रकार सहृदय के मन से किसी उचितोपरान्त जो अर्थाभास होता है वह झंकार की ध्वनि सदृश ही है।

आनंदवर्द्धन ने ध्वनि शब्द का प्रयोग ऐसे काव्य के लिए किया है जिसमें व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता हो। उनके अनुसार -

"यत्रार्थ शब्दो या समर्थमुयसर्जनी कृत स्वार्थौं
व्यंग्यतः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।"[2]

मम्मट ने भी इनके विचारों का समर्थन किया।[3]

आनंदवर्द्धन ने ध्वनि सिद्धांत की स्थापना करके पहले से चली आ रही काव्यशास्त्रीय अर्थव्यस्था को समाप्त कर दिया। इससे रसानुभव की प्रक्रिया संबंधी एक जटिल समस्या को हल करने में मदद मिली। ध्वनि के द्वारा ही रस की स्थिति स्पष्ट और महत्वपूर्ण

---

1. ध्वन्यालोकलोचन, पृ0 – 47
2. ध्वन्यालोक – 1/13
3. "वाध्यातिशायिनी व्यंग्ये ध्वनिः तत्काव्यामुत्तमम्" काव्यप्रकाश

होती है। इसलिए ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले, सिद्धांत का प्रतिपादन करने के बावजूद आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने काव्य की आत्मा के रूप रस को ही स्वीकार करते हुए लिखा है ---

"काव्यस्यात्मा स स्वार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रोच द्वन्द्व वियोगात्यः शोकः श्लोकत्वमागतः"[1]

तथा

स एवेति, प्रतीयमान मात्रे पि प्रकानतं तृतीय एव रस ध्वनिरिति मन्तव्यम्
इतिहासबलात् प्रकानत वृत्ति ग्रंथ बलाच्च।xxx सामान्येनोक्तम्।"[2]

ध्वनि सिद्धांत के व्यापक विस्तार में रसध्वनि का महत्वपूर्ण स्थान है। आनंदवद्धन ने शेष दो ध्वनियां की अपेक्षा रसध्वनि को ही अधिक महत्व दिया है। यह बात उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाती है --

"व्यंग्यव्यंजकमावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यति।
रसादिमय एकस्मिन् कविः त्यादवधानवान्।।"[3]

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन ने शब्दार्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग का आदेश देते हुए रसध्वनि को ही मुख्य लक्ष्य बनाया है, ध्वनि के दो अन्य भेदों को नहीं–

वाध्यानाम् वाचकानाम् च कदौचिरेयेन योजनम्
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।"[4]

---

1. ध्वन्यालोक – पृ0 – 26
2. ध्वन्यालोकलोचन, अभिनवगुप्त
3. ध्वन्यालोक, आनंदवर्द्धन 5/5
4. वही, 3/32

वास्तव में वस्तु अलंकार और ध्वनि रस के सहायक के रूप में महत्वपूर्ण हैं।

आनंदवर्द्धन ध्वनि को उत्तम काव्य का सर्वस्व मानते हैं। ध्वनि–सिद्धांतशब्द शक्तियों पर आधारित है तथा वह व्यंजना को विशेष महत्व देता है। अर्थबोधक शब्द व्यापार को शब्दशक्ति कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं – अभिद्या, लक्षणा और व्यंजना।

शब्द शक्तियों में अभिद्या प्रधान शक्ति के रुप में मानी जाती है। किसी भी शब्द से संकेतित वाच्यार्थ ही अभिद्या का व्यापार है। संकेतित अर्थ का दूसरा नाम मुख्यार्थ या प्रतिद्धार्थ भी है -----

"साक्षात् संकेतितं योऽर्थभिधत्ते स वाचक:।

स मुख्योऽर्थस्सन मुख्यो व्यापारोऽस्याभिवोच्यते।।"[1]

रूढ़ि, योग शक्ति, योगरूढ़ि और यौगिक रूढ़ि। अभिधा के ये चार रूप होते हैं । मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजनवश जिस शक्ति के द्वारा मुख्य अर्थ से संबंध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं ---

"मुख्यायें आधे सद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्ता लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।।"[2]

अर्थात् लक्षणा में तीन बातें अनिवार्य होती हैं -- मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ से संबंध तथा रुढ़ि प्रयोजन।

अभिधा और लक्षणा शब्दशक्ति जब अपनें–अपने अर्थ का बोध करा कर विरत हो जाती हैं तब जिस शब्द शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध

---

1. काव्यप्रकाश, मम्मट, 2/7
2. काव्यप्रकाश 2/9

होता है उसे व्यंजना कहते हैं।[1] यह लक्षणा के प्रयोजन का बोध कराने वाली, वाच्यार्थ से संवेदनीय भवबोध कराने वाली, योगरूढ़ शब्द से रूढ़ वाच्यार्थ से भिन्न यौगिक अर्थ प्रत्यय कराने वाली, शब्द या अर्थ में वस्तु या अलंकार रूप देने वाली व्यापक शब्द शक्ति है। इसका व्यापार मुख्यतः अभिद्या और लक्षणा पर ही आश्रित रहता है।

शब्दशक्तियों में व्यंजना का व्यापार मुख्यतः अभिधा और लक्षणा पर आश्रित होने के कारण ध्वनि के दो भेद हुए -- अभिधमूला और लक्षणामूला। अभिधामूला भी दो प्रकार की होती है -- संलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य। रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के अंतगर्त तथा अलंकार और वस्तुध्वनियाँ संलक्ष्य क्रमव्यंग्य के अतंगर्त आती हैं। ऐसी ध्वनियों से युक्त काव्य ही प्रधान तथा उत्तम काव्य माना जाता है तथा दूसरा वह काव्य है जिसमें गुणीभूत व्यंग्य होता है। उसमें व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर गौण रहता है। तथा तीसरा चित्र काव्य का अवसर काव्य कहलाता है इसमें व्यंजना नहीं अपितु अन्य प्रकार का चमत्कार रहता है। यही ध्वनि सिद्धांत का मूल रूप है।

*

* *

*

---

1. "जहँ अभिधा अस लक्षणाअति कछु भिन्न प्रकार।
   होइ अर्थ को बोध तहं कवि व्यंजक व्यापारा।"

   कविकुलकल्पतरु, चिन्तामणि – 2/7

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

रीतिमुक्त कवि और उनका काव्य

(क) रीतियुग और रीतिमुक्त काव्यधारा –

किसी भी भाषा के साहित्य के निर्माण में उस युग की परिस्थितियों एवं वातावरण का विशेष योगदान रहता है, क्योंकि परिस्थितियों या वातावरण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला आदि के मूल्यों द्वारा निर्मित होती हैं। इसलिए उस युग को साहित्यिक गतिविधियों को यर्थाथ रूप में समझने के लिए तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों को जानना अत्यावश्यक हो जाता है। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल के सन्दर्भ में भी यही स्थिति महत्वपूर्ण है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग मुगल साम्राज्य की अवनति का आरम्भ और फिर उसके पूर्ण विनाश का युग है। शाहजहाँ के समय में मुगल साम्राज्य चरमोन्नति के शिखर पर था, देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था होने के कारण कला कौशल की बड़ी उन्नति हुई और प्रजा की आर्थिक दशा में भी काफी सुधार हुआ। किन्तु शाहजहाँ के शासन काल के अंतिम चरण में शासन व्यवस्था लचर हो गयी। उसका प्रमुख कारण था औरंगजेब। शासन की बागडोर संभालते ही कट्टरता व धार्मिक असहिष्णुता के कारण उसने जनता का विश्वास खो दिया। औरंगजेब की स्वेच्छाचारितापूर्ण संकीण एवं निरंकुश राजनीति के कारण ही जाट, सिख, राजपूत आदि अनेक उसके प्रबल शत्रु बन गये। उसको अधिकाँश शक्ति इन शत्रुओं से लड़ने में क्षीण हुई। सन् 1707 ई0 में

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। राजनीति की दृष्टि से इस काल को घोर निराशा और अंधकार का युग कहा जा सकता है। औरंगजेब की मृत्यु के बाद एक साथ साम्राज्य की शक्तियाँ छिन्न–भिन्न हो गयीं। औरंगजेब के प्रखर अहंवाद ने उसके सभी पुत्रों के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया। परिणाम यह हुआ कि उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतने वृहद राज्य को संभालने में समर्थ न हो सका और साम्राज्य का ह्रास बड़े वेग से प्रारम्भ हो गया।[1] मुगल सम्राटों की इस विघटित शक्ति का पूर्ण लाभ उठाया विदेशी व्यापारियों ने, खास तौर से अंग्रेजों ने। फल यह हुआ कि इन अंगेज व्यापारियों ने भीतर–भीतर शक्ति का अर्जन कर सन् 1803 ई0 तक लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य कर लिया। मूल सत्ता अंग्रेजों के हाथ में थी और मुगल सम्राट नाम मात्र के शासक बन कर रह गये। सन् 1857 में देश व्यापी राज्यक्रांति हुई लेकिन यह क्रांति भी विलासी मुगलों को प्रतिष्ठित करने में असफल सिद्ध हुई। सच्चे अर्थों में यह युग नैतिक पतन की पराकाष्ठा का युग है। डॉ0 भगीरथ मिश्र ने श्रृंगारपूर्ण रचना के पीछे उस समय की राजनैतिक स्थिति को ही जिम्मेदार ठहराया है। उनके अनुसार – "यही कारण है कि राजनीतिक उथल–पुथल और सत्ता एवं वैभव की क्षणभुगरता ने जीवन के दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता की। एक ने जीवन के प्रति पूर्ण विरक्ति और त्याग का भाव जाग्रत किया जबकि दूसरे ने पूर्ण भोग का दृष्टिकोण। जितना भी जीवन है उसका पूरा उपयोग किया जाए, क्योंकि न जाने कब नियति या सम्राट का कोपभाजन होने से वैभव और जीवन समाप्त हो जाये। अतः ऐहिक काव्य को इस प्रकार का विलास पूर्ण चित्रण

---

1. रीतिकाव्य की भूमिका – डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 5

के नाम पर मात्र विलासिता प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही प्रधान थी। देवी–रूप मानी जाने वाली स्त्रियाँ विलास और मनोरंजन की साधन बन गयी थीं। स्त्रियाँ भी अपने को पुरुषों की क्रीड़ा सामग्री समझ उनको लुभाने के लिए बनाव शृंगार में अपना समय बिताया करती थीं।[1] डॉ० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि –– "अमीरों और राजाओं के महलों में शृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरों में भी वेश्याओं का जमाव रहता था। मुगल सेना की सहायता के लिए कामदेव की भी वृहत् सेना चला करती थी। छोटे–छोटे अधिकारियों और रईसों के सामने भी यही आदर्श था और उनका भी सारा समय भोग विलास में ही व्यतीत होता था, जिसका विवरण देव और अन्य कवियों के अष्टयामों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।"[2] इसके अतिरिक्त अंधविश्वास तथा रूढ़ियाँ भी जन सामान्य में अपना आधिपत्य स्थापित कर चुकी थीं। ज्योतिष तथा शकुन आदि के प्रति लोगों का अटूट विश्वास था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से ज्योतिषी की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे।"[3] विजय–यात्रा के लिए प्रस्थान करते हुए या कोई नया कार्य करते हुए लोग शकुन का विचार करते थे।[4] विवेच्य युग में विलासिता के प्राधान्य के कारण जन–सामान्य में भक्ति की भावना प्रायः दब सी गयी थी क्योंकि विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है।"[5] समाज में बाल–विवाह तथा

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एवं हरेन्द्र प्रताप सिनहा पृ० – 4
2. रीतिकाव्य की भूमिका – डॉ० नगेन्द्र, पृ० – 12
3. भारतीय संस्कृति का विकास , लूनिया, पृ०– 374
4. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डॉ० सत्यकेतु, पृ० – 500
5. हिन्दी साहित्य, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० – 297

करने की प्रेरणा देने में राजनैतिक स्थिति का भी कम हाथ नहीं था।"[1]

सामाजिक दृष्टि से इस युग को विलास-प्रधान युग कहा जा सकता है। मुगलकाल का सामाजिक जीवन सामन्त पद्धति पर आधारित था जिसमें सम्राट शीर्ष पर था, जिसके बाद उच्च वर्ग के अन्तर्गत .राजा अधिकारी ओर सामन्त थे जिन्हें समाज में विशेष अधिकार और सम्मान प्राप्त थे।"[2] बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियंत्रित और विलासपूर्ण होता था, और अमीर उमरा लोग इस क्षेत्र में अपने मतलब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे।"[3] इनका अधिकाँश समय आमोद-प्रमोद में ही व्यतीत होता था। विलास सामग्री को एकत्र करना, शान-सौकत तथा ठाट-बाट के लिए ही ये अपने धन तथा साधनों का उपयोग कर रहे थे। उस समय उनकी विलासिता की भावना दुर्दम्य और अद्वितीय थी।[4] डॉ0 राम अवध द्विवेदी ने मुगल सम्राटों की विलासी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि --

The mogul rulers with the exception of Aurangzeb had been pleasure seekers and their harmes were crowded with mistresses who skent lavishly upon themselves and lived and extremely soft life."[5]

कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय अभिजात्य संस्कृति

---

1. हिन्दी रीति साहित्य, पृ0 - 6-7
2. Evolua'.ion of Indian Culture-B.N. Luniga,Page-4
3. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार पृ0 -498
4. मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास, ईश्वरी प्रसाद, पृ0 - 493
5. Hindi Literature - Dr. Ram Awadh Divedi-Page-84

बहु–विवाह की प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। सर्वत्र सुन्दर परिचारिकाओं की माँग प्रमुखता थी। श्रमिक–वर्ग अत्याचारों से व्यथित था, क्योंकि राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा विलासिता में खर्च हो जाता था। इनको तन ढकने के लिए कपड़ा भी कठिनता से प्राप्त होता था।[1] कई महामारियों के प्रकोप ने भी जनता को पीड़ित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यही कारण था कि कृषक–वर्ग अपनी आजीविका के लिए परेशान था। शासकों की तरफ से उपेक्षित रहने के कारण कला और व्यापार को भी गहरा आघात लगा। इस प्रकार इस युग में सभ्यता व संस्कृति का ह्रास तो हुआ ही साथ में महान आर्थिक संकट भी उत्पन्न हो गया था।

यह युग धार्मिक दृष्टि से भक्ति के पराभव का युग कहा जा सकता है। भक्ति की अत्यंत व्यापक एवं प्रबल लहर जो भक्तिकाल में प्रवाहमान थी वह अब शान्त, क्षीण एवं विकृत हो गयी थी। नैतिकता प्रायः समाप्तमप्राय थी तथा दिनों दिन बौद्धिक ह्रास हो रहा था। अतः ऐसी दशा में धर्म के किसी उदात्त रूप की आशा करना बिल्कुल असंगत था। विवेच्य युग में बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों आदि ने धर्म के रूप में अपना स्थान बना लिया था। इस संबंध में डॉ० नगेन्द्र ने प्रकाश डालते हुए लिखा है कि –– "ये लोग स्वभावतः अंधविश्वासी थे। इनकी भक्ति–भावना धर्म के बाह्यांगो तक ही सीमित थी। ये लोग व्रत–तीर्थ आदि में विश्वास करते थे। सन्तों और पीरों की सब प्रकार की अंध–परम्पराओं और रीतियों का पालन करते थे। जादू–टोने में भी इन्हें प्रगाढ़ विश्वास था। झुण्ड के झुण्ड स्त्री–पुरुष पीरों के तकियों पर अपनी मुरादें लिए पहुँचा करते थे और ये लोग जो अधिकाँश में रंगे हुए सियार होते थे, उनको पर्चीं,

---

1. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार पृ०– 499

ताबीज वगैरह देकर खूब लूटते और भ्रष्ट करते थे। मनुष्य–पूजा भी अपने विकृत रूप में वर्तमान थी। हिन्दू–मुसलमान दोंनों ही अपने गुरुओं और पीरों को ईश्वर का दर्जा देने लग गये थे।"[1] जन–जीवन की धारा से असम्यूक्त रहकर धर्म इस युग में रूढ़िवाद बन गया था। जीवन की शक्ति उसमें नहीं रह गयी थी। सम्पन्न हिन्दुओं में धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी, केवल धर्मभीरुता शेष थी। --- धर्म की आन्तरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गयी। बाह्य विलास और प्रसाधन बढ़ गये ओर विलासी लोग धर्म के इन्हीं शृंगारपरक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलासपूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वदा नष्ट–भ्रष्ट हो गया था।"[2] सूरदास आदि के द्वारा प्रतिपादित राधा और कृष्ण की सात्विकता मधुर भक्ति में सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूल ऐन्द्रियता ओर पवित्रता के स्थान पर लोलुपता और कामुकता की भावनाएँ आ गयीं। कृष्णभक्तों की रागात्मिका भक्ति के रहस्य को समझने की शक्ति न तो उस समय के कवियों में थी और न ही विकृत मस्तिष्क वाली जनता में। इन कवियों ने राधा और कृष्ण को माध्यम बनाकर कामुकता की अद्वितीय अभिव्यक्ति की। मंदिरों एवं मठों के पुजारी एवं महन्त भी दिव्य पूण्यार्जित करने के स्थान पर वासना के चंगुल में फँस गये। भारत में विदेशियों के आगमन तथा उन लोगों द्वारा यहाँ की राजनीति में सक्रिय होने के कारण धार्मिक भावना भी प्रवाहित हुए बिना नहीं रह सकी। इस युग में कोई विशेष धार्मिक सन्त भी नहीं हुआ जिससे धार्मिक क्षेत्र में कोई उपलब्धि होती। यही कारण था कि इस काल में उचित मार्गदर्शन के अभाव में धार्मिक भावना भी पत्नोन्मुख हो गयी।

---

1. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ0 – 18
2. वही, पृ0 – 17–18

विवेच्य युग साहित्य और कला की दृष्टि से पर्याप्त समृद्धशाली था। इस काल के कवियों को सम्राटों द्वारा पर्याप्त सम्मान मिलता था तथा इनकी गणना सम्मानित व गणमान्य व्यक्तियों में की जाती थी जबकि ये सामान्य वर्ग के नागरिक होते थे। इन कवियों ने अपनी कलाओं का समुचित विकास किया परन्तु इन्हें काव्य सृजन की पूर्ण स्वतंत्रता न मिल सकी क्योंकि इन्हें आश्रयदाताओं की अभिरुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। यही कारण रहा कि प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी चाह कर भी ये लोग अपनी प्रतिभा का उद्‌घाटन करने में असमर्थ थे। इतना होते हुए भी इस युग के साहित्य और कला का महत्वपूर्ण स्थान है।

चूँकि मुगल दरबार की भाषा फारसी थी, इसलिए इसकी अलंकार–प्रधान शैली से इस युग का साहित्य भी प्रभावित हुआ। इस प्रभाव से ब्रजभाषा भी अछूती नहीं रही। इस युग में अधिकतर राज्याश्रित कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं की प्रशत्तियाँ अतिरंजित शैली में लिखी जाती रहीं। इन कवियों की शृंगार प्रधान रचनाओं में इसी शैली की प्रमुखता है। परन्तु संयोगवश चमत्कारिक उपकरणों के लिए कवि फारसी को न अपना कर संस्कृत की ओर अधिक ध्यान दिया। इसका कारण यह था कि संस्कृत काव्यशास्त्र में बताये गये सौन्दर्योपकरण इनके लिए अधिक अनूकूल जान पड़ते थे। इनके इन्हीं चमत्कारिक प्रयोगों के कारण ही इसे **"रीतिकाल"** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

जहाँ तक कलाओं का प्रश्न है इस युग में स्थापत्यकला, की दृष्टि से इसे **"स्वर्णयुग"** मानते हुए डॉ0 शिवलाल जोशी ने लिखा है –– "इसका कारण यह है कि औरंगजेब को छोड़कर जिसकी धार्मिक भावनाएं कला के संरक्षण से मेल नहीं रखती थीं। सभी प्रारम्भिक मुगल सम्राट महान निर्माता थे। वस्तुतः मुगलों के शासनकाल

से ही भारतीय स्थापत्य कला अपने दिव्य नवीन क्षेत्र में पदार्पण करती है। मुगलकाल के स्थापत्य में ईरानी प्रभाव की अधिकता के कारण मुस्लिम स्थापत्य का सारत्व कम हो गया था। मुगल सम्राटों के अपूर्व वैभव और असीमित धनागार ने उनमें अत्यन्त मनोरम भवन–निर्माण, उपान तथा नगर निर्माण की शक्ति उत्पन्न कर दी थी।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि यह युग मुगलों के ऐश्वर्य के साथ–साथ कला–वैभव का भी युग था। कलाओं की जैसी प्रगति इस युग में हुई वैसी अन्य युगों में बहुत कम हो सकी है।

स्थापत्य कला की भाँति ही चित्रकला भी इस युग में काफी समृद्ध हुई। यह फारसी और भारतीय कला के संयोग से निर्मित है।"[2] गुण व परिणाम की दृष्टि से जहाँगीर का शासनकाल इस कला का "**स्वर्णयुग**" माना जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जहाँगीर के बाद इसकी समृद्धि में कोई कमी या ठहराव आ गया। अपितु जहाँगीर द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित इस कला रूपी वृक्ष को बाद के शासकों ने सिंचित करते हुए उसे मजबूती प्रदान करने एवं जीवित रखने का पूरा प्रयास किया। चूँकि विलासिता ही इस युग के शासकों की मुख्य अभिरुचि थी इसलिए चित्रकला की सजीवता एवं स्वाभाविकता में दिन–प्रतिदिन कमी आती गयी तथा वह वैभव, विलास व दरबारी दायरे में संकुचित होकर रह गयी। परिणामस्वरूप यह कला शनैः शनैः ह्रासोन्मुख होती चली गयी।

अन्य कलाओं की भाँति संगीतकला की दृष्टि से भी यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अधिकाँश मुगल सम्राट स्वयं संगीत–प्रेमी थे जिसमें बाबर, हुमायुँ, अकबर, शाहजहाँ आदि का नाम विशेष रूप

---

1. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, डॉ० शिवलाल जोशी पृ० – 177 – 178
2. रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृ० – 24

से उल्लिखित किया जा सकता है। इस युग में भारतीय संगीत के विकास में प्रभूत प्रगति हुई। प्रसिद्ध गायकों द्वारा रागों के नवीन रूपों प्रचलित किये गये। संस्कृत के संगीनशास्त्र के ग्रंथों का इस युग में फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क तथा विचारों के आदान-प्रदान से संगीतकला की अपूर्व प्रगति हुई और तराना, ठुमरी, गजल तथा कव्वाली आदि रागों का समारम्भ हुआ।"[1] इसके बावजूद विवेच्य युग में संगीत का व्यापक स्वरूप अलंकरण और विलासाधिक्य के प्रभाव के कारण शनैः शनैः संकुचित होता चला गया। जो संगीत कभी समाज के सभी वर्गों के जीवन का अनिवार्य अंग था वह अब केवल भोग विलास की वस्तु बनकर रह गया। परिणामस्वरूप संगीत कला अत्यन्त प्रभावित हुई। इसलिए "रीतियुग" में संगीत कला की स्थिति किसी प्रकार भी संतोषजनक नहीं कही जा सकती। कला के अन्य रूपों की भाँति यहाँ भी मौलिकता का सर्वथा अभाव मिलता है।[2]

अतः इस युग के इतिहासावलोकन से यह ज्ञात होता है कि रीतिकालीन साहित्य मुख्यतः समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्धित है। इन राजाओं व शासकों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण मात्र ऐहि और सामन्ती रह गया था बल्कि यह भी नहीं था, इसके स्थान पर केवल भोगवादी भावना ही रह गई थी। ये लोग भोग के सभी उपकरणों को विनोद के सभी रसालाओं को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे। जिनमें सुबाला सुराही और प्याला के साथ-साथ तानतुकताला और गुणी जनों का सरल काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी- यह केवल विनोद का रसाला ही नहीं था, एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे - उससे उनका

1. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-डॉ0 शिवलाल जोशी पृ0-193
2. रीतिकाव्य की भूमिका- डॉ0 नगेन्द्र - पृ0 - 28

व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।"[1] यही कारण है कि उस युग के एहिकतापरक श्रृंगारपूर्ण साहित्य में तत्कालीन उच्च वर्ग की ही मानसिक प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं। समृद्धशाली होने के कारण यही वर्ग कवियों व कलाकारों को आश्रय प्रदान करने में समर्थ था तथा वह ही काव्य-सजृन की प्रेरणा व प्रोत्साहन का केन्द्र बिन्दु था। आर्थिक संकट से त्रस्त कवियों का ऐसे आश्रयदाता राजाओं की ओर झुकना स्वाभाविक था। क्योंकि इससे उन्हें अर्थलाभ के साथ-साथ अपनी प्रतिभा को भी विकसित करने का सुअवसर मिलता था। आश्रयदाता कविता को अवकाश के क्षणों में मनोरंजन का साधन समझते थे। इसलिए कवि भी उनके मनोरंजन की दृष्टि से कामुकतापूर्ण तथा श्रृंगारिक रचनाएं करने को विवश थे। इस सम्बन्ध में डॉ0 शिवलाल जोशी के विचार उचित ही प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार -- "शासकों का जीवन जिस प्रकार विलासपूर्ण, नैतिक तथा आध्यात्मिक संचरण से शून्य और अनैतिक था उसी प्रकार उस युग का कवि भी अतिशय श्रृंगारिक सामग्री प्रस्तुत करता चला जा रहा था। जिनमें सत्कल्पना तथा हृदयगत भावुकता का सर्वथा अभाव था। राजाश्रित होने के कारण इस युग के कवि का एक मात्र कर्तव्य नारी के अंग-उपांगों के आकर्षक तथा उत्तेजनात्मक वर्णन तक ही सीमित रह गया था। इसके अतिरिक्त रीतियुग के कवि ने यह भी खोजने का प्रयत्न किया था कि किन-किन परिस्थितियों में नारी अपने आकर्षण द्वारा पुरुष में मानसिक उद्वेलन उत्पन्न कर सकती है।"[2]

रीतियुगीन कवि आश्रयदाताओं की अभिरुचि के अनुसार मनोरंजन के साथ-साथ अपनी रचनाओं को समृद्धशाली बनाने के लिए उसे कला-मंडित भी करते थे। यह तो कटु सत्य है कि काव्य में कलात्मक मर्म

---

1. रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 - 140
2. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, डॉ0 शिवलाल जोशी, पृ0 - 253

को समझने के लिए काव्यकला का समुचित मान अपरिहार्य है। रीतियुगीन कवियों ने प्राचीन साहित्य का विहंगावलोकन कर उसी के अनुरूप लिखने का प्रयास किया। इनका मुख्योद्देश्य संस्कृताचार्यों का अनुकरण करते हुए शास्त्रीय महत्व के साहित्य सृजन का था। यही कारण है कि इनकी कृतियों में काव्य एवं पांडित्य का अद्वितीय सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु दुर्भाग्य यह था कि इनकी रचनाओं का सही आंकलन व गुण–दोषों का विवेचन इस युग में न हो सका। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत साहित्य में काव्यांगों के विवेचन से संबंधित ग्रंथ थे लेकिन संस्कृताध्ययन और काव्यांगों के अनुशीलन के माध्यम से इन कवियों की रचनाओं का आकलन करने का समय उन आश्रयदाताओं के पास न था। यही कारण था कि इस युग के कवियों में "रीति निरुपण" की प्रवृत्ति ही अधिक एवं प्रधान थी। इन कवियों ने अनेक रीति–ग्रंथों की रचना भी की। परन्तु जिस प्रकार इन कवियों का काव्य सीमित तथा संकुचित परिधि के भीतर है उसी प्रकार इनका काव्यशास्त्रीय विवेचन भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण नहीं है। उनमें मौलिक विचारों तथा मान्यताओं के स्थापन की क्षमता न रही थी।"[1] रीतियुगीन कवि पूर्ण स्वच्छन्द भी नहीं थे। इनकी काव्यगत स्वच्छन्दता बाधित सी परिलक्षित होती है। इसीलिए इनकी कविताएं एकरसता प्रधान हो गयी हैं। सरसता के होते हुए भी सहजोद्रेक की कमी खटकती है क्योंकि कविताओं में प्रयुक्त उनके भाव मौलिक नहीं है। कामुकता व मादकता के कारण स्वरानुभूति भी बाधित हुई है। इस युग में अनेकानेक स्वाभाविक और काल्पनिक, सूक्ष्म और अलौकिक नवीन तथा मौलिक विचारों व भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। कलात्मक दृष्टि से काव्य के चरमोत्कर्ष को देखकर काव्यकला के किसी भी मर्मज्ञ का अप्रभावित रह पाना संभव न था। शायद इसीलिए इसे कलाकाल की संज्ञा से भी अभिहित किया गया। डॉ0 भगीरथ मिश्र रीतियुगीन

---

1. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि – डॉ0 शिवलाल जोशी पृ0 – 256

काव्य पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि -- "रीतिकाव्य वास्तव में यौवन का मादक, विलासपूर्ण काव्य है, फिर भी यह उस युग-काव्य की एक प्रमुख धारा है, इसके अतिरिक्त इस युग में भक्ति, नीति, लोक-व्यवहार और शास्त्र को लेकर भी काव्य रचना हुई है। रीतिकाव्य के बीच-बीच भी ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जो जीवन का अनुभव और आदर्श बताती हैं। अतः आधुनिक दृष्टि से सामाजिक प्रगति की प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी इसमें जीवनोपयोगी तथ्यों का अभाव नहीं है।"[1] रीतियुग में जहाँ यह देखने को मिलता है कि कवियों का एक वर्ग युगीन प्रवृत्तियों के अनुरूप रीति संबंधी ग्रंथों का निर्माण करता है वहीं एक वर्ग ऐसा भी था जो काव्य-शास्त्रीय नियमों से मुक्त रहकर काव्य-सृजन करता है। इन रीति-ग्रंथकारों को रीतिबद्ध तथा दूसरे वर्ग के कवियों को रीतिमुक्त कवि कहा गया। रीतिबद्ध कवियों में केशव, भूषण, देव, मतिराम, कुलपति मिश्र आदि तथा "स्वच्छन्द प्रवाह के प्रमुख कत्ताओं में रसखानि, आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभैये भी कई मिल सकते हैं।"[2] काव्य-विषय और शिल्प-विधान की दृष्टि से दोनों वर्गों के कवियों का धरातल भिन्न-भिन्न है। इनका काव्यात्मक दृष्टिकोणों परस्पर विरोधी बिन्दुओं को स्पर्श करता है। रीतिबद्ध कवियों ने अपने काव्य-सृजन का आधार शास्त्रीय परम्परा को बनाया। अर्थात इन कवियों का मुख्य लक्ष्य रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि की सीमा रेखा में आबद्ध होकर सिद्धान्त - निरूपण एवं काव्य - सृजन करना था। लक्षण ग्रंथों की रचना की परिसीमा में आबद्ध होने के कारण इन

---

1. हिन्दी रीति साहित्य, डॉ0 भगीरथ मिश्र, पृ0 - 13
2. हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) शृंगार काल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ0 - 654

कवियों ने अपनी प्रतिभा पर प्रश्नचिह्न लगाकर उसे कुंठित किया। जबकि दूसरी तरफ रीतिमुक्त कवियों ने परम्परागत मार्ग से अलग हटकर स्वच्छन्द होकर काव्य–सृजन करने का प्रयास किया। उत्तर मध्यकालीन स्वच्छन्द धारा का प्रतिपाद्य यद्यपि काव्य है और उसमें कोई संशय नहीं कि उन्होंने अपनी इस विशेषता को पूर्णतया प्रारम्भ से अन्त तक धारण कर रखा है, फिर भी उनकी कृतियों का अन्तः साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि उन्हें रीतिबद्ध उभय परम्पराश्रित कवियों की अपेक्षा रीति अर्थात् काव्यशास्त्रीय पक्ष का ज्ञान न था।"[1] स्वच्छन्द धारा का साक्ष्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था। पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया।"[2] इन कवियों ने काव्य को अनुभूति से प्रेरित माना। इसीलिए इनकी रचनाओं में भावों को प्रमुखता तथा भाषा को गौण स्थान मिला हुआ है। जहाँ एक तरफ रीतिबद्ध कवि केशव कविता–कामिनी को सुसज्जित करने के लिए अलंकारों पर जोर दे रहे थे वही रीतिमुक्त काव्यधारा के उत्कृष्ट कवि घनानन्द कविता को ही जीवन की आत्मा मान रहे थे ––– "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।" रीतियुक्त कवियों ने प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं का परित्याग कर भावों के उन्मुक्त क्षेत्र में विचरण किया है। अपने समय की प्रचलित लगभग सभी साहित्यिक मान्यताओं को इन कवियों ने नजरअन्दाज कर दिया है। यही कारण है कि यह काव्यधारा **"रीतिमुक्त या स्वच्छन्द"** काव्यधारा के नाम से प्रतिष्ठित हुई। सर्वप्रथम **"स्वच्छन्द"** शब्द का प्रयोग ब्रजनाथ ने किया था –––

"भाषा–प्रवीन सुछद सदा रहें सो घन जी के कवित्त बखानैं।"

---

1. रीतिकालीन काव्य सिद्धांत, डॉ0 सूर्यनारायण द्विवेदी – पृ0 –388
2. हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ0 – 652

यहाँ "सुछन्द रहैं" शब्द रीतिमुक्तता को घोषित करता है। अर्थात् स्वच्छन्द कवि वे हैं जो प्रदर्शनार्थ काव्य–रचना न करके स्व हृदय की अनुभूतियों को उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द रूप में अभिव्यक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि –– "स्वच्छन्द काव्य भाव भावित होता है, बुद्धिबोधित नहीं, इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आनतरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधन–सम्पत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहेंगे कि स्वच्छन्द वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है, उसी के सहारे उनकी कृति की छानबीन की जा सकती है।"[1] स्वच्छन्दता एवं उन्मुक्तता इन कवियों का स्वभाविक गुण था। वैयक्तिक जीवन और काव्य–सृजन में किसी भी तरह का व्यवधान इन्हें असहय था। काव्य–रचना के क्षेत्र में किसी अन्य द्वारा प्रदर्शित किये गये मार्ग पर चलना इनको कतई पसन्द नहीं था। इसीलिए अनुकरण करने वाले कवियों पर इन कवियों ने तीक्ष्ण कटाक्ष किया है –––

"सीरिव लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हो जस औ प्रताप को कहानी है।
सीख लीन्हौ कल्पवृक्ष, कामधेनु चिन्तामनि
सीख लीनो मेरु अरु कुवेर गिर आनो है।
"ठाकुर" कहत या की बड़ी है कठिन बात,
बाको नहीं भूलि कहूँ बाधियत बानो है।
डेल सो बनाय आम मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ0 – 652
2. ठाकुर ग्रंथावली, सं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द संख्या – 7

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों का प्रेम–व्यापार भी परस्पर विरोधी बिन्दुओं को स्पर्श करता है। रीतिबद्ध कवियों ने प्रेम को शास्त्रीय परिपाटी में आबद्ध कर सामाजिकता का निर्वाह किया है। इनका प्रेम कामिक है। इन कवियों ने अपना प्रेम–निवेदन सखी, दूती तथा सखादि के माध्यम से किया है। जबकि दूसरी तरफ रीतिमुक्त कवियों को किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं हुई। इनका प्रेम वैयक्तिक तथा उन्मुक्त है। चूँकि ये कवि अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी न किसी से प्रेमाहत अवश्य थे, इसलिए इनका प्रेम–चित्रण नितांत सहज तथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। उसमें बनावटीपन या दिखावे की प्रवृत्ति की तनिक भी स्थान नहीं है। रीतिमुक्त कवियों का प्रेम–मार्ग अत्यन्त जटिल है उस पर सामान्य व्यक्ति कतई नहीं चल सकता ––

> अति छीन मृनाल के सारहु से सेहि ऊपर पॉव दै आवनो है।
> सुई देह से द्वार सकीर्न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।
> कवि बोधा अनी धनी नेजहुँ से चढ़ि तापै न चित्त डरावनौ है।
> यह प्रेम को पंथ करात महा तलवार की धार पै धावनो है।"[1]

रीतिबद्ध कवियों में सामन्ती जीवन–दर्शन, विलासिता और भोगपरक दृष्टिकोणों की अतिशयता दृष्टिगोचर होती है। प्रवृत्तिगत दृष्टिकोणों की प्रमुखता के कारण पुरुष और नारी का परस्पर आकर्षण, संकोच, ललक, बाधा और मिलन का चित्रण ही इस काव्य की प्रमुख विशेषता बन गया है। संयोग, वियोग, अभिसार तथा प्रणयकेलि आदि का मनोहारी वर्णन इन कवियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सौन्दर्य की दृष्टि से कैशोर्य, यौवनागम, वयः सन्धि, रूप–सौन्दर्य तथा प्रणयासक्ति आदि का जैसा वर्णन रीतिबद्ध रचनाओं में मिलता है। वैसा अन्यत्र

---

1. बोधा ग्रन्थावली – सं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (इश्कनामा) छन्द–7

दुलर्भ है। संक्षेप में यदि रीतिबद्ध काव्य को सौन्दर्यान्वेषण कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जबकि दूसरी तरफ रीतिमुक्त कवियों ने बाह्य–सौन्दर्य को दरकिनार करते हुए आन्तरिक तथा मानसिक सौन्दर्य पर विशेष बल दिया है। स्वयं को ही केन्द्र बिन्दु बनाकर काव्य–रचना करना इनका ध्येय बन गया था। इसके लिए इन कवियों ने अपने अन्तस की अनेक परतों को खोलकर जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है। रीतिबद्ध कवियों का काव्य–धरातल सामाजिक पक्ष पर आधारित था जबकि रीतियुक्त कवियों का वैयक्तिता पर। एक का लक्ष्य राज दरबार के खजाने और चारुचिक्य को ध्यान में रखकर काव्य–रचना करना था जबकि दूसरे का एकान्त में सच्चे जीवन की खोज पर। स्वाभिमानी होने के कारण रीतिमुक्त कवियों के व्यक्तित्व में पूर्ण स्वच्छन्दता मिलती है। इसीलिए किसी भी राजा या शासक की चाकरी इन्हें कतई स्वीकार नहीं थी ---

हिल मिलि जानै तासों हिलि मिलि लीजै आप
हित कों न जाने ताकों हितू न बिसाहियै।
होम मगरूर तासों दूनी मगरूरी कीजै,
लघु हवै चलै जो तासों लघुता निबाहियै।
बोधा कवि नीति को निबेरो याही भाँति करौ,
आपको सराहै ताको आपहू सराहियै।
दाता कहा सूर कहा सुंदर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताकै बाय को न चाहियै।।"[1]

रीतिकाव्य और रीतिमुक्त काव्यधारा में अन्तर "रीति" शब्द के प्रत्ययों द्वारा ही स्पष्ट है। एक काव्यधारा एक सुनिश्चित तथा बँधी–बधाई परिपाटी पर चलती है जबकि दूसरी स्वच्छन्द या

---

1. बोधा ग्रंथावली, सं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (इश्कनामा) छन्द – 29

या उन्मुक्त प्रवृत्ति पर। दोनों काव्य धाराओं के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करते हुए डॉ0 सूर्यनारायण द्विवेदी लिखते हैं कि -- "हिन्दी के उत्तर मध्यकाल की उभयात्मक रीतिबद्ध परम्परा का प्रतिपाद्य सहृदय सुखाय था। उसमें आगे के कवि "जो रीति हैं तो कविताई" की भावना काम करती थी इसलिए दूसरों को प्रभावित करने के लिए ये काव्य-कला के द्वारा समर्थित समस्त भंगिमा-पक्ष को सविधि उपस्थापित करके अपनी कविता-कामिनी का श्रृंगार करते थे। पर ठीक इसके विपरीत काव्य की अनुभूति का प्रथम पक्ष स्वान्त:सुखाय हिन्दी की उत्तर मध्यकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रतिपाद्य था।"[1] स्वानुभूति पर विश्वास ही इन कवियों का प्रमुख गुण था। इनकी अनुभूति इन्द्रियजन्य न होकर हृदयजन्य थी। इनका काव्य भाव-बोधित है न कि बुद्धिबोधित। वैसे "प्रज्ञा का उपयोग निश्चय ही उत्तम गुण है पर काव्यात्मा तो हृदय की गहराई का स्पर्श तक कर पाता है, जब वह भावाभिव्यक्ति प्रधान हो। बुद्धि प्रधानता तो काव्य का नहीं शास्त्र का प्रतिपाद्य पक्ष है। इस रथ में उत्तम काव्य सम्पत्ति का प्रमुख गुण भाव-प्रवणता है जो अनुभूति के सहारे सहृदय-हृदय की गहराई तक पहुँचती है।"[2] इस देश में रीतिमुक्त कवि अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। भावों की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति जैसी इसके काव्य में दृष्टिगोचर होती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों में भावगत और कलागत वैभिन्य भी मिलता है। रीतिमुक्त कवियों ने जहाँ एक तरफ साहित्यिक परम्पराओं का विरोध किया वहीं दूसरी तरफ नैतिक मूल्यों के प्रति क्रांतिकारी दृष्टिकोण को भी अंगीकार किया है। यही दृष्टिकोण उसे रीतिकालीन अन्य कवियों से अलग श्रेणी में रख देता है। अपने काव्य

---

1. रीतिकालीन काव्य - सिद्धांत डॉ0 सूर्यनारायण द्विवेदी, पृ0 - 389
2. वही, पृ0 - 389

के प्रति सचेष्ट रहना इन कवियों की अपनी एक अलग पहचान है। इनका काव्य ही इनकी साधना एवं तपस्या तथा यहाँ तक कि सर्वस्व है। रीतिमुक्त काव्य में ऐसी सहजता, सरलता व स्वाभाविकता है कि उसे पढ़ने या सुनने से हृदय क अनेक परतें स्वतः खुलती जाती हैं और उसमें सहृदय एवं प्रबुद्ध पाठक या श्रोता आकंठ डूबता चला जाता है।

रीतिमुक्त कवि शैली के क्षेत्र में भी रीति–परम्परा से मुक्त रहे हैं। भाषा ओर शैली की इसी विशिष्टता के कारण रीतियुग में इन कवियों का अपना अलग अस्तित्व हे। इन कथ्य कलाकारों की साधना से निसूत शब्द अपनी सहज आला से किसी भी सहृदय को मंत्रमुग्ध करने में सक्षम हैं। शब्द–योजना, वर्ण–योजना, नाद–सौन्दर्य अर्थ–चमत्कार तथा उक्ति वैचित्रयादि का उत्कृष्ट प्रयोग इनकी रचनाओं की प्रमुख विशेषता हे। कला की दृष्टि से इन कवियों की कोई सानी नहीं है। **"ब्रजभाषा"** ही इनकी काव्य भाषा हे जो कृत्रिम न होकर अन्तः प्रेरित हे। रीतिमुक्त कवियों ने ब्रजभाषा का काव्य भाषा के रूप में नया संस्कार किया। दरबारी बंधन और विलासिता के पंक में आकण्ठ डूबी कविता को इन कवियों ने स्वच्छन्द कर प्रेम के स्वच्छ धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित करने के साथ–साथ कविता के परम्परागत भाषा–तंत्र को तोड़कर उसमें नवीन अभिव्यंजन क्षमता भरने का अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। इस प्रकार यह काव्यधारा अपनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों व अनन्यतम् विशिष्टताओं के कारण हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हे।

(ख) रीतिमुक्त कवि

हिन्दी साहित्य के उत्तर–मध्यकाल के कवियों को तीन वर्गों में रखा गया हे –– रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवि वे हैं जिन्होंने लक्षणों और उदाहरणों से मुक्त रचना की है अर्थात्

जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की। रीतिसिद्ध कवि वे हैं जिन्होंने न तो लक्षणों ओर उदाहरणों से युक्त रचना की ओर न ही उससे पूर्णतः मुक्त हो पाये। ये रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे। इन दोनों वर्गों के निर्धारण में प्रायः किसानों में मतभेद हैं। लेकिन तीसरे वर्ग अर्थात् रीतिमुक्त कवियों पर कोई मतभेद नहीं हे। रीतिमुक्त कवि वे हैं जो रीति परम्परा के साहित्यिक बन्धनों और रुढ़ियों से मुक्त हैं। इन्हें किसी भी तरह का बंधन स्वीकार नहीं था। ये स्वच्छन्द काव्य रचनाएं करते थे। कविता ही इनकी आत्मा है। उनका काव्य स्वतः अनुभूत था। इन कवियों ने अपने समय की प्रचलित साहित्यिक मान्यताओं को त्याग कर भावना के क्षेत्र में उन्मुक्त विचरण किया है। इस वर्ग के प्रमुख कवियों में "रसखानि, आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता हे। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभेये भी कई मिल सकते हें।"[1] इसके अतिरिक्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **"सेनापति"** को भी रीतिमुक्त कवियों की श्रेणी में रखा हे। इस प्रकार यदि सेनापति की रीतिमुक्त कवि माना जाये तो रीतियुग तो रीतियुग को विस्तार मिल जाता हे। वास्तव में सेनापति भक्तियुगीन कवि थे परन्तु उन्मुक्त किन्तु शृंगार प्रभावित रचनाओं के कारण उनकी काव्य चेतना की प्रकृति स्वछन्दतावादी है। इस दृष्टि से सेनापति के काव्य में ही रीतिमुक्त शब्द के बीज मिलते हैं। रीतिमुक्त कवियों का रचनाक्रम इस प्रकार है–

रीतिमुक्त काव्य और सेनापति :–

सेनापति के बारे में कुछ विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। उनके जीवन चरित्र के संबंध में जो कुछ भी सामग्री ज्ञात हैवह उनकी रचना के आधार पर ही है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कवित्व रत्नाकर में उन्होंने निम्नलिखित छन्द के माध्यम से अपना परिचय दिया है–

"दीक्षित परसराम, दादी है विदित नाम,
जिन कीने यश, जाकी जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर की समान जाकों,
गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है।
महा जानि मनि, विपादान हूं को चिंतामनि,
हीरामन दीक्षित तें पछिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दे सुनत कविताई है।"[1]

उपर्युक्त छन्द के आधार पर यही ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम गंगाधर तथा पितामह का नाम परशुराम दीक्षित या हीरामन दीक्षित के शिष्यत्व में इन्होंने विद्यार्जन किया था। "गंगा तीर वसति अनूप जिन पाई है" के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त हो जाती है कि किसी ने उनके पिता को अनूप शहर दिया था, जो बुलन्दशहर जिले में स्थित है। यद्यपि यह तर्क नितान्त असंगत एवं अपुष्ट है, फिर भी जब तक अन्य प्रमाण प्राप्त नहीं होते तब तक उन्हें अनूप शहर का निवासी मानने में कोई दोष नहीं है।"[2]

काल की दृष्टि से कुछ विद्वान इन्हें भक्तिकाल में तो कुछ रीतिकाल में रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सेनापति की भक्तिकाल की फुटकर रचनाओं में स्थान दिया है।"[3] जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें अपने साहित्य के इतिहास में रीतिमुक्त काव्यधारा में रखा है।[4] वास्तव में ये भक्तिकाल की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। ये पूर्णतः रीतिकालीन कवि थे।

---

1. कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग, छन्द–5 (सं0) पं0 उमाशंकर शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 359
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 – 206 – 210
4. हिन्दी साहित्य पृ0 – 342 – 343

सेनापति द्वारा विरचित दो ग्रंथ बताये जाते हैं --- **"कवित्त रत्नाकर"** और **"काव्य कल्पद्रुम"**। **"काव्यकल्पद्रुम"** अभी तक अनुपलब्ध होने के कारण संदिग्ध है। **"कवित्त रत्नाकर"** एक एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें पाँच तरंगे ओर तीन सौ चौरानबे छन्द हैं। इसमें कुछ छन्द ऐसे मिलते हैं जो कई तरंगों में समान हैं। इस प्रकार यदि पुनरावृत्ति वाले छन्दों को छोड़ दिया जाय तो **"कवित्त रत्नाकर"** में कुल तीन सौ चौरासी छन्द ही है। पहली तरंग में प्रारम्भ में कुछ छन्दों को छोड़कर शेष सभी शिलिष्ट है। इसमें 97 कवित्त हैं। दूसरी तरंग में 74 छन्द हैं जो शृंगार से सम्बिन्धत हैं। तीसरी तरंग में आठ कुंडलियाँ हैं तथा शेष कवित्त। इसमें ऋतु वर्णन से सम्बन्धित 62 छन्द हैं। चौथी तरंग में राम कथा से सम्बन्धित 76 छन्द तथा पाँचवी तरंग में भक्ति से सम्बन्धित 88 छन्द हैं। **"कवित्त रत्नाकर"** की पाँचवीं तरंग के इस दोहे –

संवत् सत्रह सो छः मे सेई सियापति पाइ
सेनापति कविता सजी, सज्जन सजो सहाइ।।"[1]

के अनुसार संनापति का रचनाकाल संवत् 1706 के लगभग है। इनका जन्म शायद विक्रम की 17वीं शताब्दी के द्वितीय चरण के अन्त के लगभग हुआ होगा तथा 18वीं शताब्दी के प्रथम चरण में इनकी मृत्यु हुई होगी।

"कवित्त रचनाकार" की दूसरी तरंग में शृंगार–वर्णन में सेनापति ने नख–शिख वर्णन, उद्दीपन भाव तथा वयः सन्धि आदि का मनोरम चित्रांकन किया है। इनका मुख्य प्रयास शब्द चमत्कार प्रदर्शन का है। भाव और गुण का विश्लेषण बहुत कम हुआ है, फिर भी कहीं–कहीं शृंगार के बड़े सुन्दर चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। सेनापति ने शृंगार–वर्णन के अन्तर्गत संयोग तथा वियोग का मार्मिक चित्रण किया है। वैसे उनका ध्यान संयोग की अपेक्षा वियोग की तरफ कुछ अधिक ही लगा है। इनके काव्य में विरही की विकलता का अत्युक्तिपूर्ण चित्रण काफी कम हुआ है। विरहजनित उद्दिग्नता का एक चित्र दृष्टव्य है–

---

1. **कवित्त रत्नाकार – पाँचवां तरंग छन्द – 86**

"जातें प्रान प्यारे परदेस को प्यारे तोतें,
विरह तें भई ऐसी सा तिय की गति है।
करि कर उचर कपोलहिं कमल–नेनी,
सेनापति अनमनी बेठिये रहति हैं।
कागहिं उड़ावे, काँहू काँहू करे सगुनोती,
कांहू बैठि अवधि के बासर गनति हैं।
पढ़ि–पढ़ि पाती, काहू फेरि पढ़ति है, काहू
प्रीतम को चिन में सरूप निरखति है।।"[1]

सेनापति अपने उत्कृष्ट ऋतु–वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा वर्णित ऋतु का सहज ओर यथार्थ रूप शब्द ओर अर्थ के चमत्कार से सुसज्जित है। प्रत्येक ऋतु में उठने वाले मानव–मन के सहज एवं स्वाभाविक भावों का यथार्थ चित्रण इनके ऋतु वर्णन की विशेषता है। इनके सर्वाधिक प्रसिद्ध छन्द ऋतु–वर्णन के ही हैं। यद्यपि इन्होंने सभी वस्तुओं का मनोहारी एवं सुन्दर वर्णन किया है लेकिन ग्रीष्म एवं वर्षा–ऋतु का वर्णन कुछ अधिक ही प्रभावशाली है। एक उदाहरण दृष्टव्य है–

"दूरि जटुराई सेनापति सुख दाई देखो,
आई रितु पाउस, न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की, सुनति धुनि धरकी हैं,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी तू
मेरी पान प्यारी यह पीतम की बतियाँ।
बीती ओधि आवन की, लाल मन भावन की,
द्रग भई बावन की, सावन की रतियाँ।।"[2]

सेनापति भक्ति–भावना से भी ओत–प्रोत थे। चोथी और पाँचवीं तरंगों में उन्होंने राम का चरित तथा राम भक्तिभावना का अद्वितीय

---

1. कवित्त रत्नाकर, दूसरी तरंग, छन्द, 69
2. कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग – छन्द – 28

वर्णन किया है। उनकी भक्ति भावना में हृदय की तल्लीनता तथा अनुभूति की सच्चाई है।

सेनापति अलंकारिक चमत्कार उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। उनका श्लेष-वर्णन तो अद्वितीय है। श्लेष के अतिरिक्त यमक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का भी सफल प्रयोग इनके काव्य में हुआ है। इन्हें ब्रजभाषा लिखने में दक्षता प्राप्त थी। ब्रजभाषा से इतना परिचित होने के कारण ही उन्हें श्लिष्ट काव्य लिखने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। उनके काव्य में उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। उनके छन्द सुनियोजित एवं निश्चित लय में आबद्ध है। उक्ति-वैचित्र्य एवं शब्द चमत्कार उनके काव्य की विशेषता है। उनके बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है --- "भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है।"[1] सेनापति की कविताएं उनके विलक्षण व्यक्तित्व, प्रतिभा और सूझ के कारण अपनी अलग पहचान रखती हैं।

घन आनन्द

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों में घन आनंद का नाम अग्रगण्य है। इनका जीवन-चरित इनकी कविताओं की भाँति अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय है। घन आनंद अपनी रचनाओं में अपने जन्म-स्थान के सन्दर्भ में कहीं भी कोई संकेत नहीं दिया है। इसलिए इनका जीवन चरित विवादग्रस्त रहा है। तमाम विद्वानों के साक्ष्य के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ये मुहम्मदशाह रंगीले के यहाँ मीरमुंशी थे। इनका जन्म काल संवत् 1446 है तथा इनका अधिकाँश जीवन ब्रज क्षेत्र में ही बीता। दरबारी वातावरण के षडयन्त्र के कारण घन आनंद मुहम्मदशाह रंगीले के कोपभाजन बने। इन्होंने बादशाह के दरबार में

रहने वाली **"सुजान"** नामक नर्तकी वेश्या से प्रेम किया था। गाने के लिए इन्होंने बादशाह की आज्ञा को ठुकरा दिया और प्रेयसी सुजान के कहने पर पीठ बादशाह की तरफ तथा मुँह सुजान की ओर करके गाया। घन आनंद के गीत से मंत्रमुग्ध होते हुए भी बादशाह ने उनकी इस बेअदबी से अप्रसन्न होकर उन्हें राज्य से निकाले जाने का आदेश दिया। चलते समय घन आनंद ने सुजान से भी साथ चलने का आग्रह किया परन्तु उसने परम्परागत धर्म को स्वीकार करते हुए साथ जाने से इन्कार कर दिया। सुजान के इस व्यवहार से घन आनंद को गहरा आघात लगा तथा परिणाम स्वरूप इनकी सम्पूर्ण जीवनधारा ही परिवर्तित हो गयी। इन्हें जीवन से पूर्ण विरक्ति हो गयी और वे वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये।

अब तक घन आनंद की 39 कृतियाँ ही ज्ञात हो सकी हैं। जिनमें सुजान हित, इश्कलता, वियोग बेलि और प्रेम पत्रिका आदि प्रमुख हैं। इनकी रचनाओं के दो रूप हैं --- लोकिक श्रृंगार परक तथा भक्तिपरक। लोकिक श्रृंगार परक रचनाएं प्रायः कवित्त व सवैयों में तथा भक्तिपरक दोहे और चोपाइयों में रचित हैं।

काव्य सौन्दर्य के साथ-साथ रचना विस्तार की दृष्टि से भी घन आनंद का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने अपने काव्य में अजु तथा वक्र दोनों प्रकार की काव्य शेलियों का प्रयोग किया है। कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण भावों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों में विविधता परिलक्षित होती है। इनके वर्ण्य विषय में विविधता व विस्तार नहीं मिलता। इनके भाव विशाद ओर नेराश्य से ओत-प्रोत हैं। घन आंनद के प्रेम की विषादमयी और निराशापूर्ण अनुभूति फारसी परम्परा के अनुकूल हे जबकि हिन्दी साहित्य की परम्परा के प्रतिकूल। रीति-मुक्त काव्यधारा के प्रायः सभी गुण इनकी शैली में मिल जाते हैं। घन आनंद ने हिन्दी

संस्कृत की विभाव प्रधान रचना-परम्परा से अलग हटकर एक अन्य मार्ग चुना है। उन्होंने भावों का सीधा एवं सरल वर्णन अधिक किया है। मन, प्राण नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ ही इनके भावों के आश्रय हैं। घन आनंद ने ज्ञानेन्द्रियों को भावों का आश्रय बनाकर उनका मानवीकरण कर दिया है। इनका सम्पूर्ण काव्य वस्तु पर कम तथा भावों की अन्तभूमि पर ही अधिक अवलम्बित है।

घन आनंद वियोग-व्यथा के हृदय-विदारक चित्र खींचने में सिद्धहस्त हैं। इनके काव्य में वियोग जन्य नाना प्रकार की मानसिक दशाओं की तरंगे उद्वेलित हो रही हैं। हृदय की घनीभूत पीड़ा इनके काव्य में देखी जा सकती है --

"तब तो छवि पीवत जीवत है, अब लोचन जात जरे।
हित-पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महा दुख-दोष-भरे।
घन आनंद प्यारे सुजान बिना सब ही सुख-साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत है अब आनि के बीच पहार परे।।"[1]

स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले रीतिमुक्त कवियों में घन आनेद के काव्य में एक-एक पंक्ति करुणा से अनुरंजित है। उनका एक-एक शब्द सात्विक प्रेम की आतुरता को व्यक्त करता है। विरह की जिस विदग्धता का परिचय हमें सूर की गोपियों के वियोग-वर्णन में मिलता है वही घन आनंद की विरह-व्यंजना में है।"[2]

विरही की विरह-व्यथा को उद्दीप्त करने में विभिन्न ऋतुओं का बहुत सहयोग होता है। संयोगावस्था में जो वस्तुएं सुखदायी होती हैं, वियोग के क्षणों में वही दुखदायी हो जाती हैं। घन आनंद ने अपनी विरह-व्यंजना के लिए प्राकृतिक उपादानों वर्षा, वसन्त, चाँदनी

---

1. घन आनंद कवित्त, प्रथम शतक, भाष्यकार चन्द्रशेखर मिश्र छन्द-13

2. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ0 जयकिशन प्रसाद, पृ0- 240

तथा शीतल वायु आदि का भरपूर उपयोग किया है। विरह-निवेदन की प्रक्रिया में प्रकृति-प्रदत्त कष्टों का उल्लेख करते हुए घनआनंद के कवित्त उनकी मनोव्यथा को प्रकट करने में कितने सक्षम रहे हैं? यह तथ्य उनके इस कवित्त से स्पष्ट हो जायेगा --

"कारी कूर कोकिला! कहाँ को बेर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबहिं करे जो किन कोरि लै।
पेड़े परे पापी ये कलापी निस धौस ज्यों ही,
चातक! चातक त्यों ही तू हू कानि फोरि लै।
आनन्द के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि के अकेली सब बेरो दल जोरि ले।
जो लो करे आवन विनोद-बरसावन वे,
तो तो रे उरारे बजमारे घन घोरि ले।।"[1]

घन आनंद के जीवन और काव्य की प्राण-शक्ति है प्रेम। इस प्रेम का आलम्बन चाहे कृष्ण हो या सुजान लेकिन यह प्रेम नितांत वेयक्तिक है। उन्होंने प्रेमानुभूतियों को अपना बनाकर प्रस्तुत किया है। कवि ने अपनी पीड़ा, अपना सुख-दुख तथा अपनी कथा-व्यथा का चित्रण किया है। घन आनंद के प्रेम में तन्मयता, तीव्रता, सूक्ष्मता तथा उच्चतम् मनोभूमियों का अपूर्ण चित्रण किया है। घन आनंद के अनुसार यह प्रेम-पथ अत्यन्त सरल भी है और कठिन भी। सच्चा प्रेमी निष्कपट भाव से अपने-पराये का अन्तर भूलकर इस मार्ग पर निश्चिन्त होकर चल सकता है --

"अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु समानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चले तजि आपुनपों, झझकें कपटी जे निसांक नहीं।

---

1. घन आनंद, कवित्त, प्रथम शतक, भाष्यकार चन्द्रशेखर मिश्र, छन्द- 84

घन आनंद प्यारे सुजान सुनो इत एक से दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन हों पाटी पढ़े हो लसा मन लेहु पे देहु हटाँक नहीं।[1]

इनकी प्रेम कथा व्यंजना की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि– "प्रेम–दशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का उद्घाटन जेसा इनमें है वेसा हिन्दी के अन्य शृंगारी कवि में नहीं।"[2]

घनआनंद प्रकृति–वर्णन में भी सिद्धहस्त थे। उनके काव्य में प्रकृति के प्रायः सभी रूपों का दर्शन मिलता हे परन्तु उद्दीपन रूप में इनका प्रकृति के प्रायः सभी रूपों का दर्शन मिलता है परन्तु उद्दीपन रूप में इनका प्रकृति चित्रण अत्यन्त व्यापक तथा अनुभूत्यात्मक है। अन्तः निरूपण के प्राधान्य के कारण घनआनंद का प्रकृति चित्रण सरस तथा मनोहारी हो गया है।

घनआनंद का काव्य भाषा, छन्द अलंकार व्यंजना, शक्ति तथा अप्रस्तुत विधान से परिपूर्ण है। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। उन्होंने ब्रजभाषा का परिमार्जन कर उसे रमणीय बनाने की चेष्टा की है। "भाषा पर जेसा अचूक अधिकार इनका था, वेसा ओर किसी कवि का नहीं। भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवसिनी हो गयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव–भंगी के साथ–साथ जिस रूप में चाहते थे।"[3] भाषा का लाक्षणिक ओर ध्वन्यात्मक शक्ति का जो वैभव घन आनंद के काव्य में मिलता है, वह रीतिकाव्य के अन्य कवियों में असम्भव है। लक्षणा मार्ग अपनाने के कारण इनके काव्य में मुहावरों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुए हैं क्योंकि, मुहावरे प्रायः लक्षणा के रूढ़ प्रयोग होते हैं। लक्षणों के प्रयोग के कारण घन आनंद की भाषा में

---

1. **घनआनंद, कवित्त, प्रथम शतक, भाष्यकार चन्द्रशेखर मिश्र** छन्छ–84

2. **हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 –338**

3. **हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0–339**

बिम्बात्मकता अधिक है। इस प्रकार घनआनंद काव्य सोन्दर्य के साथ-साथ भाषा की क्षमता को भी नया आयाम देने के कारण रीतिमुक्त काव्यधारा में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

आलम

रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रमुख कवि आलम जाति के ब्राह्मण थे। परन्तु **"शेख"** नामक रंगरेजिन के प्रेम में फँस कर उससे विवाह कर लिए ओर मुसलमान हो गये। आलम को रंगरेजिन **"शेख से जहान"** नामक पुत्र भी प्राप्त हुआ। आलम ओरंगजेब के दूसरे पुत्र मुअज्जम के आश्रित थे, जो बाद में बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बेठा।[1] इनकी कविताओं का एक मात्र संग्रह **"आलमकेलि"** मिलता है। इनका रचनाकाल सन् 1683 -1703 ई0 के मध्य माना जाता है।[2]

शेख रंगरेजिन भी अच्छी कवियित्री थी। आलम ओर शेख की कहानी भी बड़ी विचित्र है। वे पगड़ी बाँधने के शोकीन थे। कहा जाता है कि एक दिन उन्होंने अपनी पगड़ी रंगने को दी, जिसके एक कोने में भूलवश एक कागज का टुकड़ा बँधा चला गया जिसमें दोहे की एक अधूरी पंक्ति लिखी हुई थी - " कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन।" पगड़ी रँगते समय रंगरेजिन का ध्यान पगड़ी में बँधे उस कागज के टुकड़े पर गया कागज के टुकड़े में दोहे की अधूरी पंक्ति अधूरी देख उसने पूरा कर पगड़ी मे बाँधकर वापस कर दिया। उसके द्वारा रचित दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार थी - "कटि को कंचन काट विधि कुचन मध्य धरि दीन।" उसकीकवित्व-शक्ति से प्रभावित होकर आलम ने उससे विवाह कर लिया। **"आलमकेलि"** में बहुत से कवित्त **"शेख"** द्वारा ही रचित हैं। आलम के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में कोन वस्तुतः आलम की हैं और कोन शेख की, यह बताना असम्भव है। वस्तुतः दोनों ने मिलकर अपनी रचनायें की थी, जो आलम के नाम से प्रसिद्ध हैं।[3] यहाँ एक शंका यह भी व्यक्त

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0-339

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास -डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव हरजेन्द्र प्रताप सिन्हा पृ0-47

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एवं हरजेन्द्र प्रताप सिन्हा पृ0-47

की जाती है कि शेख स्त्री का नाम नहीं हो सकता है क्योंकि मुसलमानों में **शेख** नाम पुरुष व्यापी होता है। सम्भवतः रंगरेजिन के साथ विवाह करने पर इन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार लिया और अपना नाम **आलम** की जगह शेख रख लिया। यही कारण है कि इनकी कविताओं में कभी आलम तो कभी शेख नाम मिलता है।

आलम घनानन्द की भाँति पूर्ण स्वच्छन्द नहीं थे। वे कुछ रीति परम्पराओं में आबद्ध प्रतीत होते हैं फिर भी इन्हें रीतिबद्ध कवि माना नहीं जा सकता।[1] इनका काव्य भाव प्रधान है। कवि संयोग और वियोग दोनों ही परिस्थितियों में विषादमग्न रहता है। इनका वियोग–वर्णन घन आनन्द की ही भाँति हृदयस्पर्शी एवं आन्तरिक है। आलम का निम्नलिखित छन्द बहुत प्रसिद्ध है–.

"जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कांकरि बेठि चुन्यो करे।
जा रचना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित गुन्यो करे।
आलम चेन से कुांजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करे।
नेनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करे।।"[2]

प्रेम की उत्कृष्टता होने के कारण आलम के काव्य में गहन भावानुभूति है जिससे उनके छन्दों में मर्मस्पर्शिता का भाव स्वतः आ गया है। विरहिणी की विरह दशा को जागृत करने वाले प्राकृतिक उपादान उसके प्रिय के हृदय में विरह–दशा का संचार नहीं करते। विरहिणी इस घटना से बहुत दुखी है, इसी भाव को ध्यान में रखकर आलम द्वारा रचित प्रस्तुत कवित्त अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है ––

केथों मोर सोर तजि गये री अनत भाजि,
केथों उत दादुर न बोलत हैं ऐ दई।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 375

2. आलम केलि – सं0 लाला भगवानदीन वक्तव्य, पृ0 – 4

केंथों पिक चातक महीप काहू मारि डारे,

केंथों बकयोंति उत अंतगति हवे गई।

आलम कहत आली अजहूँ न आये प्यारे,

केंथों उस रीति विपरीत विधि ने ठई।

मदन महीप की दोहाई फिरिबे ते रही,

जूझि गये मेथ केथों दामिनी सती भई।।"[1]

प्रेमानुभूति की अभिव्यंजना आलम के काव्य की प्रमुख विशेषता है। इनका प्रेम आन्तरिक एवं नितांत वेयक्तिक है। वह संयोगावस्था में सुख तथा वियोगावस्था में सदा दुख प्रदान करता है। शाश्वत वियोग आलम के हृदय को मथता रहता है। ये अपनी प्रेयसी के व्यवहार से काफी दुखी है। वह इनकी तनिक भी परवाह न कर एक ही गाँव में रह कर इन्हें तरसाती रहती है। आलम ने अपनी प्रेयसी **"शेख"** के नींद से उठने पर उसके रूप–सोन्दर्य का अनुपम चित्र खींचा है ---

"रात के उनींदे अलसाते मदमाते राते,

अति कजरारे दृग तेरे यों सोहात हैं।

तीखी तीखी कोरनि करोरे लेत काढ़े जीउ,

केते भये घायल और केसे तलफात हैं।

ज्यों ज्यों ले सलिल चख धोवे बार–बार

त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।

केबर के भाले केथों नाहर नहन वाले,

लोटू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं।।"[2]

आलम की प्रेमानुभूति नितांत वेयक्तिक होने के कारण उनकी रचनाओं में मार्मिकता एवं सत्यता परिलक्षित होती है। उसमें

---

1. **आलमकेलि – सं0 लाला भगवानदीन, वक्तव्य, पृ0 – 4**

2. **आलमकेलि – सं0 लाला भगवानदीन, वक्तव्य, पृ0 – 4**

अभिलाषा की प्रमुखता के कारण ही प्रिय का सानिध्य पाकर भी प्रेमी तृप्त नहीं हो पाता। इन्हीं अभिलाषाओं के प्रभाव के कारण ही प्रिय के छोटे–छोटे क्रिया–कलाप व चेष्टाएँ प्रेमी के हृदय को विदीर्ण व व्यथित कर देती हैं। इनकी रचनाओं में हृदय–तत्व की प्रधानता है। **"प्रेम की पीर"** व **"इश्क का दर्द"** इनके एक वाक्य में भरा पाया जाता है।[2] मन की उलझन और व्यथा की अनेक ऐसी अन्तर्दशाएं आलम के काव्य में उद्घाटित हुई हैं जो अन्य कवियों में प्रायः दुर्लभ हैं। वेदना–प्रधान होने के कारण इनकी शैली मार्मिक एवं हृदय–स्पर्शी हैं तथा वह फारसी की "प्रेम–पद्धति" की ओर उन्मुख हुई प्रतीत होती है। उपमानों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं तथा उत्प्रेक्षा उनका सर्वप्रिय अलंकार है। उनके काव्य में सुसंगठित तथा परिष्कृत ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। भाषा में अवधी और फारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। भावों को वे पूरी तन्मयता व गंभीरता के साथ व्यक्त करने में निमग्न रहते हैं, इसीलिए शैली की अलंकारिकता के प्रति इन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है।

ठाकुर

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवि ठाकुर का जन्म संवत् 1823 में ओरछे (बुन्देलखण्ड) में हुआ था।[2] इनका पूरा नाम ठाकुर दास था तथा ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम गुलाबराय था। ठाकुर जसपुर नरेश के यहाँ राजकवि थे। इनका रचनाकाल संवत् 1850 से 1880 तक स्वीकार किया जाता है। इनकी मात्र दो रचनाएं उपलब्ध हैं --- **"ठाकुर ठसक"** और **"ठाकुर शतक"**। जिनमें से "शतक" के कुछ पद **"ठसक"** में भी आ गये हैं।[3] घनआनंद की भाँति

---

1. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 330**
2. **वही, पृ0 – 381**
3. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 376**

ठाकुर भी अपने काव्य-पथ में अत्यन्त सचेष्ट रहे हैं। ये मुख्यतः प्रेम के कवि हैं। स्वाभिमानी एवं खरे स्वभाव के होने के कारण उनमें प्रेम की दृढ़ता और निर्भीकता दृष्टिगोचर होती है। ठाकुर के अनुसार काव्य आत्मानुभूति से प्रेरित होता है। परम्परागत मान्यताओं के आधार पर काव्य-रचना करने वाले कवियों पर इन्होंने करारा व्यंग्य किया है। इन्होंने कविता को साधना एवं तपस्या माना है। इनके अनुसार कोई भी काव्य रचना केवल कवि-शिक्षा के बल पर नहीं हो सकती क्योंकि ऐसे काव्य में कृत्रिमता व सीमितता रहती है। ठाकुर ने ऐसे कवियों पर तीखा व्यंग्य किया है ---

"सीख लीन्हो मीन मृग खंजन कमल नेन
सीख लीन्हो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हौ कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि,
सीख लीन्हो मेर अरु कुबेर गिर आनो है।
ठाकुर कहत माकी बड़ी हे कठिन बात
बाको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
हेल सो बनाय आम मेलत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीनो खेल कर जानो है।।"[1]

ठाकुर अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों में ही सहज एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। इनके भाव नितांत वैयक्तिक होते हुए भी सार्वजनीन हैं। प्रत्येक मानव-हृदय में उनका स्पन्दन अवश्य होता है। अनुभूति के अनुकूल भावों का उठाय और फैलाव इनकी काव्यगत विशेषता है। कविवर ठाकुर ने विरह की असहनीय पीड़ा एवं एकान्तिक प्रेम का चित्रण बड़ी तन्मयता से किया है --

---

1. ठाकुर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द-7

बल्लीन में नैन हुई उझकें मनो खंजन प्रेम के जाले परे।
दिन ओधि के केसे गनों सजनी अंगुरीन के पौरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिये, निज प्रीति करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हें देख्वि के अब लाले परे।।"[1]

ठाकुर ने गोपियों एवं कृष्ण के स्नेह के माध्यम से प्रेम–वेषम्य का चित्रण किया हे। गोपियाँ कृष्ण के व्यवहार से दुखी हें। जिनके लिए गोपियों ने लोक लाज तथा कुल–मर्यादा आदि का परित्याग कर दिया वही कृष्ण उनकी ओर देखते तक नहीं। फिर भी वे कृष्ण–प्रेम में ही एक निष्ठता दर्शाती हें ---

"धिक कान जो दूसरी बात सुनें अब एक ही रंग रहो मिति जोरो।
दूसरो नाम कजात कढ़े रसना जो कहे तो हलाहल बोरो।
ठाकुर यों कहती ब्रजबास सु हयाँ बनितान को भाव हे मोरो।
ऊधव वे अँखियाँ जरि जाएँ जो साँवरो छाँढ़ि तकें तन गोरो।।"[2]

ठाकुर एक रसिक कवि थे। उन्हें जीवन की गहराई का विशेष ज्ञान था। वे प्रेम निरुपक कवि थे। इनकी प्रेमाभिव्यंजना में हृदय के सच्चे उद्‌गार दृष्टिगोचर होते हैं। इनका काव्य प्रेम की गहराई व स्वाभाविकता से आपूरित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – "ठाकुर प्रधानत: प्रेम निरुपक होने पर भी लोक व्यापार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इसी से प्रेम भाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के अतिरिक्त कभी तो ये अखती, फाग, बसंत, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों के उल्लास में मग्न दिखायी पड़ते हैं, कभी लोगों की छुद्रता, कुटिलता, टुशीलता आदि पर क्षोभ प्रकट करते पाये जाते हैं और कभी काल की गति पर खिन्न और उदास देखे जाते हैं।"[3] तीज त्योहारों का उल्लासमय

---

1. ठाकुर ग्रंथावली– छन्द – 160
2. ठाकुर ग्रन्थावली, छन्द – 41
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 – 383

रूप वर्जित होने के कारण इनका काव्य लोकधर्मी हो गया है। इनकी सम्पूर्ण काव्य-कला लोक रुचि की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है। यही कारण है कि ये रीति मार्ग से अलग हटकर बिल्कुल स्वच्छन्द एवं नवीन प्रतीत होते हैं।"[1]

ठाकुर की कविता भक्ति-भावना से भी ओत-प्रोत है। उन्हें ईश्वर में अटूट विश्वास था। यद्यपि इन्होंने लीला-वर्णन नहीं किया है फिर भी राम, कृष्ण आदि की सीमाओं से परे एक अलौकिक एवं विलक्षण शक्ति के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है।

ठाकुर ने ऋतु-वर्णन भी बड़े आकर्षक एवं सजीव ढंग से किया है। ठाकुर की वर्णन-शैली ऋतु-वर्णन के कवित्तों में इतनी प्रभावपूर्ण है कि सम्पूर्ण दृश्यनेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। यथा ---

"दोरि दोरि दमकि दमकि दुरि दामिनीयाँ
दुन्द देत दसहूँ दिसान दरसतु हैं।
धूमि धूमि धहरि घहरि घन घहरात,
घेरि घेरि घोर घनों सोर सरसतु हैं।
ठाकुर कत पिक पीकि पीकि पी को रटे
म्यारो परदेस पापी प्रान तरसतु हैं।
झूमि झूमि झुकि झुकि झमकि झमकि आली
रिमझिम झिमकि असाढ़ बरसतु हैं।।"[2]

रीतिकाल के कवि प्रायः अपनी अभिव्यक्ति को अलंकारिक चमत्कार प्रदान करने में निमग्न रहते थे। परिणामस्वरूप यह साहित्यिक

---

1. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 – 376**
2. **ठाकुर ग्रंथावली, छन्द– 114**

सीमा बन्धन भाषा को जीवन से अलग करने लगा। इसीलिए यह पद्धति धीरे-धीरे पत्नोन्मुख होने लगी, परन्तु ठाकुर ने प्रभावात्मकता व आकर्षण बनाये रखने के लिए तथा भावों को अत्यधिक व्यंजक बनाने के लिए अपने काव्य में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का सफल प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है --- "उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिए ये कहावतें मानों एक संचित वांग्मय हैं। लोकोक्तियों का जेसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया हे वेसा और किसी कवि ने नहीं।"[1] लोक जीवन के संस्पर्श अद्वितीय प्रेमाभिव्यंजना तथा सुरुचिपूर्ण चारुता के कारण इनका काव्य जन जीवन के अति निकट है। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वच्छन्द काव्यधारा में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

बोधा

इनका जन्म जिला बाँदा के राजापुर गाँव में हुआ था। इनका मूल नाम बुद्धिसेन था तथा जाति से ये सरयूपारीय ब्राह्मण थे। पन्ना नरेश के दरबार में इनका और इनके निकट सम्बन्धियों का विशेष सम्मान था। इनका रचना-काल संवत 1830 से 1860 तक माना जा सकता है।[1] बोधा अपनी कविताओं से रसिक जनों को भाव विभोर करने में निपुण थे। घन आनन्द की भाँति ये भी राज दरबार की **"सुजान"** नामक वेश्या के प्रेम जाल में आबद्ध हो गये थे। पन्ना नरेश को जब इसका पता लगा तो उन्होंने क्रोधित होकर बोधा को छः मास के लिए राज्य से निष्कासन का आदेश दे दिया। अपनी प्रेमिका से वियुक्त हुए बोधा का एक-एक क्षण कष्टमय तथा चिन्ताग्रस्त हो गया। प्रेमिका से विछोह के इन क्षणों में इन्होंने **"इश्कनामा"** और **"विरह वारीश"** नामक उत्कृष्ट काव्यों का प्रणयन किया। निष्कासन और बिछोह की समय-सीमा समाप्त होने के पश्चात् वे पुनः पन्ना नरेश के दरबार में पहुँचे तथा

---

1. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 – 383**
2. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 371**

"विरह–वारीश" के कुछ छन्द महाराज को सुनाये। इनके छन्दों को सुनकर वह इतना प्रसन्न हुआ कि बोधा से कुछ भी माँग लेने को कहा। बोध अति प्रसन्न हुआ। उन्होंने कहा -- **"सुभान अल्लाह"** महाराज प्रसन्न होकर सुभान को उन्हें वापस कर दिया।

"विरहवारीश" और **"इश्कनामा"** बोधा की दो मात्र कृतियाँ हें। "विरहवारीश" प्रेम–कथा पर आधारित काव्य–रचना है। जबकि "इश्कनामा" मुक्तकों का संग्रह है। रीतिमुक्त के अन्य कवियों की भाँति इनका भी वर्ण्य–विषय प्रेम ही है। इन्होंने अपनी प्रेयसी सुभान के चित्ताकर्षक तथा लालित्यपूर्ण मादक–सोन्दर्य का अनुपम तथा मार्मिक वर्णन किया है। इसमें बोधा का सुभान के प्रति अटूट एवं अगाध प्रेम परिलक्षित होता है। बोधा के काव्य में उनकी प्रेयसी के प्रति जो आकर्षण प्रकट हुआ है, वह सम्भवतः फारसी के प्रभाव के कारण कुछ–कुछ वासनामय हो गया है। बोधा प्रेम वर्णन में घनआनंद के अनुवर्ती अनुज जान पड़ते हें क्योकि दोनों ही प्रेम–रोगी थे। इसीलिए "प्रेमपीर" की जेसी तीव्रता, असहयता व पीड़ा घनआनंद के काव्य में मिलती है वेसी ही बोधा के भी काव्य में दृष्टिगोचर होती है। प्रेम से सम्बन्धित इनकी कविताओं का आन्तरिक पक्ष विशुद्ध भारतीय है, भले ही इनका प्रेम फारसी से प्रभावित है। उनकी प्रेम की पीर पूर्णतः भावात्मक है। एक उदाहरण देखिये --

"रितु पावत स्याम घटा उनई लखि के मन धीर घिरातो नहीं।
पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनिके धुनि चित्त थिरातो नहीं।
जब से बिछुरे कवि बोधा हितू सब से उरदाह सिरातो नहीं
हम कोन तो पीर कहें अपनी दिसदार तो कोऊ दिखातो नहीं।।"[1]

"प्रेम के पीर" की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्मस्पर्शिनी

---

1. **बोधा ग्रंथावली, पृ0–6, छन्द सं0** – 30

युक्ति से की है।"[1] बोधा के अनुसार प्रेम शारीरिक वस्तु न होकर आन्तरिक व हृदय की वस्तु है। प्रेम के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचना ही प्रेमी का लक्ष्य होता है। स्वच्छन्द कवियों में बोधा वियोग के क्षणों में अपनी मनःस्थिति एवं हृदय के प्रेमावेगों का चित्रण करने में माहिर हैं। उन्होंने पीड़ा एवं कशमकश को जिस ढंग से अपनी कविता में रुपायित किया है वह अत्यन्त सहज, सरल एवं प्रभावोत्पादक है --

> "कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो यह धीरज ही में धरेबो करे।
> उर से कढ़ि आवे गरे से फिरे मन की मन ही में सिरेबो करे।
> बोधा न चाड़ सरी कबहूँ नित ही हरवा तो हिरेबो करे।
> सहते ही बने कहते न बने मन ही मन पीर पिरेवो करे।।"[2]

रीतिमुक्त कवियों में बोधा दो टूक बात करने के लिए प्रसिद्ध हैं। यह उनके व्यक्तित्त्व की प्रमुख विशेषता है। उनके व्यक्तित्व में पूर्ण स्वच्छन्दता मिलती है। वे अपना स्वाभिमान नष्ट करके कभी किसी राजा या विद्वान से नहीं जुड़े। अपनी इस प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है --

> हिलि मिलि जाने तासों हिलि मिलि जीजे आप
> हित को न जाने ताको हितू न बिसाहिये।
> होय मगरुर तासों दूनी मगरुरी कीजे
> लघु हवे चले जो तासों लघुता निबाहियै
> बोधाी कवि नीति को निबेरो याही भाँति करो
> आपको सराहै ताको आपहू सराहिये।
> दाता कहा सूर कहा सुंदर सुजान कहा
> आपको न चाहे ताके बाप को न चाहिए।।"[3]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 371
2. बोधा ग्रंथावली – पृ0 – 12, छन्द – 71
3. बोधा ग्रंथावली– पृ0 – 5, छन्द–29

बोधा द्वारा प्राकृत रूप में व्यक्त किये गये मनोवेगों में प्रायः परिष्कार व संयम का अभाव रहता है। यही कारण है कि कहीं–कहीं वे मर्यादा की सीमा का उल्लंघन कर बैठे हैं। इसके बावजूद भी बोधा के काव्य में कवि की स्वच्छन्दता का स्पष्टाभास दृष्टिगोचर होता है। इनके भाव नितांत वेयक्तिक हैं। इन्होंने अपने अनुभवों को ठीक उसी रूप में वर्णित कर दिया है। उसमें अलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने तथा संवारने संजाने के प्रति बोधा की कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई पड़ती। अकूनिमता बोधा के कविता की प्रमुख विशेषता है।

बोधा ब्रजभाषा के अलावा संस्कृत व फारसी का भी समुचित ज्ञान रखते थे। बुन्देलखण्डी के अनेक शब्द इनकी रचनाओं में व्यवहूत हुए हैं। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण एवं मुहावरों से युक्त है किन्तु व्याकरण सम्मत नहीं है।"[1] बोधा ने भाषा के स्वाभाविक रूप का प्रयोग किया है। उर्दू–फारसी के शब्द अवश्य बीच–बीच में कहीं आ जाते हैं। फारसी के प्रभाव से ही भाव भी कहीं–कहीं अधिक खुले और बाजारु हो गये हैं। पर ऐसे स्थल कम हैं और वे कवि की स्वच्छन्दता के ही द्योतक हैं।"[2]

द्विजदेव

अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह द्विजदेव का जन्म सन् 1823 ई0 के लगभग माना जाता है। ये शाकद्वीपी ब्राह्मण थे। कवियों और विद्वानों का सम्मान करना इनका स्वाभाविक गुण था। अनेक कवि इनके आश्रय में रहते थे। प्रसिद्ध कवि **"लछिराम"** और **"रसिक बिहारी"** इनके दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे। द्विजदेव शृंगार परम्परा के अंतिम प्रख्यात कवि माने जाते हैं।[3] इन्हें हिन्दी, संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी का विशेष

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव तथा हरेन्द प्रताप सिनहा पृ0 – 53
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0–377
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव तथा हरेन्द्र प्रताप सिनहा, पृ0 – 55

ज्ञान था। सम्भवतः सन् 1873 ई0 के आसपास इनका निधन हुआ।

द्विजदेव द्वारा रचित दो रचनाएं मिलती हैं -- शृंगारलतिका और शृंगार बत्तीसी शृंगार-बत्तीसी" शृंगारलतिका का ही अंग है। **"शृंगार-चालीसी"** नाम से इनकी मुक्तक रचनाओं का संग्रह भी प्राप्त हुआ। है। वैसे शृंगार लतिका सौरभ में इनकी सम्पूर्ण रचनाओं का संग्रह है। यह संग्रह तीन सुमनों में विभक्त हुआ है। प्रथम सुमन में 65 द्वितीय में 174 और तृतीय सुमन में 36 छन्द हैं। परिशिष्ट में चार कवित्त और छः सवेये भी दिये गये हैं जो विविध संग्रहों में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।

द्विजदेव को रीतिबद्ध कवियों के वर्ग में भी रखा जाता है परन्तु इनकी प्रवृत्ति मुख्यतः स्वच्छन्द काव्य की ओर ही रही है। इनके काव्य में वर्णित षडऋतु वर्णन अतिविशिष्ट एवं चित्ताकर्षक है। इनके ऋतु वर्णनों में अधिकाँश रीतिकालीन कवियों की भाँति परम्परा और रुढ़ि का निर्वाह नहीं किया गया है वरन् उनमें कवि की आन्तरिक वृत्ति का प्रतिबिम्ब है।"[1] प्रकृति-चित्रण में इन्होंने अपनी सम्पूर्ण काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। इनका प्रकृति-प्रेम स्वच्छन्द है। मुक्त वर्णन ऋतु-वर्णन का प्राण होता है। यह मुक्त वर्णन कला के पचरे में पड़ने से नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ0 रघुवंश ने ठीक ही लिखा है -- "ऋतु वर्णनों की कलात्मक योजना में इस आत्मीयता और सहानुभूति के लिए बिल्कुल अवसर नहीं है।"[2] द्विजदेव ने प्रकृति का वर्णन उन्मुक्त रूप में ही किया है। ऋतु वर्णनों में तो इनका हृदयोल्लास ही परिलक्षित होता है। वसन्त ऋतु का कितना स्वाभाविक वर्णन इन्होंने किया है। देखिये --

---

1. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव तथा हरेन्द्र प्रताप सिनहा पृ0 - 55**

2. **प्रकृति और काव्य - पृ0 - 153**

"आयु बहारि बहारि रहे छिति बीधीं सुगंधिनि जाती सिचाई।
त्वों मधुमति–मालिंद सबे जय के करधान रहे कछू गाई।
मंगलपाट पढ़े द्विजदेव सर्व विधि सों सुखमा उपजाई।
साबि राहे सब साज घने वन में ऋतुराज की जानि अवाई।।"[1]

द्विजदेव की प्रवृत्ति मुख्यतः मुक्त वर्णन की ओर ही रही जिसमें वे पूर्ण सफल भी हुए। उनकी रचनाओं में संयुक्त ऋतु वर्णन भी मिलता है। एक उदाहरण देखिए --

"स्वेद कढ़ि आवो बढ़ि आयो कहु कंप मुख –
हूतें अति आखर कढ़त अरसै लगे।
द्विजदेव तेसें सन तख्त तदूरन तें,
तचत तंदूर से सरीर झरसे लगे।
एते पें तिहारी सों तिहारे बिन स्याम! बाम
नेननि तें आँसू हू सरस बरतें लगे।
एक ऋतुराज काल्हि आयो ब्रज माहिं आज
पाँचो ऋतु प्यारी के सरीर दर से लगे।।"[2]

द्विजदेव ने परम्परागत प्रणाली के अतिरिक्त मानव हृदय की अनेक अन्तर्दशाओं का सहज एवं स्वाभाविक चित्रण किया है। इनका संयोग वर्णन पूर्णरुपेण रीतिबद्ध परम्परा से ग्रस्त है तथा वियोग वर्णन पूर्ण स्वच्छन्दता से किया गया है। वियोग गया है। वियोग–वर्णन में उन्होंने धैर्य, दैन्य, तथा स्मृति आदि मनोभावों के अनेक मार्मिक चित्र खींचे हैं। सहज भावानुभूतियों और सुकुमार कल्पना के लिए भी द्विजदेव का रीतिमुक्त कवियों में महत्वपूर्ण स्थान है। हृदय की तल्लीनता और भावावेश की सूक्ष्माभिव्यक्ति द्विजदेव के इस कवित्त में देखी जा सकती है --

---

1. **शृंगार लतिका सोरभ – छन्द 11**
2. **वही, छन्द – 221**

"कह्यू काहू भाँति रति लागितो पलक तहाँ
तपने में आच केलि शीति उन ठानी री।
आप टुरे जाय मम नेनन मुद्राय कछु
हो हूँ ब्रजभारी ढूढ़िये को अकुलानी री।
ऐ री मेरी आलो या निराली करता की गति,
द्विजदेव ने कहू न परत पिछानो री।
जो लों उठि आपनोपविक पिय ढूढ़ों तो लों
हाय इन आँखिन से नींदई हिरानी री।।"[1]

द्विजदेव की भाषा परिमार्जित, प्रांजल तथा परिष्कृत ब्रजभाषा है। शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि वे शब्द की व्यंजना शक्ति में आस्था रखते थे।"[2] उनकी भाषा में माधुर्यता तथा साहित्यिकता दोनों गुण विद्यमान हैं। उन्होंने प्रायः शैलीगत अलंकृति पर ध्यान नहीं दिया। भाव-प्रधान होने के कारण इनकी कविताओं में अलंकारों के प्रयोग की अवहेलना हुई है। इन्होंने मात्र कवित्त व सवेया छन्द का ही प्रयोग अधिक किया है। हृदय की गम्भीरता व गहराई तथा रुप सोन्दर्य का अनुपम चित्रण इनके काव्य की विशेषता है। द्विजदेव रीतिमुक्त काव्यधारा के अंतिम कवि माने जाते हैं।

(ग) रीतिमुक्त काव्य का प्रतिपाद्य –

रीतिमुक्त काव्य के सम्यक् विवेचन से यही ज्ञात होता हे कि इन कवियों की रचनाओं में उनकी प्रेयसियाँ ही मुख्य प्रेरणा केन्द्र रही हैं। चाहे घनआनन्द हों, चाहे आलम या बोधा सभी की काव्यप्रतिभा के पीछे उनकी प्रेमिकाओं की ही मुख्य भुमिका रही है। प्रेमिकाओं के असहय वियोग ने इनके हृदय पर तीखी चोट की तथा उन्हें अपने अन्तर्मन की अभिलाषाओं एवं चिन्ताओं आदि को कविता

1. शृंगार लतिका सोरभ – छन्द – 216
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 जगदश प्रसाद श्रीवास्तव एवं हरेन्द्र प्रताप सिनहा – पृ0 – 56

की वाणी में रुपान्तरित करने की प्रेरणा भी प्रदान की। इसलिए प्रेम को ही रीतिमुक्त काव्य का मुख्य प्रतिपाय कहा जा सकता है। रीतिमुक्त कवियों को स्वच्छन्द रचना करने में सूफियों के **"प्रेम की पीर"** से भी काफी सहयोग मिला। इन पर फारसी के ऐकान्तिक और अनुभवनिष्ठ प्रेम का व्यापक प्रभाव था। सूफियों के दर्शन तथा फारसी की एकांगी प्रेम कविता से प्रभावापन्न कवि रीतिबद्ध काव्य परम्परा को छोड़ने के लिए स्वयं बाध्य हो गये। इस प्रकार फारसी कविता की इस नवीन धारा से हिन्दी कविता को एक नयी दिशा मिली, जो साहित्यिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

अपने हृदय की भावनाओं का अपने तक ही सीमित न करके दूसरों के हृदय से भी सम्पृक्त करने की अभिलाषा मानव का स्वाभाविक गुण होता है। इससे मानव मन को असीम शान्ति एवं सुखद अनुभूति मिलती है। परस्पर सुझाव के कारण आकर्षण की वृद्धि स्वाभाविक है। यही आकर्षण संस्कार तथा अभ्यास से व्यापकता प्राप्त करता है। मानव में प्रेम की भावना इसी साहचर्य और सम्पर्क के कारण ही जागृत होती है। वैसे मानव मन में वासनामय प्रेम का उदय अनादिकाल से ही रहा है। वासनामय प्रेम नर--नारी से संबंधित होता है। पुरुष की वासना नारी के आकर्षक सौन्दर्य को देखकर उद्वेलित होने लगती हे तथा नारी में भी पुरुष के प्रति सर्मपण की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस आकर्षण के केन्द्र बिन्दु सर्वप्रथम नेत्र होते हैं। इस शारीरिक आकर्षण को स्थूल ओर मांसल प्रेम कहते हैं। परन्तु कुछ समय के पश्चात् यही स्थूल प्रेम पुंजीभूत होकर सूक्ष्मता ग्रहण करने लगता है और मांसलता का स्थान अनुभूति ले लेती है। रीतिमुक्त कवियों का प्रेम इसी कोटि का है। रीतिमुक्त कवियों का प्रेम रीतिबद्ध कवियों की भाँति काम की क्रीड़ा नहीं है अपितु प्रेम की मधुर टीका और असहय वेदना इनके जीवन की प्रत्येक साँस और हृदय की प्रत्येक धड़कन में समायी

हुई है। इनके जीवन का साध्य एवं साधन दोनों प्रेम की ऐकान्तिक उपासना ही है! सहज भाव से अपने को पूर्ण समर्पित कर देना ही इनका सर्वस्व है। यहाँ शब्द चतुराई, पांडित्य को विस्मृत कर देना पड़ता है। प्रेम के सरल एवं ऋतु मार्ग का एक अद्वितीय उदाहरण दृष्टव्य है --

"अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नकु सयानय बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलें तनि आपनपोझिझके कपटी ने निसाँक वहीं।
घन आनंद प्यारे सुजान सूनो इस एक से दूजो आँक नहीं।
तुम कोन धों पाटी पड़े हो ललता, मन लेहु ये देहु छटकि नहीं।"[1]

प्रेमोन्मत इन कवियों को यह अपेक्षा नहीं थी कि इनका प्रेमी इन्हें प्रेम करे ही, क्योंकि सच्चे प्रेम में आदान के लिए कोई स्थान नहीं होता, यहाँ तो सर्वस्व न्योछावर कर देना पड़ता है। रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम के सम्बन्ध में निजी आदर्शों की स्थापना की। इन प्रेमी कवियों ने स्पष्ट कहा कि --

"उपचार और नीच विचारने ना उर अंतरवा छवि को घर है।
हमको वह चाहे कि चाहे नहीं हम चाहिये चाहि बिधा हर है।"[2]

"मन भावे सुजान सोई करियो हमें नेह को नातो निबाहने है।"[3]

"चाहो अनचाहो जान प्यारे पै अनंदघन
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है।"[4]

इनकै प्रेम मार्ग यद्यपि अत्यन्त सरल है फिर भी उस पर प्रत्येक व्यक्ति आँख मूँदकर नहीं चल सकता। अपने हाथ से अपना

---

1. **सुजान हित – 267**
2. **बोधा ग्रंथावली – सं0 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (इश्कनामा) छन्द – 9**
3. **ठाकुर ग्रंथावली – सं0 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द – 65**
4. **सुजान हित – 187**

शीश उतारने वाला व्यक्ति ही इस रास्ते पर चलने में सफल हो सकता है। प्रेम मार्ग अत्यन्त दुरुह एवं भयंकर है। बोधा ने इसकी दुरुहता एवं भयंकरता को दर्शाते हुए लिखा है कि --

"अति छीन मृनाल के तारहु से तेहि ऊपर पाव दे आवनो है।
सुई बेह से द्वारसकीन तहा परतीति को टाँड़ों लदाववनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ से चढ़ि तापे नचित्त डरावनो है।
यह पेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पे धावनो है।"[1]

प्रेम मार्ग की इस दुरुहता एवं भयंकरता को जानते हुए भी इन कवियों को इसी रास्ते का अनुभावन करने में आनन्द एवं परम सन्तोष मिलता है। यद्यपि ये सभी कवि एक ही मार्ग (प्रेम–मार्ग) के राही है, फिर भी अपनी–अपनी अलग पहचान है।

घन आनंद स्वभाव से ही अत्यधिक भावुक और विहर–वेदना से विग्ध हैं। जितनी तड़प, बेचेनी और विहवलता इनमें दिखाई पड़ती हे वेसी किसी भी कवि में नहीं दिखाई पड़ती। घन आनंद का प्रत्येक रोम वेदना एवं पीड़ा की असहय टीस से सुलग रहा है। इनकी प्रत्येक श्वांस ओर धड़कन में नेराश्य का करुण–क्रन्दन ही ध्वनित होता है। विरह की अतिशयता कवि को संयोग के क्षणों में भी वियोग की आशंका से आतंकित किये रहती है।

आलम की रचनाओं में प्रेमोल्लास संबंधी कविताओं की कमी हे। आलम रीतिबद्ध ओर रीतिमुक्त दोनों काव्यधाराओं में अवस्थित दिखायी पड़ते हैं। इनमें दोनों प्रकार की रचनाओं के तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। आलम ओर शेख की प्रेम–कहानी के आधार पर मनोवेज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रिय के प्राप्त हो जाने के कारण सम्भवतः कवि का प्रेमावेश मंद पड़ गया है। इनमें प्रिय मिलनोत्कंठा की उतनी आवेगपूर्ण

---

1. **बोध ग्रंथावली – इश्कनामा, छन्द – 7**

तीव्रता दृष्टिगोचर नहीं होती जितनी की अन्य कवियों में।

ठाकुर की कविता की विषयवस्तु अत्यधिक व्यापक है। वे प्रेमोपासक कवि होने के साथ-साथ जीवन के अन्य पहलुओं पर भी विचार करते थे। इनके मोजीपन की झलक इनकी कविताओं में देखी जा सकती है। खरे स्वाभाव के होने के कारण ठाकुर में प्रेम की निर्भीकता ओर दृढ़ता परिलक्षित होती है।

बोधा में घन आनंद की भाँति हाहाकार का भयानक स्वर नहीं दिखायी पड़ता है। घन आनंद की तरह ये भी प्रेमोन्मत तो हैं परन्तु इनमें वेसी विहवलता नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि उनका प्रेमावेश मंद है या उसमें पूर्ण भावतुका की कमी है। इनका भी प्रेम चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर नेराश्य में परिणत हो गया है। यही कारण है कि सम्भवतः वे तड़प कर प्राणोत्तसर्ग को उद्यत हो जाते हैं। अपनी विरह वेदना का उल्लेख कर जी को हल्का करने की दृष्टि से किसी की तलाश में भटक रहे हैं परन्तु इन्हें ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं मिल रहा हे जिससे अपने दिल की बात कह सकें।

द्विजदेव की रचनाओं में उनका प्रकृति प्रेम ही झलकता है। इन्हें प्रकृति से प्रगाढ़ प्रेम था। इसीलिए इनका अधिकाँश काव्य प्रकृति वर्णन से ओत-प्रोत है। इनका प्रकृति प्रेम स्वच्छन्द है। रूप के प्रति इनकी सवेदना तीव्र है। इन्होंने हृदय की अनेक अन्तदर्शाओं का चित्रण बड़े मार्मिक ढंग से किया है।

रीति मुक्त कवियों ने लोकिक प्रेम के मध्य आने वाली समस्त बाधाओं एवं व्यवधानों को हास्यापद बना दिया। इनके प्रेम की पूर्ण परिणति विवाह नहीं था अपितु ऐसा प्रेम था जो इन्हें आजीवन व्यथा में चलने एवं प्रिय वियोग में तड़पने के लिए बाध्य कर दिया था। परिणय-सूत्र में अनाबद्ध

होते हुए भी इन कवियों ने अपने प्रिय के प्रतिजिस ऐकान्तिक विश्वास और निष्ठा को व्यक्त किया उससे नवीन जीवन–दृष्टि और नये आदर्शों की स्थापना को संबल मिला। प्रेम–पथ में लोकिक नियमों का पालन करने वाले लोग अंधे हैं। ये लोग प्रेमियों की बराबरी का दावा ठीक उसी प्रकार करते हैं जैसे उल्लू चकोर होने का --

"नेमी अंध होंस मों चाहें तिन रीमत करें,
ऐसें अरअरें ज्यों चकोर हौन कों उलूक।"[1]

प्रेम करने के लिए लोक लाज और कुल मर्यादा का परित्याग करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति परम्परागत मार्ग का त्याग किये बिना इस कठिन प्रेम–पथ पर नहीं चल सकता --

"लोक की लाज और लोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोई।
गाँव को गेह की देह को नातो सनेह में हाँतो करे पुनि सोऊ।
बोधा सुनीति निवाह करे धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जो मीत सो प्रीति के पेड़े परे जनि कोऊ।।"[2]

प्रेम के कठिन मार्ग में लोकिक मर्यादाओं के साथ–साथ अपनी सुध भी खो देनी पड़ती है। प्रेमी इस रास्ते पर चलने के लिए प्रेमासव में अपनी सारी सुधियों को डुबोकर शक्ति अर्जित करता है। सचेत एवं सर्तक रहने वाले व्यक्ति इस मार्ग में शक्ति–रहित हो जाते हैं। यही तो इस प्रेम की विलक्षणता है --

जान घन आनंद अनोखा यह प्रेम पंथ,
भूले से चलत, रहें सुधि के थकित हवै।

---

1. **घन आनंद ग्रंथावली (सुजान हित) सं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द–151**

बुरो जिन मानो जो न जानो, कहूँ सखि लेहु,
रसना के छाले परें प्यारे नेह नाव छूवे।।"[1]

इन कवियों को अपने प्रेम पर इतनी दृढ़ आस्था व विश्वास हे कि वे इसी के सहारे संसार–सागर को पार करने को आतुर हैं ––

"कवि बोधा कहु सक यामें नहीं भव सिंधु जाई कै ले तरहे।
वह प्रीति की रीतिहि जानत तौ पर तोतहि मानि कै जो करवे।।"[2]

इस प्रकार इन कवियों के प्रेम–निवेदन में रुढ़ियों का प्रतिपादन नहीं मिलता। एकनिष्ठता अनुभूति की तीव्रता ऐन्द्रिक सम्युक्त पवित्रता आदि गुण इनके प्रेम की विशेषताएँ हैं। इनके काव्य में प्रेम की जीवनगत स्वच्छन्दता तथा काव्यगत स्वच्छन्दता दोनों के दर्शन होते हैं। इनकी दृष्टि प्रेमभाव की अनुभूति पर अधिक रखती थी। उसी का ये लोग काव्य में चित्रण करते थे। इसका फल यह हुआ कि इन लोगों की अन्तर्दृष्टि प्रेमानुभूति को पहचानने में बड़ी व्यापक और सूक्ष्म हो गयी। इनका प्रेम केवल नारी के स्थूल शरीर सोन्दर्य तक ही सीमित न रहा। वह ईश्वर पर्यन्त ऊँचा उठा और समस्त विश्व का प्रेम इस शरीरोस्य ईश्वरस्पर्यसायी प्रेम में समाने लगा।"[3]

(घ) रीतिमुक्त कवियों की काव्यभाषा और अन्य युगीन कवियों में अन्तर–

यह बात सर्वसत्य है कि उत्तर मध्यकाल में काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा का ही बालेबाला था परन्तु सम्यक विवेचन से यही ज्ञात होता है कि वह सर्वत्र एक रस या समान नहीं है। अर्थात् रीतिकाल में ही काव्यभाषा के रूप में प्रयुक्त ब्रजभाषा के अनेक स्तर मिलते हैं। इस प्रकार जहाँ एक तरफ सम्पूर्ण उत्तर मध्यकाल में ब्रजभाषा का उत्कर्ष

---

1. **सुजान हित – 246**
2. **बोधा ग्रंथावली – आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (इश्कनामा) 1/9**
3. **घन आनंद और स्वच्छन्द काव्यधारा – डॉ0 मनोहरलाल गौड़ पृ0–242**

एवं विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर उसके प्रयोग वैभिन्य के कारण अन्तर भी आ गया है। रीति मुक्त कवियों की काव्यभाषा अन्य युगीन कवियों की काव्यभाषा से सर्वथा भिन्न है।

उत्तर मध्यकाल में रीतिमुक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों की काव्य भाषा आर्यायत्व एवं अलंकारिकता से प्रभावित रही है। केशव, भूषण आदि कवियों ने अलंकारों के चक्कर में पड़कर भाषा के सहज स्वरूप एवं प्रकृति को नष्ट कर दिया है। व्याकरण एवं सर्जनात्मक सामर्थ्य की दृष्टि से केशव की काव्यभाषा तो बिल्कुल छिन्न–भिन्न एवं अस्त–व्यस्त दिखायी पड़ती है। शब्द चयन में असावधानी के कारण लयात्मकता भी बाधित हुई है। कहीं–कहीं तत्सम शब्दों की अधिकता से भाषा बिल्कुल अस्वाभाविक सी प्रतीत होने लगती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

"सीता शोभन व्याह उत्सव सभा संभार संभावना।
तत्तत्कार्य समग्र व्यग्र मिथिलावासी जना शोभना।।
राजा राज पुरोहितता दि सुहृदा मंत्री महा मंत्रदा।
नाना देश समागता नृपगणा पूज्या परा सर्वदा।।"[1]

भूषण का काव्य भी अलंकार एवं वीर रस प्रधान है। इसलिए उसमें भी वीररस व्यंजनानुकूल द्वित्व वर्णों, मूर्धन्य ध्वनियों और संयुक्त ध्वनियों का व्यापक प्रयोग मिलता है। इनका काव्य दरबारी संस्कृति से प्रभावित होने के साथ–साथ शुद्ध एवं परिष्कृत भाषा से रहित है। कहीं–कहीं तो पूरा का पूरा छन्द ही खड़ी बोली से ग्रसित दृष्टिगोचर होता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है --

"पंच–हजारित बीच खरा किया में उसका कुछ भेद न पाया।
भूषन यों कहि ओरंगजेब उजारित सो बेहि साब रिसाया।
कम्भर की न कटारी दई इस नाम ने गोसल खाना बचाया।

---

1. रामचन्द्रिका – 3/13

जोर सिवा करता अनरथ्य भली भई हथ्य हथयार न आया।।"[1]

इसी प्रकार अलंकारों की प्रचुरता से भिखारी दास की भी काव्य–भाषा प्रभावित हुई है। कहीं–कहीं तो अलंकारों की अतिशयता से ऐसा प्रतीत होता है जेसे काव्य भाषा नाम की कोई चीज ही नहीं है। इनकी रचनाओं में पूर्वी प्रयोगों की अधिकता है। इन्होंने बोलचाल एवं ठेठ ब्रजभाषा के रूप कम प्रयुक्त किये हैं। "भिखारीदास जी ने ब्रजी के इस साहित्यिक रूप के ज्ञान के लिए ब्रजवास को आवश्यक नहीं माना। वे अवध में घर बेठे ही रूप गढ़ते रहे। फल यह हुआ कि "हियरा" के **"हियरो" "हीरो"** ऐसे रूप भी उन्होंने भर दिये हैं जबकि हियरा आकारान्त ही होता है, ओकारान्त नहीं।"[2]

बिहारी की भी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, परन्तु घन आनन्द की भाषा की कोटि में नहीं रखी जा सकती, क्योकि वे "ब्रजभाषा–प्रवीन हैं। उनकी भाषा पूर्वी प्रयोग से रहित है जबकि बिहारी की भाषा में पूर्वी प्रयोग का प्राचुर्य है। उदाहरण के लिए बिहारी के तुकान्त के आग्रह के कारण ही क्रिया के कीन, लीन, दीन आदि प्रयोग किये हैं। जबकि ब्रजभाषा में कोन का कीन्हों, लीन का लीन्हों तथा दीन का दीन्हों रूप होता है।

देव की भाषा भी यद्यपि विशुद्ध ब्रजभाषा है परन्तु भावानुसार शब्दों की निर्मित में सिद्धहस्त देव ने भाषा में परिष्कार करने, काव्यात्मक सोन्दर्य की अक्षुण्णता तथा उसके स्तर को चुस्त दुरस्त बनाये रखने के लिए कहीं–कहीं ऐसे क्लिष्ट एवं चक्करदार शब्दों का प्रयोग कर दिया है जिसे उसके अर्थ ग्रहण में परेशानी खड़ी हो जाती है।

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी काव्यभाषा आचार्यत्व एवं

---

1. **शिव राज भूषण, भूषण, छन्द–191**
2. **काव्यनिर्णय, भिखारीदास – सम्पादक, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–पृ0–21**

अलंकारिकता के चक्कर में पड़कर भाषा के सहज स्वरूप को नष्ट कर दिया है।

उधर रीति मुक्त कवि भाषा प्रयोग में भी पूर्णतः स्वच्छन्द थे। इन कवियों ने अलंकृत काव्यभाषा से सर्वथा मुक्त होकर भाषा के प्रति अति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया है। अपनी काव्यभाषा को सुदृढ़ एवं समृद्धशाली बनाने के लिए इन कवियों ने ब्रजभाषा का सहज विधान किया है। लाक्षणिक प्रयोगों की अतिशयता अन्य भाषाओं के शब्द प्रयोगों में उदारता तथा लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रचुर प्रयोगों के माध्यम से रीतिमुक्त कवियों ने अपने कथ्य को प्रभावोत्पादक बनाने में जो सफलता अर्जित की हे वह युगीन अन्य कवि नहीं कर सके हैं। घन आनन्द के लावणिक प्रयोग ठाकुर के लोकोक्ति प्रयोग तथा बोधा के भाषा की सहजता की किसी से तुलना करना ही निरर्थक है। दरबारी संस्कृति से प्रभावित होने के कारण उत्तर मध्यकाल के अन्य कवियों की रचनाओं में वह सहजता व तरलता दृष्टिगोचर नहीं होती जेसी रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में। रीतियुग के अन्य कवियों द्वारा विभिन्न छन्दों एवं अलंकारों के व्यामोह के कारण भाषा की प्रवाहमयता व जीवन्तता में बाधा पहुँची है।

रीतिमुक्त कवियों की भाषा अन्य युगीन कवियों की भाषा से इस अर्थ में भी भिन्न है कि इनकी भाषा में बोली का सोन्दर्य मिठास्त्र ओर पार्थिवता है। इन कवियों ने अल्प प्रयुक्त एवं बहुत कम प्रयुक्त ब्रज शब्दों का प्रयोग इस रूप में किया हे जिससे अनुभव के प्रति अति नेकट्य का आभास होता है। कहने का तात्पर्य यह हे कि रीतिमुक्त कवियों की भाषा में वह सामर्थ्य है जो हमें उनके अनुभव लोक के साथ जोड़ती है। एक उदाहरण दृष्टव्य है --

ए रे बीर पोन, तेरो सबे ओर गोन, बीरी,
तो सो ओर कोन मनें टरको ही बानि दे।
जगत के प्रान ओछ बड़े कों समान घन
आनंद निधान, सुखदान दुखियानि दे।

जान उजियारे गुन–भारे अंत मोही प्यारे
अब हवे अमोही बेठे पीठि पहिचानि दे।
विरह बियाहि मूरि आँखित में राखों पूरि
धूरि तिन पायन की हाहा! नेहु आनि दे।।"[1]

उपर्युक्त छन्द में कोई नवीन शब्द नहीं हैं। किन्तु उनका सम्बोधनयुक्त प्रयोग और संरचना में शब्दों का ध्वनियुक्त संयोजन उसे महत्वपूर्ण बना देता है।

रीतिमुक्त कवियों की ब्रजभाषा बोलचाल की भाषा नहीं है अपितु वह परिष्कृत, व्याकरण सम्मत तथा पूर्ण साहित्यिक है। इनकी भाषा में कृष्णभक्त कवियों सदृश लोकव्यापी स्वरूप भी दृष्टिगोचर नहीं होता और न ही आचार्य कवियों की अलंकारिक भाषा ही। अपनी काव्य रचना में इन कवियों ने काव्यभाषा के उस रूप का व्यवहार किया है जो सार्वदेशिक भाषा के रूप में व्यवहृत एवं प्रतिष्ठित हो सके। इसीलिए इन कवियों ने विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों के प्रयोगों को अत्यंत सहज भाव से अंगीकार कर लिया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रीतिमुक्त कवियों की काव्यभाषा और तत्युगीन अन्य कवियों की काव्यभाषा यद्यपि ब्रजभाषा ही है फिर भी इनमें पर्याप्त अंतर है।

*
***
*****
***
*

---

1. घनआनंद कवित्त – प्रथम शतक, भाष्यकार चन्द्रशेखर मिश्र, छन्द – 70

तृतीय – अध्याय

तृतीय अध्याय

उत्तरमध्यकाल में काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा की स्थिति

(क) ब्रजभाषा: नामकरण, क्षेत्र एवं स्वरूप –

ब्रजभाषा हिन्दी भूभाग की प्राचीन और मुख्य भाषा है। यहाँ तक कि कुछ समय तक यह भारतवर्ष के एक बड़े क्षेत्र की राष्ट्रभाषा भी थी। "ब्रज" का संस्कृत तत्सम रूप "ब्रज" है जिसके मूल में संस्कृत धातु "ब्रज" (जाना) है। भिन्न-भिन्न कालों में "ब्रज" शब्द का व्यवहार परिवर्तित होता रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद संहिता में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग ढोरों का चारागाह या बाड़े अथवा पशु-समूह के अर्थों में हुआ है। हरवंश पुराण तथा भागवतादि पौराणिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग कृष्ण के पिता नन्द के मथुरा के निकटस्थ ब्रज अर्थात गोष्ठ विशेष के अर्थ में ही हुआ है।[1] मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में तद्भव रूप ब्रज अथवा ब्रज निश्चय ही मथुरा के चारों ओर के प्रदेश के अर्थ में मिलता है। इस प्रदेश की भाषा के लिए मध्यकालीन हिन्दी लेखकों के द्वारा केवल "भाषा" शब्द का ही प्रयोग होता था। यह प्रयोग केवल ब्रज क्षेत्र की भाषा के लिए ही सीमित नहीं था, बल्कि हिन्दी की अन्य साहित्यिक बोलियों के लिए भी प्रयुक्त होता था।"[2]

निश्चित रूप से इस ब्रजभाषा को ही डिंगल भाषा के विरुद्ध पिंगल कहा जाता था। हिन्दी भाषा-प्रेमी एवं उसके इतिहास को जानने वालों को यह विदित ही होगा कि पृथ्वीराज चौहान के समय से भी पूर्व

---

1. "तद ब्रजस्थानमधिकम् शुभुमे काननावृतम्"। हरिवंश पुराण
2. धीरेन्द्र वर्मा-ब्रजभाषा, पृ0 – 16-17

यह पिंगल साहित्य का माध्यम बन चुकी थी। तथा इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इस ब्रजभाषा को ही उर्दू लेखकों ने **"भाषा"** के नाम से अभिहित किया। **"भाषा"** का स्पष्टीकरण करते हुए लल्लूलाल जी ने लिखा है --- "भाषा संस्कृत शब्द है, जिसका मूलार्थ सामान्य भाषा से है, किन्तु अब इसका प्रयोग नरवानी या हिन्दुओं की जीवित भाषा से लिया जाता है। विशेषकर "भाषा" ब्रजदेश और ग्वालियर में बोली जाती है। ब्रज दिल्ली और आगरे के बीच में एक जिला है।"[1] मुख्यतः ब्रज प्रदेश में बोले जाने के कारण शुरू में "भाषा" कहलाने वाली भाषा ब्रजभाषा के नाम से अभिहित हुई। **"ब्रजभाषा"** शब्द का स्पष्ट प्रयोग भिखारीदास ने किया ---

"भाषा ब्रजभाषा रुचिर को सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत परस्यौ पे अति सुगम जो होय।।"[2]

इस प्रकार प्रारम्भ में प्राकृताभास अपभ्रंश का बोध कराने वाली "भाषा" कालान्तर में ब्रजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी।

ब्रजभाषा एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा थी, यही कारण है कि साहित्य के माध्यम के रूप में इसे दूर-दूर तक सम्मान मिला। यह शौरसेनी प्राकृत की वंशज है। शौरसेनी प्राकृत प्राचीन भारत में मध्यदेश[3] अथवा अन्तर्वेद कहे जाने वाले भूखण्ड की भाषा थी। यह अन्तर्वेद

---

1. **जनरल प्रिन्सिपिल्स आफ इनसूलेक्सनल एण्ड इन्जुगेसन इन दी ब्रजभाषा**, 1811, **भूमिकासे।**
2. **काव्यनिर्णय**, 1/14
3. Madhyadesa - The country bounded by the river saraswati in Kurukshetra, Allahabad, the Himalaya and Kindhya, the anterveda was included in Madhyadesa - The Geographical Dictionary of Ancient and mediaeval India. 1927.

प्रदेश गंगा और सरस्वती (पंजाब) के बीच स्थित था तथा अनेक जिलों में विभाजित था। इन्हीं जनपदों में से एक था सुरसेन, जिसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जिससे ब्रजभाषा उत्पन्न हुई है। संस्कृत और प्राकृत काल की तुलना में अपभ्रंश काल का शूरसेन प्रदेश काफी विस्तृत था। पश्चिमी भारत का एक बहुत बड़ा हिस्सा– राजस्थान, गुजरात, मालवा आदि भी इसी प्रदेश में आकर विलीन हो गये थे। शौरसेनी अपभ्रंश प्रदेश ब्रजभाषा काल में क्रमशः पूर्व की ओर बढ़ आया था, उसका कारण यह था कि इसी शौरसेनी अपभ्रंश से निस्तृत ब्रजभाषाओं का प्रदेश ब्रजमंडल बन गया था। पिंगल के समय तक ब्रजभाषा का प्रयोग राजस्थान तक अवश्य रहा होगा।

वर्तमान समय में इसकी विलासभूमि ब्रजमंडल[1] है। यहाँ ब्रजमंडल से अभिप्राय इस समय के मथुरा, बृन्दावन के चारों ओर का वह क्षेत्र है जो "चौरासी कोस" के रूप में प्रसिद्ध है। वहीं श्रीकृष्ण और राधा की लीलाओं से संबंधित अनेक पावन स्थल व सुन्दर धाम हैं। इसी ब्रजमंडल में "ब्रज" नामक वह स्थान भी है जो प्राचीन काल में "गोकुल" अथवा "महावन" कहा जाता था। गोकुल मथुरा शहर के निकट यमुना के उस पार स्थित एक गाँव है। कालान्तर में गोकुल के अतिरिक्त वृन्दावन और उसके आसपास के गाँव भी ब्रज अथवा ब्रजक्षेत्र में ही विलीन समझे जाने लगे। आज इसका प्रयोग केवल ब्रजमंडल तक ही सीमित नहीं है अपितु इसका श्रेय अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक

---

1. The Braj Mandal almost exactly coincides with the modern District of Mathura, if we exclude the Eastarn corner comprising 'Sadabad' and partion of 'Mahavan' which are added in the District in the year 1832- Linguistic survey of India Volume - 9, Part I, 1916, P.69.

हो गया है। इसके क्षेत्र के संबंध में यह प्राचीन दोहा बहुत प्रसिद्ध है ---

इस वरहद उस सोनहट, उस सूरसेन को गाँव।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मंडल धाम।।"[1]

अर्थात् ब्रजजंडल के एक ओर की सीमा "वर" नामक स्थान है जो अलीगढ़ जिले का एक कस्बा है, दूसरी ओर सोननदी है। जिसकी सीमा गुड़गाँव तक है तथा तीसरी तरफ सूरसेन का गाँव है जो यमुना नदी के किनारे स्थित वर्तमान आगरा तहसील का बटेश्वर नामक गाँव है। वस्तुतः प्रोक्त दोहे को ध्यानपूर्वक देखने से यही ज्ञात होता है कि ब्रज में चौरासी कोस में मथुरा मंडल है जो धाम है। ब्रज बड़ा क्षेत्र है उसमें चौरासी कोस का मथुरा मंडल है। मिर्जा खाँ[2] ने भी चौरासी कोस की भूमि को ब्रज स्वीकार किया है, जिसका केन्द्र मथुरा है। परन्तु वर्तमान में ये प्राचीन सीमाएँ टूट चुकी हैं। "लिंग्विष्टक सर्वे" मैं इसके क्षेत्र विस्तार के संबंध में लिखा है कि -- "यदि मथुरा को केन्द्र मान लिया जाय तो ब्रजभाषा दक्षिण में जिला भरतपुर रियासत के अधिकाँश भाग, करौली और धौलपुर रियासत के पश्चिमी भाग और जयपुर रियासत के पूर्वी भाग में, उत्तर में गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग में, उत्तर-पूर्व में द्रोआब, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी गंगा के उस

---

1. ब्रजभारती, चैत्र, 1999 वि0, पृ0-25

2. Braj is the name of country in India eightybour pas round, with its centere at Mathura which is cauite well known district on 195 b(Boll) he adds Gwalior to the territories in which "Bhakha" is spoken. The word eighty is later insertion."

बदायूँ बरेली और नैनीताल के परगनों में बोली जाती है।"[1]

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रियदर्शन द्वारा ब्रजक्षेत्र के अंतगर्त नैनीताल के तराई भाग को सम्मिलित किये जाने की आलोचना की है। उनका मत है कि -- "नैनीताल तराई की मंडियों के निवासी प्रायः खड़ी बोली 'क्षेत्र के हैं और तराई के अन्य भागों में वे कुमायूँनी अथवा भूटिया हैं, जो जाड़ों में पहाड़ों से नीचे उतर कर अस्थाई रूप से वहाँ रखते हैं, इसलिए यही ठीक होगा कि ब्रजभाषा क्षेत्र में नैनीताल के तराई भाग को सम्मिलित न किया जाये।"[2] इनके अनुसार ब्रजक्षेत्र के अन्तर्गत, "उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा बरेली के जिले की पूर्वी पट्टी राजस्थान में भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग"[3] आते हैं। उत्तर तथा दक्षिण में हिन्दी की दो अन्य पश्चिमी बोलियों अर्थात् खड़ीबोली तथा बुन्देली से आधुनिक ब्रजभाषा का क्षेत्र आच्छादित है। इसके पूर्व में पूर्वी बोली अवधी तथा पश्चिम में राजस्थानी को दो पूर्वी बोलियों अर्थात् नेपाली और जयपुरी का क्षेत्र है। आधुनिक ब्रजभाषा लगभग एक करोड़ तेइस लाख जनता के द्वारा बोली जाती है, और लगभग 38000 वर्गमील के क्षेत्र में फैली हुई है।"[4]

यह तो निश्चित है कि अठारहवीं शताब्दी[5] से पूर्व ब्रजभाषा का उल्लेख नहीं मिलता। ब्रज या ब्रजभूमि की बोली ही ब्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई जो कभी भाषा, कभी मध्यदेशी, कभी अन्तर्वेदी,

---

1. लिंगिविस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग-1, खण्ड-1, पृ0 -70,319
2. ब्रजभाषा, पृ0 - 33
3. वही, पृ0 - 33
4. वही, पृ0 - 33
5. भिखारीदास, काव्य निर्णय (1746 ई0) अध्याय-1, छन्द-14,16

कभी पिंगल तथा कभी ग्वालियरी आदि संवादों से सुशोभित होती रही। मथुरा या शूरसेन प्रदेश प्रारम्भ में ब्रजप्रदेश कहलाता था। ब्रज श्रीकृष्ण के समय मे ही एक निश्चित भूभाग था जिसके अधिपतिनन्द थे। कालान्तर में ब्रज और मथुरा दोनों पर्याय हो गये तथा "ब्रज" शब्द भाषा के साथ संयुक्त होकर अपनी परम्परा के निर्माण में सम्बद्ध हो गया।

जहाँ तक इसके स्वरूप का प्रश्न है, इस संबंध में डॉ0 भाण्डारकर का कहना है कि ब्रजभाषा का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि (शूरसेन प्रदेश) में हुआ। उनके अनुसार -- "छठी-सातवीं" शताब्दी के आस-पास अपभ्रंश का जन्म उस प्रदेश में हुआ। जहाँ आजकल ब्रजभाषा बोली जाती है।"[1] मध्य प्रदेशीय अपभ्रंश हेमचन्द्राचार्य युग में सम्पूर्ण उत्तर भारत में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुकी थी। डॉ0 चाटुर्ज्या के विचार से -- "नवीं" से बारहवीं शताब्दी के काल में परिनिष्ठित अपभ्रंश राजपूत राजाओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण, जिनके दरबारों में इसी शौरसेनी की परवर्ती या उसी पर आश्रूत भाषाएं व्यवहृत होती थीं और जिसे चारणों में समृद्ध और शक्ति सम्पन्न बनाया था, पश्चिम में पंजाब और गुजरात से लेकर पूरब में समूचे आर्य भारत में प्रचलित हो गयी। सम्भवतः यह उस काल की राष्ट्रभाषा मानी जाती थी।" यही शौरसैनी ही ब्रजभाषा की वंशज थी। अपने शोधप्रबन्ध में डॉ0 शिव प्रसाद सिंह[3] ने इसे अत्यन्त प्रमाणिकता के साथ सिद्ध किया है कि ---- 1000 ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी

---

1. About the 6th or 7th century, the Apabhransa was developed in the country in which the Brgjbhasha prevails in modern time Wilson Philological Lectures. P.P. 301.

2. ओरिजन एण्ड डेवलेपमेण्ट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ0 - 113

3. सूरमूर्य ब्रजभाषा और उसका साहित्य

जन्मभूमि में जिस ब्रजभाषा का उदय हुआ, आरम्भ मे उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी। और रक्त में शोरसेनी भाषाओ की परम्परा तथा अन्य सामाजिक तत्वो का ओज और बल था। यह भाषा चोदहवी शताब्दी तक अपभ्रंश बहुल संज्ञा शब्दो ओर प्राचीन काव्य–प्रयोगों के आवरणों से ढॅकी रहने के कारण परवर्ती ब्रजभाषा से भिन्न प्रतीत होती हे, परन्तु भाषा–वेज्ञानिक कसोटी पर वह निस्सन्देह उसी का पूर्णरूप सिद्ध होती है।[1] डॉ0 सत्येन्द की ब्रजभाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हे कि 1000 ईस्वी के लगभग की ब्रजभाषा शोरसेनी अपभ्रंश की गोद में खेलती हुई बालिका के समान हे, 1400 ईस्वी के लगभग की ब्रजभाषा अपभ्रंश की उँगली पकड़ कर चल रही है। और सूरदास के समय की ब्रजभाषा पूर्णतः अपने पैर पर खड़ी है तथा दूसरी भाषाओं को प्रभावित करने वाली है।

गुजरात के जैन आचार्य सन् (1080–1172) के व्याकरण में उदाद्धत पश्चिमी अपभ्रश के प्रचलित साहित्य के कुछ उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उस काल की भाषा हिन्दी के ही निकट थी।[2] इसे हम ब्रजभाषा की भूमिका कह सकते हैं। हेमचन्द के अपभ्रंश की सम्भवतः सभी ध्वनियाँ ब्रजभाषा में विद्यमान हैं। क्रिया का सबसे महत्वपूर्ण रूप भूतकाल का निष्ठारूप होना है। जो ब्रजभाषा की प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता है, हिन्दी की सभी बोलियों में अपनी ओकारान्त या ओकारान्त विशिष्टता के कारण भिन्न प्रतीत होती है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में उद्धत अपभ्रंश के दोहों की भाषा में भी भूतकाल के इसी रूप (चल्यो, गयी, कहयो आदि) का प्रयोग किया है। इसी तरह अपभ्रंश में सामान्य वर्तमान

---

1. सूरमूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, भूमिका, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 – 1
2. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ0 – 178–79

तिठन्त रूपों का ब्रजभाषा में पूर्ण एवं सरल विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा वाक्य–गठन की दृष्टि से ब्रज के अति सन्निकट जान पड़ती है। ब्रजभाषा के इस विकसित स्वरूप की व्याख्या इसी प्रकार करते हुए डॉ0 वाटुर्ग्या ने कहा है कि –– "ब्रजभाषा पुरानी शौरसेनी भाषा की सबसे महत्वपूर्ण और शुद्ध प्रतिनिधि हैं, हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा इसी की पूर्वपीठिका है।"[1]

ब्रजभाषा का प्रसार व प्रभाव उस के प्रदेश की पूर्ववर्तिनी भाषाओं की भाँति ही व्यापक था। यह 16वीं शती तक सम्पूर्ण उत्तरापथ की काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। इसी संबंध में डॉ0 नगेन्द्र ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि – "ब्रजभाषा अपने समय में अत्यन्त व्यापक भाषा रही है, उसका क्षेत्र ब्रज के चौरासी कोस तक तो कहने भर को ही था। उसका प्रसार इतना व्यापक था कि आस–पास की अनेक बोलियों का अस्तित्व लोप ही हो गया था। उत्तरपूर्व में कन्नौजी, दक्षिण में चुन्देलखंडी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नरम पायी और लगभग ब्रजभाषा की रूपान्तर मात्र बन गयी। इन सबको ब्रजभाषा ने अपने अन्दर समाहित कर लिया। कन्नौजी तथा बुन्देलखण्डी में भूतकाल के "यो" के स्थान पर "औ" (गऔ, दऔ) इ के स्थान पर हमेशा "ह" तथा बुन्देलखण्डी में कुछ सर्वनामों में अनुस्वार के लगाने आदि विशेषताओं को ब्रजभाषा द्वारा सहज रूप में ग्रहण कर लेने के कारण इसका स्वतंत्र रूप ही नष्ट हो गया। दरअसल, तीन शताब्दियों

1. "The dialect of Braj is most important in the sense most faithfull representative of Sauseni speech. The apbhramsa Verse Quoted in the Prakrit grammar of Hemchandra (1018-1117 A D) are in saurseni speech which represent pre-modern stage of western Hindi- Origin and Development of the Bengali Language. P.P. 11

तक उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित ब्रजभाषा का स्वरूप इतना विशद एवं व्यापक हो गया था कि ब्रज की बोली का आधार होने के बावजूद भी वाद्‌य प्रभावों के कारण वह अत्यंत विनम्र एवं व्यापक हो गयी थी। अनेक भाषाओं के शब्दों से उसका शब्द–भण्डार सम्पन्न था तथा व्याकरण भी पूर्ण व्यापक हो गया था। यही कारण है कि अपनी समीपवर्ती बोलियों के अलावा अवधी के रूपों को भी ग्रहण करने में यह पूर्ण स्वतंत्र दिखायी पड़ती है।

ब्रज की बोली और साहित्यिक भाषा में आंशिक भिन्नता स्वाभाविक ही है क्योंकि कुछ ऐसे शब्द होते हैं जो सामान्य तौर पर तो बोलचाल में प्रयुक्त होते हैं परन्तु उनके लिखित एवं साहित्यिक रूप में कुछ अन्तर होता है। उदाहरण के लिए हम "कूँ" शब्द को ले सकते हैं, जो बोलचाल का शब्द है परन्तु साहित्य में इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं है, तथा वह साहित्यिक भाषा में "कूँ" की जगह कों, को, हो गया है। साहित्यिक ब्रजभाषा संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से भी पूर्णतः प्रभावित है। इसमें दूसरी भाषाओं के प्रयोग के समय ब्रजभाषा के व्याकरण और उसके उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया गया है। ब्रजभाषा की इसी प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए भिखारीदास ने लिखा है ---

"भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिले संस्कृत पारस्पयो, पै अति सुगम जो होय।।"[1]

इस प्रकार ब्रजभाषा में दूसरी भाषाओं के केवल उन्हीं शब्दों को अपनाया है जो बोलचाल में अत्यन्त लोकप्रिय थे तथा ब्रजभाषा की लोच, लचक तथा माधुर्य आदि गुणों की रक्षा करने में पूर्णतः

---

1. काव्य निर्णय – 1/14

समर्थ दिखायी पड़ते हैं। संक्षेप में दूसरी भाषाओं के शब्दों को व्याकरण के साये में ढालकर ही प्रयोग में लाया गया है।

काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा :-

भक्तकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने बज भाषा की जो सगौरव अभिवृद्धि की थी, रीतियुगीन कवियों ने उसे और अधिक सक्षम समर्थ तथा विशिष्ट बनाया। इस दृष्टि से रीतियुग की ब्रजभाषा भक्तिकालीन ब्रजभाषा का समुदाय रूप है जो अत्यधिक प्राणवान उदात्त तथा गरिमामय है। उत्तर मध्यकाल में काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा की स्थिति को हम निम्नालखित बिन्दुओं के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे -

(क) रीति परम्परा में ब्रजभाषा परिष्कार :-

रीति परम्परा में ब्रजभाषा का सम्यक विकास हुआ। रीति कवियों ने इसमें व्याप्क परिष्कार कर जो गौरवशाली व समृद्ध बनाया। वैसे तो रीतिकाल से पूर्व रीतिकाल से पूर्व भक्तिकाल में इसके विकास व संवर्धन हेतु बराबर किया जाता रहा लेकिन यह मात्र प्रयास बनकर ही रह गया। इसकी परमोन्नति रीतिकाल में ही दृष्टिगोचर होती है। भक्तिकाल को हम ब्रजभाषा का प्रयोगकाल तथा रीतिकाल को उसका उत्कंठ काल कह सकते हैं। कारण यह है कि भक्तिकालीन ब्रजभाषा साहित्य में कलात्मक प्रौढ़ि की कमी के कारण भाषा का वह लावण्यमय, माधुर्य तथा संवलित रूप दृष्टिगोचर नहीं होता जो रीतिकालीन ब्रजभाषा साहित्य में देखने को मिला है। रीतिकाव्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता कवियों की शब्द साधना में प्रस्फुटित हुई है। शब्द की योजना, उसका शोधकर, माँजकर प्रयोग करना, उसके भीतर माद-सौन्दर्य, अर्थ चमत्कार और अथक वैचित्र्य भरना यह सब रीति कवियों की सामान्य विशेषता है।[1]

---

1. हिन्दी रीति साहित्य - डॉ0 भगीरथ मिश्र, पृ0 -135

ब्रजभाषा को काव्योचित, महिमामंडित तथा कलात्मकता प्रदान करने में रीतिकवियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। इनकी भाषा की तुलना अंग्रेजी कवि टेनीसन की भाषा से दी जा सकती है जिसे मधुर, सुकोमल तथा कलात्मक शब्द शृंखलाओं से सुशोभित किया गया है। काव्य-रचना करने से पूर्व रीतिकवि भाषा को खूब माँजकर उसके एक-एक शब्द तुला पर तौलकर उसके अनावश्यक वजन की कांट-छाँट भी की थी। इस संबंध में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। भाषा का मार्जन तथा उसके अनगढ़ स्वरूप में परिष्कार करना कोमल भावनाओं को व्यंजित करने तथा तदनुरूप शब्दों में ढालने हेतु नितांत आवश्यक है। इस संबंध में सुमित्रानन्दनपंत का कहना है कि --- "जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में भावों के ढाँचे में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरल, प्रांजल कर लेना पड़ता है।"[1] जबकि ओपेन चारफील्ड का मत है कि --- "काव्य भाषा में शब्दों का चयन और उनका कलात्मक विन्यास इस प्रकार होना चाहिए जिससे सौन्दर्यमयी कल्पना का सहज रूप व्यक्त हो सके।"[2]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऐसे रीति कवि जो काव्यभाषा की नाड़ी को भली-भाँति परखने में असमर्थ रहे, उन्हें उतनी उपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी जितनी मिलनी चाहिए थी। उनकी रचना को भाषा के साहित्यिक उत्कर्ष के लाभ से भी वंचित होना पड़ा। लेकिन जो कवि भाषा-प्रयोग में सावधानी बरतने में सफल रहे उन्हें निश्चय ही अधिक सफलता मिली है। ब्रजभाषा-परिष्कार की दृष्टि से रीति कवियों में देव का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा

---

1. पल्लव भूमिका भाग – सुमित्रानन्दन पंत, पृ0 – 51
2. पोयटिक डिक्शन – ओवेन वारफील्ड, पृ0 – 13

सकता है। उन्होंने ब्रजभाषा के उत्कर्ष हेतु अविस्मरणीय प्रयास किया। वैसे तो ब्रजभाषा के विकास, संवर्द्धन एवं उसके परिष्करण में अनेक रीति कवियों को योगदान रहा लेकिन देव, पद्माकर, बिहारी तथा घनानन्द का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन कवियों ने ब्रजभाषा को लोच, प्रवाह, नादन्विति, अर्थवत्ता तथा कसावट से पूर्ण बनाया। उसमें परिष्कार कर, साहित्यिक रूप प्रदान किया। भाषा–परिष्कार, साहित्यिक उत्कर्ष तथा प्रकृति सौष्ठव की अभिवृद्धि में इन कवियों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इस संदर्भ में पद्माकर का एक उदाहरण देखिये ---

"आम को कहत अमिलो है, अमिलो का आम,
आक ही अनारन को ओकिबो करति है।
कहें पद्माकर, तमालन को ताल कहें,
तालनि तमाल कहि ताकियो करति है।।
"कान्हे–कान्ह" कहूँ कहि कदली कलम्बन को,
मेंटि परिरंजन में छाकियो करति है।
साँवरे जू रावरे यों बिरह बिकानी खाल,
बन–बन बावरी लौं बाकियो करति है।"[1]

प्रोक्त छन्द में भाषागत कलात्मक लोच की जैसी अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है, वैसी अत्यन्त दुर्लभ है। प्रायः नादान्विति ही पद्गालर के काव्य की प्रमुख विशेषता है। परन्तु प्रोक्त छन्द में नाद् -प्रभाव बिल्कुल नहीं है। भाषा की सहजता तथा विशिष्ट शब्द–विन्यास के कारण इसकी प्रभावात्मकता में अभिवृद्धि ही हुई है। भाषा की प्रभविष्णुता के कारण पद्माकर रीति काव्य परम्परा के ऐसे कवि हो गये हैं। जिनकी काव्यात्मक अभिव्यंजना सहृदयों को बराबर प्रभावित करती रहेगी। भाषा में प्रयुक्त शब्दों का कौशलपूर्ण

---

1. पद्माकर पंचामृत – सं0पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द सं0–659

विन्यास उनके काव्य की प्रवाहमयता को घोषित करता है। इन्होंने प्रत्येक शब्द को मोती की लड़ियों की भाँति गूँथकर उसमें एक विशिष्ट दीप्ति उत्पन्न की है। एक उदाहरण दृष्टव्य है ---

चँद की छटान जुत, पन्नग पटान जुत,
मुकुट बिराजे जटा जूटनिक के जूरे को।
देखी त्रिपुरारि की उदारता अपार,
जहाँ पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को।।"[1]

प्रोक्त छन्द में शब्दों के विशिष्ट ग्रंथन के कारण भाषा प्रवाहपूर्ण हो गयी है।

इसी प्रकार घन आनंद की भाषा अन्य कवियों की भाषा से सर्वथा पृथक प्रतीत होती है। उनकी कथन-विधि या शैली पर ध्यान देने से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि वे, "भाषा-प्रवीन" हैं। भाषा - प्रयोग में उनका कोई सानी नहीं। शब्दों में नयी-नयी व्यंजनाएँ भरना, सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहरे भावों को शब्दों में मूर्त करना उनकी प्रमुख विशेषता है। शब्दों में आवश्यकतानुसार लोच, संकोच, विस्तार, वक्रता आदि उत्पन्न करने में वे पटु थे। इन्होंने ब्रजभाषा को परिष्कृत करके उसे रमणीय बनाया है। यद्यपि अनेक महारथियों ने उनके पूर्व ब्रजभाषा में रचनाएँ की थीं लेकिन घन आनंद जैसा लालित्य, उनकी सी मधुरता उनमें नहीं मिलती। ब्रजभाषा-पारंगत होने के कारण उनके काव्य में सरसता आद्यन्त मिलती है। उनका भाषा पर असाधारण अधिकार था तथा वे ब्रजभाषा की नाड़ी पहचानते थे। उनके शब्द प्रयोग अभीष्ट लक्ष्यपूर्ति में सहायक हैं। शब्दक्रीड़ा से इन्होंने बड़ी गूढ़ भाव-व्यंजनाएँ की हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है ---

---

1. पद्माकर पंचामृत, सं0 पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द सं0 - 1

"रीझ तिहारी न बूझि परै असो बूझति हैं कहौ रीझत काहैं।
बूझि के रीझत हौ जु सुजान किधौं बिन बूझ की रीझ सराहैं।
रीझ न बूझौ तऊ मनरीझत बूझि न रीझेहूँ और निबाहैं।
सोचनि जूझत मूझत ज्यो घन आनंद रीझ और बूझहि चाहै।।"[1]

घनआनंद के शब्द-प्रयोग भी अनूठे एवं बेजोड़ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने **"लागिये रहै"** अथवा **"अनौलियै"** आदि ऐसे प्रयोगों के माध्यय से शब्दों को कुछ खींचकर या टेढ़ाकर उन्हें नया जीवन अथवा नवीनार्थ में प्रतिष्ठित किया है। षौंडव, जीवन, तौडव आदि शब्दों की असाधारण संधियाँ भी मात्रा बिछाने की दृष्टि से की गयी हैं। यही कारण है कि उनका काव्य मात्रा या लय संबंधी दोष से रहित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी नाद-व्यंजना की बड़ी प्रशंसा की है। यहाँ तक कि एक कवित्त में उन्होंने मृदंग की ध्वनि की रमणीयता का उल्लेख तक किया है[2]

"जगत के प्रान ओछे बड़े को समान,
घन आनंद निधान सुखदान दुखियान दै।"

घनआनंद और पद्माकर की सी भाँति विशिष्ट शब्द-प्रयोग और कलात्मक सौष्ठव के कारण बिहारी और देव की भाषा अन्य कवियों से भिन्न नजर आती है। बिहारी के संबंध में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि वे शब्दों के चतुर शिल्पी हैं।"[3] ब्रजभाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। उनको शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख थी। शब्द और वर्ण उनके दोहों में नगों के समान जड़े हैं और रत्नों की आभा बिखेरते हैं। शब्द को माँजने, चमकाने,

---

1. घन आनंद ग्रंथावली (सुजानहित) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द – 75
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 345
3. ए स्केप आफ हिन्दी लिटरेचर, ग्रीब्ज, पृ0 – 69

मोड़ने और सँवारने की कला में बिहारी सिद्धहस्त हैं। उनकी रचना में ब्रजभाषा अपनी प्रौढ़ता और भाव सम्पन्नता में इठलाती हुई चलती है -- वह लय और गति, संगीत और नर्तन की विशेषताओं से युक्त है। उनकी भाषा प्रांजल, प्रौढ़, मधुर और सरस है। निम्नलिखित उदाहरण इसके प्रमाण है[1] ------

"अंग-अंग नग जगमगति, दीप शिखा सी देह।
दिया बुझाए हूँ रहै, बड़ौ उजेरो गेह।।
रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन।।
देसरि देसरि क्यों सके, चम्पक किसक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जात रूप को रूप।।"

इसीलिए इनकी भाषा के संबंध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है कि -- "बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पायी जाती है।"[2]

भाषा-परिष्कार, साहित्यिक उत्कर्ष तथा प्रकृति सौष्ठव की अभिवृद्धि की दृष्टि से देव के योगदान को भुलाना आसान नहीं है। भाषा के परिष्करण तथा भाव व्यंजना के अनुसार शब्द-निर्माण में देव ने जैसी मर्मज्ञता दिखायी है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी प्रमुख विशेषता वह है कि तुकाग्रह के कारण जैसा शब्द-विन्यास इन्होंने चाहा ठीक उसी तरह की शब्दावली उनके काव्य में अपने

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 - 363

2. हिन्दी साहित्य का अतीत, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ0 - 642

आप आ गयी। काव्यात्मक सौन्दर्य की गरिमा को ध्यान में रखते हुए अपने काव्य में उन्होंने यत्र–तत्र चक्करदार शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। परिणामस्वरूप यदा–कदा भली–भाँति अर्थ–ग्रहण में परेशानी भी होती है। फिरी भी उनके ऐसे प्रयोग भाषा की समृद्धि और उत्कर्ष की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः शब्दों का प्रचुर भंडार रखने वाला कवि ही ब्रजभाषा रीतिकाव्य में तुकों की ऐसी उल्टी–सीधी बंदिश कर सकता है। देव का तुक–प्रयोग स्वयं में विलक्षण एवं अद्वितीय है। इन्होंने ब्रजभाषा का परिष्कार कर, शब्दों को नवीन रूप प्रदान कर उस पर नयी पालिश चढ़ाकर ही प्रस्तुत किया है जो अन्य कवि नहीं कर सके हैं। इस दृष्टि से एक उदाहरण देखिये ––

"वृन्दावन आली वनमाली बिन सूनो देव देखे दूनो ऊनो मानै सब सहचर
कूदत न मृगज धनक मूँदे साखामृग आस हम बूँद बरसन रोझ रहचर।।
ऊँचे चढ़ि टेरि–टेरि हारी हम हेरि–हेरि मूढ़ भये ढूँढंत अगूढ़ गूढ़ महचर।
चरण सरोज क्षिति हुवे न फिरेयन के गैयन के खीजन चिरैयन के चहचर।।"[1]

प्रोक्त छन्द में कवि की प्रयोग–दृष्टि देखते ही बनती है। सहचर, रहचर, महचर और चहचर में मात्र **"सहचर"** शब्द ही अधिक प्रचलित है। लेकिन देव ने जोड़ मिलाने की दृष्टि से ही उसी प्रकार एवं वजन के शब्दों – रहचर, महचर तथा चहचर को प्रयुक्त किया है। इस बात से भाषा को समृद्धशाली एवं परष्कृित रूप देने में उनके अद्वितीय प्रयास का पता चलता है। अन्य रीति कवियों की तुलना में इनका भाषाधिकार कुछ अधिक ही है। एक उदाहरण देखिये ––

"मदन के मोद भरी यौवन विनोद भरी,
मोदी की वधू की दुति देखि दिन दूनी सी।

---

1. **सुख सागर तरंग–द्वेय, छन्द – 569**

चाउर है चित में चितौत दारि देन राखे,

बात बोल मीठी खंखड़ ध्विते न ऊनी सी।

राज बाट दीप बाट पारत बटोहिन को,

बाह बिन तोले मन आँखिन में खूनी सी।

चूनरि सुरंग अंग इंगुर के रंग देव,

बैठी परचूनी की दूकान परचूनी सी।।"[1]

प्रोक्त छन्द में भी कवि ने **"परचूनी"** के समान शब्द जोड़ने के लिए सप्तमी विभक्ति "पर" के साथ "चूनी" (चुन्नी) को जोड़कर यह सिद्ध कर दिया है कि वे एक तुक के व जन पर ठीक उसी प्रकार के तुकों की रचना करने में अत्यन्त कुशल हैं। देव के भाषा के साहित्यिक लावण्य की अभिवृद्धि के पीछे ऐसे प्रयोगों का ही हाथ है। इस प्रकार रीतिकाल में ब्रजभाषा का जितना परिष्कार हुआ उतना किसी युग में नहीं। भक्तिकालीन ब्रजभाषा साहित्य में काव्यात्मक अभिव्यंजना की वैसी प्रौढ़ता दृष्टिगोचर नहीं होती जैसी रीतिकाल में। उसका कारण यह था कि इस युग की भाषा की कलेवर अपुष्ट था। इतना ही नहीं अभिव्यंजना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मार्ग उपयुक्त शब्दों के अभाव में अधिकतर व्यक्त नहीं हो सके। लेकिन रीतिकाल में ब्रजभाषा अपने विकास ओर अलंकरण के तमाम रास्ते अपना चुकी थी। वह अन्य भाषा के शब्दों को अपने साँचे में ढाल कर प्रयुक्त हो रही थी। इसीलिए डॉ0 नगेन्द्र कहते हैं कि --- "इधर अपने सहज गुणों के कारण इसने भी स्वदेशी-विदेशी, भिन्न-भिन्न भाषाओं से काव्योचित शब्दों को ग्रहण कर अपना समुचित विस्तार और विकास किया और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के अतिरिक्त अवधी, राजस्थानी तथा अन्य प्रांतीय बोलियों के व्यंजक तथा अन्य कोमल ध्वननशील शब्दों से इसका भण्डार भर गया। उधर फारसी के अनेक शब्द ब्रजभाषा के सांचे में ढलकर सर्वथा उसी के अंग बन गये।"[2] कहने का तात्पर्य

---

1. सुख सागर, तरंग-देव, छन्द - 270
2. देव तथा उनकी कविता, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 - 203

यह है कि रीति–परम्परा में ब्रजभाषा का व्यापक परिष्कार एवं विकास हुआ।

(ख) कृष्ण भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त रूप ––

उत्तर मध्यकाल के कृष्ण–भक्त कवि पूर्णतः पूर्व मध्यकालीन परम्पराओं से ही ग्रसित जान पड़ते हैं। चूँकि इस युग में लौकिक शृंगार की और रीतिबद्ध काव्य की प्रधानता थी इसीलिए इस युग में विवेच्य धारा गौड़ पड़ गयी। कृष्ण भक्त कवियों ने ब्रजभाषा के विकास तथा उसके रूप निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन कवियों ने संस्कृत शब्दों के माध्यम से सामान्य एवं सर्वसाधारण भाषा को गोरवपूर्ण, तद्भव शब्दों की काँट–छाँट से बोली को सुसज्जित करने हेतु प्रतिपायानुकूल कोमल तथा विदेशी शब्दों को अपनी–अपनी ध्वनियों में ढालकर उनके प्रयोग के माध्यम से भाषा को पूर्ण व्यापक एवं समृद्धिशाली बनाने का प्रयास किया। प्रायः विवेच्य कवियों ने व्याख्यात्मक तथा कल्पना प्रधान अप्रस्तुत योजनाओं के चमत्कारिक स्थानों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। तद्भव शब्दों का प्रयोग लीला–प्रधान अनुभूत्यात्मक और विवरणात्मक स्थलों पर तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग तो प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। परन्तु ये विदेशी शब्द ब्रजभाषा के ही रंग में रंग गये हैं। इसलिए भाव–बोध में कोई कमी नहीं आने पायी है।

कृष्णभक्त कवियों ने भाषा को समृद्ध एवं व्यापक बनाने तथा उसे गरिमापूर्ण एवं परिष्कृत बनाने के लिए ही संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। इन कवियों ने संस्कृत के शुद्ध शब्दों को न अपनाकर उसको ब्रजभाषा की ध्वनियों में ढालकर सरल एवं सरस बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयास ने उसे इतना नया रूप प्रदान कर दिया कि उसका मूलांश अत्यल्प ही शेष रह गया।

कठिन उच्चारण वाली यात्रिक की ध्वनि ब्रजभाषा की मधुर प्रकृति के विपरीत कर्कश एवं कठोर थी उन्हीं शब्दों में ही कृष्ण भक्त कवियों ने परिवर्तन किया है। संस्कृत के इन शब्दों को इन कवियों ने ब्रजभाषा के रूप में परिवर्तित कर दिया। भाषा में संगीतात्मकता, लयात्मकता तथा माधुर्य की अभिवृद्धि के लिए ही इन शब्दों में परिष्कार किया गया। संस्कृत के तत्सम शब्दों के इस रूप परिवर्तन में कृष्णभक्त कवियों ने पूर्ण स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। आज ब्रजभाषा के विपुल शब्द भंडार के पीछे इनकी अतिशय उदारवादी प्रवृत्ति की ही मुख्य भूमिका रही है।

अनन्य अली की भाषा में द्वित्व, संयुक्त एवं कटु–वर्गों से रहित शब्दों में ही संस्कृत का मूल रूप विद्वमान है जबकि वृन्दावनदास ने पूर्ववर्ती भक्त कवियों के हाथ में आकर ब्रजभाषा के शब्द बनने वाले ही संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। श्री **"हठी जी"** की भाषा में तत्सम शब्दों का शुद्ध रूप बहुत कम मिलता है। उन्होंने अर्थ तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुतायत किया है। श्री भगवत रसिक ने व्याख्यापरक स्थलों तथा अलंकार–प्रधान भाषा में शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। व्याख्यापरक स्थलों में तत्सम–प्रधान भाषा का रूप द्रष्टव्य है –––

"संचित क्रिया प्रारब्ध, कर्म दुख जाइ सर्व मुचि,
भगवत रसिक कहायक्रिया त्यागै अपनी रुचि।[1]
भगवत रसिक अनन्य मन और श्यामरंगरात,
अमरकोश के धूम सौं मृग मद छोड़ि न जात।।"[2]

इसी प्रकार अप्रस्तुत–योजना में तत्सम् प्रधान भाषा का सा रूप द्रष्टव्य है –––

---

1. **निम्बार्क माधुरी, पृ0 – 373 पद – 91**
2. **वही, पृ0 – 373, पद – 86**

"द्वै दामिनि के बीच में धन एक विराजे,
रूप अनूपम अद्‌भुत माधुरी छवि वाजै।
इन्द्रधनुष नहिं देखिए वगमांतिन भाये,
मंद मंद मृदुयोरसों सुर शब्दन गाजे।।"[1]

कृष्णभक्त कवियों में घन आनन्द का नाम महत्वपूर्ण है। इन्होंने अपने अथक प्रयास से ब्रजभाषा को विशुद्ध सरस समृद्धिशाली एवं परिमार्जित रूप प्रदान किया। अभिधा लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों के प्रयोग के कारण इनकी भाषा उत्कृष्ट हो गयी है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा --- "भाषा पर जैसा अचूक अधिकार उनका था वैसा किसी कवि का नहीं। भाषा मानों उनके हृदय के के साथ जुड़कर उनकी पथवर्तिनी हो गयी थी कि वे अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे।"[2] घन आनंद ने भी अन्य युगीन कृष्णगत कवियों की भाँति स्तुतियों में तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण देखिये --

(क) "जयति जयति नरसिंह प्रहलाद आरसिहरन वत्सल विपुल तल विनोदककारी।
पूरन प्रताप अरितम-विहंडन खंड खंडनि प्रचंड जससुंडयारी।
सर्वथा सर्वदा सुदृढ़ सम सर्वत्र सम्यक सुतंत्र सामर्थिधारी।
सत्य संकल्प-संदोह संसर्ग संग्राम वृंभा अतुरसंघहारी।
अरुन अति वरुन ग्रीषम रात्रि तरनि बरन वर सोच मोचन विलोचन विहारी।
सुर तनक सुक स्वयंभू संभु संस्तुत महा मंगलकरन अभयनारी।
बंदन करों कृपाधाम अभिराम पद भूभार टारन अटल मुरारी।
तृषित जन दुखित परितोष पोषन भरन आनंदघन अखंडित खिलारी।।"[3]

---

1. **निम्बार्क माधुरी, पृ0 – 361, पद – 24**
2. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 – 337**
3. **घन आनंद ग्रंथावली (पदावली) सं0 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पद – 196**

(ख) "जयति रोहिनीनंदन विक्रम–विपुल
अतुल कलधाम अब्दुल कृपानिधि।
जयति गोर सुंदर बरन नील–अंबर–धरन
एक–कुंडल–करन आभा विविधि।
जयति ब्रह्म–अग्रज ब्रज–विलास मंगलसदन
कामयालक सदा मत्त–दसरंग–रिधि।
कलना–सुदृष्टि आनंदघन वृष्टि करि,
तापमोचन देत परम सुखसिधि।।"[1]

प्रोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने तत्सम शब्दों को ब्रजभाषा के साँचे में ढालकर ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। कृष्णभक्त कवियों में सहचरिशरण का भी नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनकी रचनाओं में भी तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। यथा ---

"पीन पयोधर अति उतंगवर परवत शिवर सुहाती,
बाहू मृन्धन विशाल विलोचन दुखमोचन रसमाती।
सुखमा सुखद सकल सीमन्तानि तिनके ह्दय बत्योते,
मान मन्दमति चाहत अब लगि सबसे नाहि नत्योते।।"[2]

कृष्णभक्त कवियों ने तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों की भाँति ही तद्भव ओर देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। परन्तु इसमें भी इनकी कोई मोलिक प्रतिभा दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि तद्भव शब्दों का कोई साहित्यिक महत्व नहीं है क्योकि ये शब्द भाषा की समृद्धि व विकास तथा साहित्य को मोलिक रूप प्रदान करने में कभी भी सहायक नहीं हो सकते। इसलिए ब्रजभाषा के रूप में विकास में इसका कोई विशेष महत्व

---

1. घनआनंद ग्रंथावली(पदावली) सं0 आचार्य विश्वनाथ प्रसाम मिश्र, पद–919
2. सहचरिशरण, पृ0 – 431, पद–95

नहीं है। फिर भी कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में इन शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है ---

"प्यारी पिय सख्यिन सहित चोपरि खेलत बैठ,
यनपो मदनपुर चोहरे लगी रूप की पेठ।
नागरि पाते परन की इहि उपमा दरतान
हाथ रूप सर पे मनो लहरें निकसत जान।।"[1]

वेसे तो कृष्णभक्त कवियों ने सद्भाव तथा देशज शब्दों का व्यापक प्रयोग नहीं किया हे लेकिन यत्र-तत्र अश्लीसत्य एवं ग्रामीणत्व दोष अपनी सीमा का उल्लंघन कर बेठा हे। इस दृष्टि से एक उदाहरण प्रस्तुत हे ---

"जगत में देसन की ही भांड।
पेसन दिना गुरु को चेला, उसमें छाँड़े संड़।
जय तब योग विराग धानकी, पेसन मारी गाँड़।।"[2]

भारत में मुसलमानों के शासन के कारण फारसी को राष्ट्रभाषा का दर्जा मिला। शासन का केन्द्र होने के कारण आगरा में फारसी तथा विभिन्न विदेशी भाषाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। क्योकि ये ब्रजभाषा क्षेत्र के अति निकट थे। इसलिए फारसी, अरबी तथा तुर्की के शब्द उत्तर भारत में जन साधारण की बोलचाल की भाषा में समाहित होकर व्यवहूत होने लगे। भक्तिकाल में सूरदास जेसे कवि भी इस प्रभाव से बचने में असमर्थ रहे। रीतिकाल के कुछ कृष्णभक्त कवियों जेसे सहचरिशरण ओर नागरीदास की भाषा का विहंगावलोकन करने से यह बात ओर अधिक पुष्ट हो जाती हे कि हिन्दी के इतिहास में एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब हिन्दी की एक विशिष्ट शैली के रूप में फारसीयुक्त ब्रजभाषा अवश्य सुशोभित रही होगी। फारसी मिश्रित

2. निम्बार्क माधुरी – पृ0 – 354

1. नागर समुच्चय – नागरीदास, पृ0 – 14

हिन्दी भाषा के प्रयोग युग के प्रभावानुसार अवश्य किये गये होंगे। इस दृष्टि से नागरीदास के काव्य को देखा जा सकता है। इनकी रचना संक्रांतिकाल की ब्रजभाषा खड़ी बोली तथा फारसी के मिश्रण से निर्मित ब्रजभाषा की प्रतीक है! इन्होंने उर्दू शब्दों का भी व्यापक प्रयोग किया है। यथा --

"गोया आशना वे न थे कभी
तोते की सी आँखि भई फिरि देखत-देखत अभी।।"[1]

यह सहरिशरणदास की रचनाओं में संस्कृत तथा फारसी शब्दों का अद्भुत समन्वय तो देखते ही बनता है --

"मुख मृदु मंजु कहा खूबी यह गर्व गुलाब हरोगे।
चश्म चारु नरगिस अलमस्तां उर संकोच भरोगे।
छल्लेदार युगल जुलफे छवि सम्बुल छेल छरोगे।
सहचरिशरण संग ले गुलशन सैर सिताब करोगे।।"[2]

इनकी रचनाओं में तो यत्र-तत्र ब्रजभाषा के शब्द नाम-मात्र के मिलते हें। कहीं-कहीं विदेशी शब्दों का प्रयोग इतना अधिक हुआ हे कि हिन्दी का कहीं पता ही नहीं चलता। यथा ---

होना नहीं बिदरदां लाजिम आशिक तरफ तिहारे।
इश्क कहरदां वरईषद हँसि नजर दुरुस्त निहारे।
सहचरिशरण रसिक मुद मुर्दा जस खुशबोय बिहारे।
रस मस्ती करदा लखि तिनकी अलि अंग अंग निहारे।।"[3]

---

1. नागर समुच्चय - नागरीदास - पृ0 - 15
2. निम्बार्क माधुरी - पृ0 - 432
3. वही, पृ0 - 431

इसी प्रकार घन आनंद ने अपनी रचना **"इश्कलता"** तथा **"वियोगिबेलि"** में विदेशी एवं प्रादेशिक भाषा के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं ---

(क) पल पल प्रीति बढ़ाय हुआ बेदरद है।
ओसिक उर पर जान चलाई करद है।
ध्नी हुई महबूब सू मरम न छोलिये।
आनंद-जीवन ज्यान दया कर बोलिये।।"[1]

(ख) यारां गोकुलचंद सलोने दिया चस्म दा धक्का है।
ढोरि दिया घन आनंद जानी हुसन सराबी पक्का है।
सेन कटारी आसिर उर पर तै याराँ झुक झारी है।
महर-लहर ब्रजचंद याद दी जिंद असाडी ज्यारी है।।"[2]

(ग) दिलपसंद दिलदार यार तू मुजनूँ को तरसाँदा है।
रत्ति दिहाड़े तलब सुसाडी अक्कल इलम उडाँदा है।
मैंनूँ ध्यान आन नहिं जानी तू घन कुंज बिहारी है।
महर-लहर ब्रजचंद याद दी जिंद असाड़ी ज्यारी है।।"[3]

प्रोक्त उदाहरणों में फारसी ओर पंजाबी आदि शब्दों की प्रचुरता दर्शनीय है।

उत्तरमध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग पूर्वमध्ययुगीन कवियों की अपेक्षा कम हुआ है। कारण यह था कि पूर्व मध्ययुगीन कवियों की भाषा में चित्रात्मकता का प्राधान्य था जबकि रीतियुगीन कवियों में अलंकारों का। फिर भी अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग में विवेच्य कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की ही नकल की है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं ---

---

1. **घनआनंद ग्रंथावली(इश्कलता)** आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द-7
2. **वही, छन्द - 16**
3. वही, छन्द - 19

(क) झूमि-झूमि झुमकन, दिवि दमकन रमकनि रस सरसात।
झटकि-झटकि झट चटकि चट, लटकि लटकि लटकात।।"[1]

(ख) लहकि लहकि आवे, ज्यों ज्यों पुरवाई पोन,
दहकि दहकि त्यों त्यों तन ताँवरे तचे।
बहकि बहकि जात बदरा विलोके हियो,
गहकि गहकि गहबरनि गरें मचे।
चहकि चहकि डारे चपला चखनि चाहें,
केसे घन आनंद सुजान बिन ज्यो बचे।
महकि महकि मारे पावस-प्रसून-बास,
त्रासनि उसास देया को लों रहियो अचे।।"[2]

इस प्रकार प्रोक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर मध्यकाल के कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा के अत्यंत सरल और अकृतिम रूप को अपनाया। इन्होंने संस्कृत के तत्सम तद्भव एवं विदेशी शब्दों के प्रयोग से ब्रजभाषा को समृद्धएवं विकसित करने का प्रयास किया।

(ग) रीतिमुक्त कवियों के काव्य में ब्रजभाषा –

उत्तरमध्यकाल में सामान्य काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा को मान्यता मिल चुकी थी। यही कारण है कि जिस प्रकार रीतियुगीन कवि रीति-ग्रंथों का निर्माण कवि-पंथ पालन के लिए करते थे ठीक उसी उसी प्रकार काव्य रचना को सौन्दर्यशाली एवं समृद्ध बनाने तथा परम्परा

1. निम्बार्क माधुरी, रूप रसिक जी, पृ0 – 102
2. घन आनंद ग्रंथावली (सुजानहित) छन्द – 76

सुरपति, नरपति, भुजंगपति, सेनापति वंदित चरन।

राजाधिराज जय जय सदा, राम विश्वमंगलकरन।।"[1]

इनकी रचनाओं में विदेशी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, लेकिन इनकी संख्या बहुत कम है। सेनापति ने विदेशी शब्दों की ध्वनियों को हिन्दी में स्थापित कर दिया है। उदहरण के लिए – फारसी के **"पापोश"** का पइपोश, रोशन का रौशन, आशना का आसना तथा जयारी का ज्यारी आदि रुप बना डाला है।

घन आनंद की रचनाओं में ब्रजभाषा का उत्कृष्ट रूप देखने को मिला है। कांति गाम्भीर्य स्वच्छता, सुघड़ता, साधनासापेक्षता, एकरुपता तथा विविध प्रकार की अर्थमत्ता आदि उनकी भाषा के प्रमुख गुण हैं। भाषा–प्रवीन व्यर्पित ही उनकी कविता वह उसके भाषासौन्दर्य को समझ सकता है। इनके प्रशस्तिकर्ता ब्रजनाथ ने इसी बात को इस प्रकार कहा है ---

"नेही महाब्रजभाषा–प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।

जोग वियोग की रीति में कोविद, भावना–भेद–स्वरूप को ठाने।

चाह के रंगमैं भीज्यौ हियौ, बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानैं।

भाषा–प्रवीन सुवंद सदा रहे सो धन जी के कवित्त बखानै।।"[2]

घनआनंद के काव्य में ब्रजभाषा का गरिमामय रूप अपने अनावश्यक विस्तार से मुक्त होकर गम्भीर एवं उदात्त रूप में प्रतिष्ठित

---

1. कवित्त रत्नाकर– चौथी तरंग, छन्द–3
2. **घन आनंद ग्रंथावली (प्रशस्ति) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द–1**

के निर्वाह के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते थे। रीतिमुक्त कवि भी इससे अछूते नहीं थे। इन कवियों ने भी ब्रजभाषा को ही अपनी काव्यभाषा बनाया। इनकी रचनाओं में जो भाषा दृष्टिगोचर होती है उसमें शिल्प की कसावट तथा अर्थवत्ता की प्रचुरता है। इनकी भाषा उनकी अभिव्यंजनात्मक सामर्थ्य को समृद्ध करने में समर्थ, अत्यंत गंभीर तथा उदात्त है। भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों ने जिस ब्रजभाषा को समृद्धशाली एवं गौरवपूर्ण बनाया था उसी को इन कवियों ने और अधिक समर्थ तथा विशिष्ट बनाने का प्रयास किया।

रीतिमुक्त कवि सेनापति की काव्य–रचना में भाषा का स्वरूप निर्माण भारतीय आधारों पर ही हुआ है। उसमें प्रायः ऐसे ही शब्दों को प्रयुक्त किया गया है जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के साथ लोक जीवन में प्रयुक्त होते–होते घिस कर हिन्दी रूप में परिवर्तित हो गये हैं। कहीं–कहीं संस्कृत–प्रधान तथा द्वित्वप्रधान शब्दों का भी प्रचुर–प्रयोग मिलता है। प्रायः स्तुतियों एवं युद्ध–वर्णनों में कवि ने ऐसी ही भाषा को अपनाया है। संस्कृत–प्रधान भाषा का एक उदाहरण दृष्टव्य है ––

"भूषित रघुबर बंश, भक्त वत्सल भव खण्डन।
मुनि जन मानस हंस, विहित सीता मुख मंडन।
त्रिभुवन पालन धीर, वीर रावन मद गंजन।
उदित विभीषन भाग, धेय निज परिजन रंजन।

हुआ है। स्तुतियों में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, परन्तु इन शब्दों को ब्रजभाषा के साँचे में ढालकर ही प्रयोग में लाया गया है। यथा --

जयति रोहिनीनंदन उदार विक्रम-विपुल
अतुल बलधाम अच्युत कृपानिधि।
जबति गौर सुन्दर बरन नील-अंबर-धरन
एक कुंडल-करन-आभा विविधि।
जयति ब्रह्म-अग्रज ब्रज विलास मंगलसदन
कामपालक सदा मत्त-रसरंग रिधि।
करुना-सुदृष्टि आनंदघन वृष्टि करि
तापमोचन, देत परम सुखसिथि।"[1]

घनआनंद के काव्य में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का आधिक्य है। कारण यह है कि तत्सम शब्द ब्रजभाषा की प्रकृति के अधिक अनुकूल नहीं हैं। इनकी भाषा यद्यपि साहित्यिक ब्रजभाषा है फिर भी कहीं-कहीं ठेठ ब्रज के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं। यथा --

विध लै बिसारयौ तन कै बिसासी आपचारयौ
जान्यौ हुतौ मन तै सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भलीभाँति,
नीकै आहि असह उदेग-दुख सेल सो।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख
परयौ आय आंचक वियोग बैरी डेल सो।
रुचि ही के राजा जान प्यारे यौं अनंदघन
होस कहा हेरे रंग मानि लीनौ मेल-सो।।"[2]

---

1. घन आनंद ग्रंथावली (पदावली) छन्द - 919
2. वही (सुजान हित) छन्द - 194

प्रोक्त उदाहरण में बिसार्‌यौ, अपचार्‌यौ तथा डेस ब्रजभाषा के ठेठ शब्द हैं।

घन आनंद ने कुछ ऐसे शब्दों को भी प्रयोग में लिया है जो ब्रजभाषा काव्य के लिए बिल्कुल नवीन हैं। जैसे --- अझूनो, सवादिली, सरोटनि, अंगेर, ऊखिल, गादरी आदि। इन शब्दों के माध्यम से इन्होंने अभिव्यंजना शक्ति में तीव्र शक्ति संचरित कर दिया है जिससे उनका काव्य सौन्दर्य एवं माधुर्य से ओत-प्रोत हो गया है। इन्होंने कुछ जनपदीय शब्दों जैसे बेड़ी, पैछर, लपेर, संजोखे तथा बरहे आदि शब्दों का प्रयोग करके अपने शब्द-प्रयोग वैशिष्ट्य का परिचय दिया है।

घनआनंद के काव्य में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग श्रीप्रचुर में हुआ है। लेकिन इन शब्दों को उन्होंने अपने कथ्यानुसार ढालने का सफल प्रयास किया है। उनके विदेशी तथा विभाषीय प्रवृत्ति को परिवर्तित करने के लिए घन आनंद ने अरबी-फारसी की ध्वनियों को अपने ढंग से परिवर्तित कर उसे ब्रजभाषा की प्रवृत्ति में ढालने का प्रयास किया है। जैसे फानूस का पानुस, बेइन्साफ का बेनिसाफ, आदित्व का दित्व, अकल का अवकल तथा अंदेशा का अंदेसो बनाकर इसे ब्रजभाषा के अनुसार परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है। घनआनंद अपने भावानुसार शब्दों का सृजन करने में सिद्धहस्त हैं। इससे भाषा में एक नवीनता अर्थवत्ता आ गयी है। भूतागति, भलभूर, हहरि, रसमसे आदि ध्वन्यर्थ - व्यंजक शब्द इसके प्रमाण हैं। कुछ शब्दों में तथा लज्जा से लजाति आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि घन आनंद ने शब्दों के इन विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से भाषा का समृद्ध एवं सशक्त बनाया है। व्याकरण की दृष्टि से इनकी भाषा सर्वथा शुद्ध है। भाषा का इतना शुद्ध प्रयोग अन्य युगीन कवियों में नहीं मिलता।

बोधा की भाषा में घन आनंद की भाषा की अपेक्षा कुछ भिन्नता है। इनके काव्य में घनआंनद की भाँति ब्रजभाषा का संस्कारित, परिष्कृत एवं व्यापक रूप नहीं मिलता। इसमें संस्कृत और अरबी–फारसी के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है। इनके काव्य में संस्कृत की तमाम ऐसी ध्वनियों का शुद्ध निर्वाह हुआ है जो ब्रजभाषा में आकर परिवर्तित हो जाती हैं। तत्सम शब्दों का बड़ा ही सुगम एवं सरल प्रयोग बोधा के काव्य में देखा जा सकता है। इनके काव्य में परम्परागत ऐसे तत्सम शब्दों का भी प्रयोग मिलता है जो प्रयोग की तान पर चढ़कर सुडौल एवं सुगठित बन चुके थे। यही कारण है कि इनके काव्य में अन्य कवियों की अपेक्षा सरलता एवं स्वाभाविकता का प्राचुर्य है। तत्सम–प्रधान भाषा का एक उदाहरण देखिये --

"तिलक भाल बनमाल अधिक राजत रसाल छवि।
मोर मुकुट की लटक चटक बरनत अटकल कवि।
पीताम्बर फहरात मधुर मुसकान कपोलन।
रच्यो रुधिर मुखपान तान गावत मृदु बोलन।
रति कोटि काम अभिराम अति दुष्टनिकंदन गिरिधरन।
आनंदकंद ब्रजचंद प्रभु(सु)जय जय जय असरनसरन।।"[1]

बोधा ने अरबी–फारसी शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग भी किया है। ऐसे शब्दों में इन्होंने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। इस दृष्टि से एक उदाहरण प्रस्तुत है ---

"पहिचाने प्रेम रकाने जे बेपरद दरद दरियाव हिलै।
मगरूट दिखाते आखिर या दिलसूर प्रेम को पंथ पिलै।
तकि तबियेदारर उदारवाहि अरु गनै न थक दै नैन झिलै।

---

1. बोधा ग्रंथावली (विरहवारीश) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द – 2

तब खूब इश्क बोधा आसिक जब महिरबान महबूब मिलै।।"[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि बोधा, घन आनंद की भाँति ब्रजभाषा का विशुद्ध प्रयोग करने में असमर्थ रहे हैं।

ठाकुर की काव्यभाषा यद्यपि ब्रजभाषा ही है परन्तु उसमें बुन्देलखण्डी, संस्कृत के तत्सम एवं अर्द्धतत्सम शब्दों की अधिकता तथा फारसी अरबी शब्दों को कलात्मकता या चारुता परिलक्षित होतो है। इन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा को शालीन एवं संभ्रांत बनाने के लिए ही किया है। यथा ---

"सीख लीन्हौं मीन मृग खंजन कमल नैन
सीख, लीन्हौं यश औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हौं कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि
सीख लीन्हौं मेर और कुवेर गिर आनो है।
चाको नहीं भूलि कहूँ बाँथियत बानो है।
डेलसो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।।"[2]

ठाकुर के काव्य में तदभव शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। तद्भव शब्दों को ब्रजभाषा की प्रकृति में ढालने का इनका प्रयास सराहनीय है। इनकी रचनाओं में अरबी–फारसी शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। ठाकुर ने ऐसे शब्दों का प्रयोग मात्र कलात्मक अभिरुचि के कारण किया है। यथा --

"मीरजादे परिजादे अलग अमीरजादे,
साहेब पकीरजादे जादे आए खो रहै।

---

1. बोधा ग्रंथावली (इश्कनामा) छन्द – 33
2. ठाकुर–ठसक – सं0 लाल भगवानदीन – छन्द – 90

रावजादे राइजादे साहुजादे शाहजादे
कुल के असील जादे नींद में ही सो रहे।
ठाकुर कटत कलिकाल के कहर माँह,
पहर, पहर पर भारी भय ओ रहे।
दान किरवान सगै ग्यान गुन स्थान समै,
सब जादे मिटि कै हरामजादे हो रहे।।"[1]

ठाकुर का काव्य बुन्देलखण्डी से भी प्रभावित है। वस्तुतः ब्रज, बुन्देलखण्डी एवं खड़ीबोली एक ही भाषा खैरसेनी की विभिन्न शाखाएं हैं।"[2] इसलिए बुन्देलखण्डी का ब्रजभाषा में कम या अधिक मात्रा में प्रयुक्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बल्कि यह तो नितांत स्वाभाविक है। कहीं-कहीं अन्य भाषा के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वे संख्या में बहुत कम हैं। आलम की भाषा ब्रजभाषा के मुख्य गुण मिठास एवं माधुर्य से परिपूर्ण हैं। इनकी भाषा के संबंध में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का कहना है कि -- "मुक्तकों की भाषा साहित्यिक ब्रजी है, न कि सूर की तरह चलती ब्रजी और न ही घन आनंद की तरह शुद्ध ब्रजी। भाषा प्रसादपूर्ण है -- उसमें न तो अरबी-फारसी के अप्रचलित शब्द हैं और न तत्सम। भाषा का प्रवाह इतना स्वच्छ और बाग्धारा इतनी आवेगमयी है कि पाठक यदि थोड़ा भी साहित्यिक संस्कार का है तो उसे रसमग्न होने में कोई विघ्न नहीं आती।"[3] इनके काव्य में प्रयुक्त तत्सम शब्दों का एक उदाहरण देखिये --

"लता-प्रसून डोल बोल कोकिला अलाप केकि,
लोल कोक-कंठत्यों प्रचंड भृंग गुंज की।
समीर बास, रास-रंग रास के विलास बास,

---

1. ठाकुर-ठसक-सं० लाल भगवानदीन-छन्द-145
2. आचार्य केशवदास- डॉ० हीरालाल दीक्षित, पृ० - 186
3. आलम ग्रंथावली (भूमिका से) सं० विद्यानिवासमिश्र - पृ० -24

पास हंसनंदिनी हिलोर केलि–पुंज की।

आलम रसाल बना, मान ताल काल सी,

बिहंग बाथ देगियलि चित्त लाज लुंज की।

सदा बसंत हंस लोक–ओक देव–लोक से,

विलोकि रीझि रही पाँति भाँति सों निकुंज की।।"[1]

इनके काव्य में तद्भव शब्दों की भी प्रचुरता है। लेकिन उन्होंने उसे हिन्दी ध्वनियों के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है। जिससे भाषा की चारुता और उसके प्रवाह में कोई कमी नहीं आने पायी है। इन्होंने कुछ कवित्त रेखता नाम से भी लिखे हैं जिसमें अरबी, फारसी शब्दों का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली तथा कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषा के शब्दों के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। इनकी भाषा पूर्णतः व्याकरणसम्मत नहीं है।

द्विजदेव ने अपने काव्य में ब्रजभाषा का उत्कृष्ट एवं प्रतिमित रूप प्रस्तुत किया है। इन्होंने भाषा–प्रयोग में परम्परागत ब्रजभाषा के प्रयोग पर विशेष बल दिया है। संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और इससे उत्पन्न कुछ अन्य बोलियों तक के प्रयोग के माध्यम से द्विजदेव ने अपने काव्य को सजाने–सँवारने का प्रयास किया है। इनके काव्य में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों प्रचुर प्रयोग मिलता है। परन्तु कवि ने केवल प्रचलित तत्सम शब्दों को ही प्रयोग में लिया है। यथा – कपोल, भूमि, अतुराग, उपकार, साम, रजनी, मधुकर, मोहन आदि। इसी प्रकार तद्भव शब्दों के प्रयोग में भी द्विजदेव अत्यन्त सजग दिखाई पड़ते हैं। केवल ऐसे शब्द ही उन्होंने प्रयुक्त किये हैं जो जन साधारण में सर्वदा प्रचलित हैं तथा जो परम्परा से प्रयुक्त होते आ रहे थे। जैसे –– नाथ साँति, साँझ, पयान, सावन, कान्ह, मीस आदि। इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्तीय, अरबी, फारसी शब्दों के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इन शब्दों को उन्होंने ब्रजभाषा के अनुरूप गढ़ने को प्रयास किया है।

---

1. आलम ग्रंथावली–सं0 विछानिवास मिश्र – छन्द – 245

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिमुक्त कवियों ने ब्रजभाषा का उत्कृष्ट एवं व्यापक प्रयोग किया है। इन कवियों की भाषा प्रवाहपूर्ण तथा रसानुकूल भी अधिक है। ब्रजभाषा का अकृत्रिम, ऋजु, सम्मत तथा सहज प्रयोग करके इन कवियों ने अपने काव्य को रस एवं माधुर्य से सराबोर कर दिया है। इनकी भाषा में शिल्प की कसावट तथा गंभीर अर्थवत्ता का प्राधान्य है। इनकी भाषा अभिव्यंजनात्मक सामर्थ्य को समृद्ध करने में समर्थ तथा सहायक सिद्ध हुई है। व्याकरण की दृष्टि से ब्रजभाषा का जैसा शुद्ध प्रयोग रीतिमुक्त काव्य में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुलर्भ है।

**
****
**

चतुर्थ – अध्याय

चतुर्थ अध्याय

बोधा की काव्य भाषा की निर्माण प्रक्रिया

(क) आधारभूत भाषा : ब्रजभाषा का सहज स्वरूप :-

ब्रजभाषा एक प्राचीन एवं मुख्य भाषा है। यहाँ तक कि कुछ दिनों तक यह एक बडे क्षेत्र की राष्ट्रभाषा भी थी। इसका आभिर्भाव संस्कृत धातु "ब्रज" (जाना) से हुआ है। प्रत्येक काल में ब्रज शब्द का व्यवहार परिवर्तित होता रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग ऋगवेद संहिता में मिलता है जहाँ चारागाह, बाड़े या पशु समूह के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में तद्‌भव रूप **ब्रज** अथवा **बृज** निश्चय ही मथुरा के चारो ओर के प्रदेश के अर्थ में मिलता है। इस प्रदेश की भाषा के लिए मध्यकालीन हिन्दी लेखकों के द्वारा केवल भाषा अथवा **भाषा** शब्द का ही प्रयोग होता था। यह प्रयोग केवल **"ब्रजक्षेत्र"** भाषा के लिए सीमित नहीं था बल्कि हिन्दी की अन्य साहित्यिक बोलियों के लिए भी प्रयुक्त होता था।[1] इसे डिंगल भाषा के विरुद्ध भी कहा जाता था। इसका विकास शारसेनी अपभ्रंश से हुआ है। ब्रज प्रदेश में बोले जाने के कारण ब्रजभाषा के नाम से जाना जाने लगा। इस प्रकार प्रारम्भ में प्राकृताभास अपभ्रंश का बोध कराने वाली भाषा कालान्तर में ब्रजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। ब्रजभाषा का आधार एवं उसके स्वरूप आदि की विस्तृत चर्चा तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में की जा चुकी है। इसलिए यहाँ उसका पिष्टपेषण करना आवश्यक नहीं समझता हूँ।

(ख) रीति कवियों की अलंकृत भाषा का प्रभाव :-

किसी भी काव्य में भव्यता व चारुता लाने के लिए अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य होता है क्योंकि इसी के माध्यम से कवि-कल्पना की उँची

---

1. ब्रजभाषा - धीरेन्द्र वर्मा, 16-17

उड़ाने उसके काव्य में स्फुरित होती हैं। अलंकार की कविता कामिनी के अलंकरण हैं। इसीलिए वामन और दण्डी ने क्रमशः "सौन्दर्यअलंकार"[1] तथा "काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकरान् प्रचक्षते"[2] कह कर इसके महत्व को स्वीकार किया। अलंकरण की प्रवृत्ति नयी नहीं है बल्कि यह तो भामह के पूर्व भी विद्यमान थी। कालिदास आदि विद्वानो ने ग्रंथों के साथ–साथ रुद्रदामन पुलुमायी और हरिषेण के शिलालेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तो अलंकरण की प्रवृत्ति ऋगवेद में भी मिलती है। राज दरबार, कवियों के पारस्परिक संबंध तथा धन और यश के साथ काव्य का सह–संबंध इस गात को और अधिक पुष्ट क़र देता है। अलंकरण प्रवृत्ति के रूप में सौन्दर्य चेतना का दूसरा रूप है परन्तु परिभाषित और आबद्ध हो जाने पर बुद्धिहीन प्रयोग के कारण यह अलंकारप्रियता में स्थापित हो जाता है। चूँकि अलंकरण अलंकारों का कारण है इसलिए अलंकारों के अस्तित्व से पहले अलंकरण की प्रवृत्ति का होना सुनिश्चित है।

काव्य रचना की दृष्टि से छठी शताब्दी कवि शिक्षा के प्रभाव, अलंकार और मुक्ति की मान्यता का काल प्रतीत होता है। इसका प्रमाण है भट्टि काव्य। काव्य का यही रूप भामह और दण्डी के सिद्धान्त–निर्माण में सहायक बना। इन दोनों ने दरबारों को स्वीकृत तथा उन कवियों द्वारा रचित उक्ति सूक्ति और बक्रोक्ति के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए काव्य के मनोरंजक रूप तत्व और विषय के ज्ञान को विदग्ध गोष्ठियों के लिए अनिवार्य बताया। अलंकरण की इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप अलंकारों की संख्या में बृद्धि के साथ–साथ "अलंकृतकाव्य" का का ही श्रीगणेश हुआ। इसका पूर्ण विकास रीतियुग में हुआ। इस युग का सम्पूर्ण साहित्यिक अलंकारिक चमत्कारों एवं अलंकृत भाषा से शोभा सम्पन्न हुआ है। इसका कारण यह था कि इस युग के अधिकांश कवि दरबारी थे इसलिए अपने आश्रयदाता को उनकी इच्छानुसार प्रसन्न करने के लिए ऐसी ही भाषा की आवश्यकता थी। फलतः रीतियुग में कविता को

---

1. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, 1/1/2
2. काव्यादर्श, 2/1

अलंकृत करने की परिपाटी अधिक थी। इस युग की मान्यता थी कि –

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषन बिनु न बिराज्ही कविता वनिता मित्त।।''

आचार्य केशवदास

इस युग में अलंकार लक्षण–ग्रंथो के साथ–साथ अलंकृत काव्य भी लिखे गये। अलंकार ग्रंथों एवं अलंकृत काव्य की अतिशयता के कारण ही मिश्रबन्धुओं ने इसे 'अलंकृतकाल'' की संज्ञा से अभिहित किया।

जहाँ तक रीतिमुक्त कवियों का प्रश्न है वे स्वच्छन्द थे। वे किसी परम्परा या परिपाटी में तो आबद्ध थे नहीं। उनकी अधिकाँश कविता सरल, निरलंकृत एवं भावा वैभवपूर्ण शैली में ही विरचित है। लेकिन इसके बावजूद रीतिकवियों की अलंकृत भाषा के प्रभाव से ये कवि बच नहीं पाये हैं। इनकी रचनाओं में यत्र–तत्र इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से घनआनंद के "सुजानहित" का नाम लिया जा सकता है जिसमें अलंकृत भाषा के प्रभाव के कारण एक ताजगी, नवीनता तथा विशिष्टाकर्षण है। उनका प्रत्येक छन्द किसी न किसी बाँकपन से युक्त है। अनुभूति जितनी ही गहरी होती है व्यक्ति उतना ही भावुक और प्रगल्भ होता है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति भी सरल एवं ऋजु न होकर यत्किंचित वक्र हो जाती है और यही वक्रता काव्य को अलंकृत कर देती है। एक उदाहरण देखिये – जिसमें कवि ने असाधारण कौशल और अलंकृत भाषा के माध्यम से जड़ जीव को उद्‌बुद्ध किया है –– तुमने बाल्यावस्था रूपी संध्या को हँस–रोकर तथा यौवन रूपी रात्रि को विषयरूपी मदिरा पीकर और सोकर गँवा दिया। अरे जड़! घातक (जीव) तू आनंदघन को छोड़कर संसार रूपी धुएं को मेघ समझने की भूलकर बैठा। अब से जाग जा। देखता नहीं कि केशों की ओर से सबेरा हो रहा है ––

लरिकाई प्रदोष में खेल खग्यौ हँसि वेग सु औसर खय दयौ।

बहुरौ करि पान विषै–मदिरा तरुनाई तमी मधि सोय गयी।

तजि कै रसमै घनआनन्द कौ जग धुन्ध सौं चातिक नेम लयौ।

जड़ जीव न जागत रे अजहूँ केसनि औरतें भोर भयौ।।"[1]

चूँकि घन आनंद का जीवनविषम परिस्थितियों और मनःस्थितियों का केन्द्र बिन्दु बन गया था इसलिए उनका प्रेम बिना बाँकपन के, स्थिति वैषम्य के निदर्शन के, बिना शब्द–विरोध के तथा अलंकृतभाषा के बिना व्यक्त ही नहीं हो पाता था। यथा –

"जल–बूड़ी जरैं दीठि पाय छू न सूझ करैं,

अमी पियें मरैं मोहिं अचिरज अति है।

चीर सों न ढकें, बानी बिन विधा बकैं,

दौरि परैं न निगोड़ी थकैं बड़ी भूतागति है।

खुलैं तारे लगें आँखे तारी त्यों न पगैं पिय,

नींद–भरी जगैं इन्हें अनोखिये रति है।

गुन बँधे कुल छूटैं आपे दै उदेग लूटैं,

उस जुरें इस टूटैं आनंद विपति है।।"[2]

आलम ने यद्यपि जानबूझकर अलंकारिक चमत्कार को अपनी काव्य में अनोखी कल्पनाएं मिलती हैं जिसमें भाषा में अलंकारिकता का उफान आ जाता है। यथा ––

"चितवत औरै लागै बोले औरै जाति जागै,

हँसे कदू औरैं रुसें औरई निकाई है।

अंग अंग मोहनी मोहन मन मोहिबे को,

---

1. घन आनंद ग्रंथावली (सुजानहित) छन्द – 399

2. घन आनंद ग्रंथावली (सुजानहित) छन्द– 51

ऐन–नैनी मानों मैन मोहनी बनाई है।

आलम कहै हो रूप आगेरौसमातु नाही,

छवि छलकति इहाँ कौन की समाई है।

भूषन कौ भारु है किसोरी वैस गोरी बाल,

तेरे तन प्यारी कोटिभूषन गुराई है।।"[1]

बोधा और ठाकुर के काव्य में निरलंकृत सहज एवं सरल भाषा का जो रूप दृष्टिगोचर होता है वह अन्यत्र दुर्लग्भ है। लेकिन कहीं–कहीं अलंकृत भाषा के प्रभाव से बच नहीं पाये हैं। यथा ––

"महाकाल कैधौं महा कालकूटे।

महाकालिका के किधौं केस छूटे।

किधौं धूमधारा प्रलैकालवारी।

किधौं राहुरुपै किधौं रैन कारी।।"[2]

प्रोक्त छन्द में संदेहालंकार का अनवरत प्रवाह है जो सहज और आवेग प्रसूत निर्वाह प्रतीत होता है। फलतः भाषा चमत्कारिक हो गयी है।

इसी प्रकार ठाकुर का भी एक छन्द देखिए जिसमें अलंकृत भाषा के माध्यम से नायिका की विरह दशा का मार्मिक चित्रण हुआ है –

"जब तें बिलोकि गयी रारवरो बदन बाल,

तब ते अचेत सी बियोग झार झुरई।

हेम की लता सी चपला सी चारु चाँदनी सी,

मदन सताई पे न में जनाई भुरई।

ठाकुर कहत भूमि विकल बिहाल परी

देखिये गोपाल ताहि उपमा न जुरई।

---

1. **आलम ग्रन्थावली (आलमकेलि)** छन्द–17

2. **बोधा ग्रन्थावली (विरह वारीश)** पृ0–202 छन्द –28

रति के भूँडार ते के चोराय मानो

काहू आनि मन्दिर में रूप–रासि कुरई"।[1]

द्विजदेव के काव्य में भी रीतियुगीन अलंकृत भाषा का प्रभाव देखिए– कृषक बन वीथिका में बिहार कर रहे हैं। वसंत सदृश वासन्ती रंग का उनका पीत वस्त्र है। उनका मोर मुकुट वृक्षों पर बैठे मयूरों के समान है। उनका दुपट्टा मानो विजयपताका है तथा सम्पूर्ण संसार उनकी जय–जयकार कर रहा है। अतः श्रीकृष्ण साक्षात् वसंत सदृश ही प्रतीत हो रहे हैं।

"कटि काछनी काहें पितम्बर की धरें मोरपखन को मोरपखा।
द्विजदेव जू यों दुपटी फहरें, मनौं बोलत विस्व विजे करवा।
वह कौन धौं माधुरी मूरतिवारी अली! छवि नैननि जाकी चखा।
बिहरे चहुँधा बन बीथिनि बीच, मनोभव भूप को मानो सखा।।"[2]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि रीतिमुक्त काव्य भी रीतियुगीन अलंकृत भाषा से यत्किंचित प्रभावित अवश्य हुआ है।

(ग) दरबारी संस्कृति का प्रभाव :–

रीतिकालीन हिन्दी साहित्य अधिकांशतः दरबारी साहित्य के रूप में ही प्रतिष्ठित है। जब हिन्दी का जन्म भी नहीं हुआ था उसके बहुत पहले से ही संस्कृत राजदरबारों में अपना स्थान बना चुकी थी। समय–समय पर इन कवियों को राजदरबारों से सम्मानित और पुरष्कृत भी किया जाता था। इसके बाद संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत व अपभ्रंश के कवियों ने भी राज–दरबारों में अपना सुनिश्चित कर लिया। लेकिन हिन्दी प्रारम्भ से ही कठिन दौर से गुजरी। इसके जन्म के साथ ही समस्त हिन्दी प्रान्त उत्तर–पश्चिम के आक्रमणकारियों द्वारा अक्रांत कर दिया गया। उत्तर भारत में मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य हो गया। इसके साथ–साथ राजस्थान एवं अन्य हिन्दी प्रान्तों में मुसलमानों

---

1. ठाकुर ठसक, छन्द – 85
2. शृंगारिका सौरभ, छन्द–85

का शासन हो गया। परिणामतः संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी कवियों के लिए उन राज–दरबारों में कोई स्थान न था। मुसलमानों द्वारा प्रताणित किये जाने के कारण राजस्थान के राजपूत राजा भी प्रायः युद्ध योजना में ही तल्लीन रहते। युद्ध उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन गई थी। ऐसी स्थिति में राजदरबारों में यत्र–तत्र जो कवि भी थे वे अपने कवि कौशल को प्रदर्शित नहीं कर पाते थे। सोलहवीं शताब्दी से इसमें एक परिवर्तन यह दिखाई पड़ा कि जो लोग यह समझ रहे थे कि मुसलमानों का शासन अस्थाई है वे भी अब स्थायी मानने लगे। इसलिए अकबर के शासनकाल में हिन्दू कवि फारसी की ओर मुसलमान कवि हिन्दी की ओर उन्मुख हुए। इसके राज दरबार में हिन्दी काव्य तथा कवियों को विशेष प्रोत्साहन मिला। परिणामस्वरूप हिन्दी कविता अन्य राजाओं और नवाबों के राज दरबारों में भी पहुँच गयी। लेकिन अकबर के बाद मुगलशासन काल में स्थितियाँ बिल्कुल भिन्न हो गयीं। यह युग पूर्णतः सामन्ती हो गया। इनका दरबार कलाकारों और सामन्तों का जमघट मात्र रह गया। लोग दरबारी वैभव का अनन्द बड़ी मुश्किल से उठा पाते थे। उसका कारण यह था कि अकबर के समय में पूर्ण शान्ति थी। लोगों के मन से आक्रांताओं का भय समाप्त हो गया था। वैभव की भी कोई कमी नहीं थी। इसलिए अकबर के समय से ही छोटे–छोटे राजा और नवाब घोर विलासिकता की ओर उन्मुख हो चुके थे। उन्हें आत्मरक्षा की भी चिन्ता नहीं थी क्योंकि उनकी रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व मुगल सम्राटों पर निर्भर था। इसलिए इन छोटे–छोटे राजाओं और नवाबों ने भी अपने को मुगल–सम्राटों के अनुरूप ही ढालने का प्रयास किया। इस प्रकार एक नवीन दरबारी संस्कृति का आविर्भाव हुआ। इन सामन्तों का राजदरबार वास्तविक भारत से बिल्कुल भिन्न था। भारतीय समाज इससे मेल नहीं खाता था। इसीलिए इन दरबारों में लिखी गयी कविताओं में जन सामान्य का जीवन नहीं प्रत्युत सामंती जीवन ही अधिक अभिव्यक्त हुआ है। केवल वही कविताएं साहित्यिक रूप प्राप्त कर सकीं जो केवल राजदरबार के लिए लिखी गयीं।

वैभव और ऐश्वर्य मुगल दरबार की विशेषता थी। औरंगजेब को छोड़कर सभी वस्त्रों और आभूषणों के साज-शृंगार को पसन्द करते थे। सम्पूर्ण दरबार वैभव और ऐश्वर्य की रंगीनियों से सुशोभित रहता था। मुगल दरबार पृथ्वी पर दूसरी इन्द्रसभा थी। जहाँ ऐश्वर्य व वैभव होगा वहीं विलासिता भी निवास करती थी। इसलिए यहाँ इसकी भी कमी नहीं थी। राजदरबार से संबंधित लोगों को चलना, फिरना, देखना, हँसना, बोलना, उपहार लेना, तथा इनकार करना आदि विधियों से पूर्णतः परिचित होना पड़ता था। जिन्हें इस व्यवहारिक कला का ज्ञान नहीं था वे दरबार में असभ्य और निम्न समझे जाते थे। वैभव और ऐश्वर्य के प्रदर्शन हेतु विभिन्न देशों से सुन्दर परिचारिकाओं को एकत्र किया जाता था। इनमें कुछ अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में तथा कुछ पहरेदारी के कार्य में कुशल थीं। सेवक-सेविकाओं को उनके गुण, रूप, योवन तथा पद के अनुसार वेतन तथा कार्य में कुशल थीं। सेवक-सेविकाओं को उनके गुण, रूप, योवन तथा पद के अनुसार वेतन तथा कार्य में प्राथक्य रहता था।"[1] विलासिता ने मुगल दरबार को अपने बाहुपाश में पूर्णतः आबद्ध कर लिया। ओरंगजेब ने विलासिता में सहायक कुछ तत्वों को बन्द करने का प्रयास तो किया लेकिन कुछ वर्षों के बाद मुहम्मद शाह रंगीले के शासनकाल में मदिरा का पनाला बह निकला।"[2] चोसर, शतरंज आदि मनोविनोद के साथी बन गये। मुगल शासक विलासिता में आकण्ठ डूब गये। शाहजहाँ के संबंध में तो यहाँ तक कहा जाता है कि उसका अपनी बेटी जहाँआरा से अनुचित संबंध था।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि रनिवास का वातावरण भी असंयमित और सतीत्व का अनुपोशक था। नारी केवल भोग्या थी। वंश व गुणों को नजरअन्दाज कर केवल उसके रूप और योवन को महत्व दिया जाता था। समाज का मानस नारी के प्रति पूर्णतः विकृत हो चुका था। इसीलिए बहुविवाह तथा अनेक स्त्रियों

---

1. मध्यकालीन भारत-अवध बिहारी पाण्डेय, पृ0 - 446
2. रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 - 13
3. मध्यकालीन भारत, अवध बिहारी पाण्डेय, पृ0 - 467

का रखना साधारण सी बात हो गयी थी। नर–नारी वासना रूपी मदिरा के जलाशय में डूबे थे। उनके नेत्रों में केवल मदिरा की अरुणिमा ओर कामातुर छाया ही दृष्टिगोचर होती थी।

बहुधा राज्याश्रय में रहने के कारण इस युग के कवियों का भी मुख्य उद्देश्य आश्रयदाता को उनकी रुचि के अनुसार काव्यश्री से प्रसन्न करना था। इसके लिए इन्हें दरबार से धन भी मिलता था। सूर, तुलसी की भाँति ये सर्वसाधारण के कवि नहीं थे। इन्हें तो वैसी ही काव्य रचना करनी पड़ती थी जैसा उनका आश्रयदाता चाहता था। निम्न वर्ग के लिए काव्य के प्रति रुचि या सहानुभूति रखना दिव्यास्वप्न ही थी। काव्यानंद का अधिकार केवल सम्पन्न वर्ग को था। इसीलिए सामन्तों या राजाओं के दरबारों में संगीतज्ञों तथा कवियों आदि को विशेष प्रश्रय मिलता था। चूँकि मुगल शासकों का जीवन नितांत विलासपूर्ण एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक संचरण से रहित था। इसलिए तत्यूगीन कवि भी उनकी रुचि के अनुसार ऐसी शृंगार तथा भोग विलास परक रचनाओं को प्रस्तुत करता चला आ रहा था जिसमें हृदयगत भावुकता तथा तत्कल्पना का नितांत अभाव था। प्रायः इस युग के अधिकाँश कवि किसी न किसी राज्याश्रय में थे इसलिए उनका मुख्य कर्त्तव्य नारी के विविध अंगों के आकर्षक तथा उत्त्तेजनात्मक वर्णन तक ही सीमित रह गया था। शृंगार का नग्न रूप प्रस्तुत किया गया। साहित्य में ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों की वृद्धि हुई। सामाजिक सोन्दर्य चेतना अन्तरंग की अपेक्षा बहिरंग होती गयी। इसमें स्वस्थ एवं सच्ची अनुभूतियों को उद्भाषित करने की शक्ति नहीं थी। ऐसा था मुगल कालीन दरबार का वातावरण। अतः जहाँ ऐसा समाज हो, ऐसे शासक हों एवं उनकी मनोवृत्ति ऐसी हो तो उसके आश्रित कवि भला केसे बच सकते हैं। रीतिमुक्त कवियों में घन आनंद मुहम्मद शाह रंगीले के, आलम मुअज्जमशाह के, बोधा पन्नानरेश तथा ठाकुर जेतपुर नरेश के दरबार से सम्बद्ध थे। इसीलिए इनकी रचनाओं में प्रोक्त विवेचित

दरबारी संस्कृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। ये लोग स्वच्छन्द थे इसीलिए इन्हें अपने आश्रयदाताओं का कोपभाजन भी बनना पड़ा। ये दरबारी वातावरण से पूर्णतः परिचित थे, इसलिए इनकी रचनाओं में चाहे-अनचाहे वह प्रवृत्ति अवश्य आ गयी है। मुगलशासक भोग-विलास में लिप्त होने के कारण शृंगारिक, आकर्षक एवं उत्तेजनात्मक कविताएं सुनना ज्यादा पसन्द करते थे। इसलिए दरबारों में अन्य विषयों की अपेक्षा शृंगारिक विषयों को विशेष सम्मान मिलता था। दरबारों एवं राजमहलों में व्याप्त इस शृंगारिक प्रवृत्ति का प्रभाव रीतिमुक्त कवियों पर भी पड़ा। इनकी रचनाओं में नारी के विविध अंगों का आकर्षक एवं उत्तेजनापूर्ण चित्रण मिलता है।

संभोग की स्थिति का एक वर्णन देखिये जो सम्भवतः तत्कालीन विलासपूर्ण दरबारी वातावरण से प्रभावित होने के कारण ही है -

उझकि चलत झुकि सरकि उसीसे ही कों
तरकि करकि भोहें होत अलबेली की।
सरकि सरकि सारी खरकि खरकि चूरी,
मुरकि मुरकि कटि जात यों नवेली की
बोधा कवि छहरि छहरि मोती छहरात,
थहरि थहरि देह कंपति न केली की।
नीवी के छुवत प्यारी उलचि कलथि जात,
पोन लागे लोट जात बेली ज्यों चमेली की।।"[1]

संभोगोपरान्त नायिका की स्थिति का भी चित्रण देखिये --

"मार तें कुमार सुकुमार अंग अंग जाको
नेकु न समान ऐसी निद्रा माझ सोई सी।

---

1. बोधा ग्रंथावली (विरह वारीश) पृ0 - 117 छन्द - 33

अरुन कटाक्ष तारे टरे नाहिं टरि रही,

स्वदेकनछाई देह दरद में भोइ सी।

बोधा कवि टूटे हार छूटे बार छहरात

कज्जल कपोल महाँहि सारी रेन रोइ सी।

धोई ऐसी सूरत विसूरत सी तेज बीच

पड़ी वह बाल देखी छोई सी निचोई सी।।"[1]

रीति निरपेक्ष होने के बावजूद बोधा की रचनाओं में यत्र-तत्र जो ऐसे चित्र दृष्टिगोचर होते हें वे तत्कालीन दरबारी वातावरण के ही कारण हें। इसी प्रभाव से इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं नायिका भेद तथा नख शिख वर्णन भी दृष्टिगोचर होता हे।

यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि रीतिमुक्त कवि भी किसी न किसी राजदरबार से सम्बद्ध थे। फलस्वरूप उन पर भी दरबारी वातावरण तथा मुगल रहन-सहन, आचार-विचार ओर सभ्यता की छाया का पड़ना स्वाभाविक था। इस दरबारी रंग ढंग की स्पष्ट झलक घन आनंद के विरह-वर्णन में देखी जा सकती हे जहाँ कहीं मधुपान तो कहीं वीणा की मीड़ का वर्णन किया गया हे। इसी प्रकार छन्दों में लोंडी, डोंडी आदि शब्दों का प्रयोग भी मुस्लिम दरबार के ही वातावरण को इंगित करते हें।

जहाँ सम्पूर्ण राजदरबार विलासमय हो वहाँ संगीत न हो, यह बिल्कुल अस्वाभाविक हे। मुगल दरबारों में संगीत को विशेष सम्मान मिलता था। वहाँ संगीत के सभी तत्व गायन वादन तथा नृत्य मोजूद थे। इसीलिए रीतिमुक्त काव्य इससे भी प्रभावित हुआ। इस दृष्टि से कुछ छन्द ऐसे हें जिन्हें सुनने से ऐसा प्रतीत होता है जेसे हम किसी राजदरबार में बेठकर विविध-वाद्ययंत्रों की कर्णप्रिया ध्वनि सुन रहे हों। यथा --

---

1. बोधा ग्रंथावली - (विरहवारीश) पृ0 - 119, छन्द - 46

था था था थिक निक धुकार धिं धिं सुरमंडित।
तंत्रिगिदं कं तं त्रिगिदं त्रगि त्रगि रव छंडित।
था था था थृगदिक थृकंत थुंगी थुनि थुगिरट।
फं फं फं फृणादिक फृकंत बोलत संगी नट।
इमि सजि नेवर बीनाहि मिल झिझिम झुम झुम सुर करत।
कं कृगद कृगदि ककतंतलं लृगति लखित आनन्द बढ़त।।"[1]

यह तो स्पष्ट है कि सम्राट अकबर के शासन–काल से ही मुगल दरबार में हिन्दी और फारसी के कवियों का एक साथ बैठना तथा एक दूसरे की कविता सुनना–समझना प्रारम्भ हो गया था। रीतिकाल में फारसी भाषा उत्तर भारत के हिन्दुओं पर अपना आधिपत्य कायम कर कर चुकी थी। फलतः हिन्दुओं में भी फारसी के अनेक विद्वान और कवि सामने आने लगे। इस दृष्टि से घनानन्द और आलम का नाम लिया जा सकता है। रीतियुग में कविता भक्तों के बजाय कविन्दों के हाथ में आ गयी, जिससे कविता भी भगवान के दरबार से च्युत होकर राजदरबारों में विराजमान हो गयी। इसीलिए दरबारी संस्कृति और उसमें छिपे फारसी–प्रभाव के परिणाम स्वरूप राधा और कृष्ण एक सामान्य नायक और नायिका बन गये। उनका प्रेम ऐन्द्रिय और वासनाजन्य हो गया। संस्कृत की परम्परा का निर्वाह करने वाले लोग भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे। इसलिए दरबारों में व्याप्त फारसी का रीतिमुक्त काव्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। घना नंद, आलम तथा बोधा तो इससे बहुत ज्यादा प्रभावित हुए हैं।

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा के काव्य पर दरबारी संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा है।

---

1. बोधा ग्रंथावली (विरहवारीश) पृ0 – 105, छन्द – 46

(ग) संगीतशास्त्र का प्रभाव :-

काव्य ओर संगीत में अटूट संबंध है। इसको स्पष्ट करते हुए डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -- "काव्य शब्दों के एक विशेष आरोह-अवरोह, संगति-संक्रम का सम्बद्ध तारतम्य है। शब्द एक ओर जहाँ अर्थ की भाव-भूमि पर पाठक को ले जाते हैं वहाँ नाद के द्वारा श्रव्यमूर्त विधान भी करते हैं। काव्यकला का आधार भाषा है जो नाद का ही विकसित रूप है, अस्तु काव्य ओर संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है। केवल अन्तर इतना है कि एक का आधार नाद का का स्वर व्यंजनात्मक स्वरूप है, दूसरे का आधार नाद का आरोह और अवरोह है।"[1] पाश्चात्य विद्वान एडगर एलन पो ने तो आनन्ददायक विचारों से युक्त संगीत को ही कविता स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि काव्य ओर संगीत एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं। रही बात काव्य का संगीतशास्त्र से प्रभावित होने की तो वह बहुत कुछ तत्युगीन परिस्थितियों पर निर्भर करती है। रीतिमुक्त काव्य संगीतशास्त्र से कितना प्रभावित हुआ है, यह जानने से पहले उस युग में संगीत की स्थिति क्या थी? यह जानना आवश्यक हो जाता है। राजनैतिक दृष्टि से इसे मुगलयुग कहा जा सकता है। इस युग में संगीत का पूर्ण विकास हुआ। कुछ कट्टरपंथी मुसलमानों का यद्यपि इससे कोई वास्ता नहीं था लेकिन कुछ मुसलमान इससे प्रभावित अवश्य हुए। कारण था ईरान से निरन्तर संपर्क ओर सूफीमत का प्रचार एवं प्रसार। क्योंकि सूफी मत में नृत्य संगीतादि के माध्यम से ही धार्मिक व भक्ति भावना को व्यक्त किया जाता था। मोहनलाल विद्यार्थी ने भारतीय मुसलमानों में संगीत के प्रचार व प्रसार का कारण संगीत-प्रेमी भारतीय हिन्दुओं का संपर्क माना है।[3]

---

1. साहित्य का मर्म, डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - पृ0 - 11
2. Music when combined with a pleasureable idea is peotry. An anthology of artical statements - Amar Nath Jha Page-69
3. भारतीय संस्कृति (भाग- एक) मोहनलाल विद्यार्थी, पृ0 - 31

इतिहासावलोकन से यह स्पष्ट है कि मुगलकाल चरमोत्कर्ष और तदन्तर अवनति का युग है। शाहजहाँ व ओरंगजेब के शासनकाल से लेकर भारत में अंग्रेजों के आने तक क्रांति ही मची रही। कोई भी बादशाह स्थायी शासक न बन सका। उस समय देश में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने में कोई भी केन्द्रीय सत्ता सक्षम न थी। वे शासक आपस में लड़ा-झगड़ा करते थे। उनका शासनकाल बिल्कुल अस्थायी था। वे बराबर अशांत रहते थे। यही कारण था कि इस थोड़े बहुत अवकाश के क्षणों में उनमें मनोरंजन की तीव्रेच्छा बलवती हुई। ऐसी स्थिति में उनकी त्वरित इच्छापूर्ति में काव्य ओर संगीत ही सहायक सिद्ध हुई। शाहजहाँ की कलाप्रियता जगजाहिर है। वह अपने राज्य को वेभवपूर्ण बनाने की आकांक्षा से कलाविदों का संरक्षण करता था। उसे संगीत से विशेष प्रेम था। रामदास, महापात्र, लालखाँ, गुण समुद्र तथा जगन्नाथ आदि दिग्गज गायक कलाकार उसके दरबार को सुशोभित किये थे। इसके अतिरिक्त गिटार और बीन नाटकों में क्रमशः सुखदेव ओर सूरसेन का नाम प्रमुख था। शाहजहाँ के शासनकाल में संगीत की चरमोन्नति हुई। इसके बाद औरंगजेब के शासनकाल में संगीत का उतना ही ह्रास हुआ। इसीलिए इस विषय पर सभी विद्वान एक मत हैं कि ओरंगजेब के शासन काल में संगीत कला दफना दी गयी तथा संगीत ओर नृत्य अवेधानिक ठहरा दिये गये।[1] उसकी अति क्रूरता ने संगीतज्ञों को दरबार में रुकने न दिया। परिणामस्वरूप समस्त संगीतज्ञ ओर संगीताचार्य मुगल दरबार से निराश होकर प्रान्तीय नरेशों और नवाबों की शरण में चले गये।[2] दक्षिण के सुल्तानों को संगीत से विशेष रुचि थी। इतना ही नहीं गोलकुण्डा के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि वहाँ बीस हजार संगीतज्ञ थे। संगीत को समस्त हिन्दू राज दरबारों में जीवन का एक अनिवार्य अंग माना माना जाने लगा।[3] बंगाल के धनी व्यक्तियों ने संगीत को विशेष महत्व दिया।[4]

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, डॉ० नगेन्द्र, पृ० - 7
2. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, बी०एन० लूनिया-पृ०-411
3. वही, पृ० - 412
4. संगीत राग - कण्व द्रुम - कृष्णानन्ददेव व्यास - पृ० - 2

संगीत को पल्लवित एवं पुष्पित करने तथा उसे नया जीवन प्रदान करने में उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ भी सहायक सिद्ध हुईं। उस समय समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए संगीत का विशेष महत्व था। जन्म से मृत्यु तक के प्रत्येक संस्कारों में संगीत अनिवार्य था। यहाँ संगीत संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गया था। ऐसे गीतों में भक्ति एवं श्रृंगार रसों की प्रधानता थी। प्रायः इन गीतकारों ने समाज कल्याण की भावना, देवी–देवताओं की प्रार्थना तथा नाना प्रकार के उत्सवों को सरस एवं रोचक बनाने की दृष्टि से ही रचनाएं की हैं। यही कारण है कि संगीत से समाज के सभी वर्ग के लोग परिचित थे। प्रत्येक संस्कार संगीतायोजन के बिना अपूर्ण सा प्रतीत होता था। बड़े–बड़े संगीतज्ञों द्वारा निर्मित बन्दिशें (स्वर–लिपि बद्ध गीत) भी जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि संस्कारों की विभिन्न रीतियों के निर्वहन हेतु लिखी गयीं। संगीत के प्रचार प्रसार व लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है। ऐसी रचनाएं शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों ही प्रकार के वर्गों में मिलती हैं। मुगलकाल में दो संस्कृतियों के समन्वय और सम्मिश्रण की भावना को भी इसके कारण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। हिन्दू और मुगल संस्कृतियाँ एक दूसरे से प्रभावित हुईं। इसीलिए दोनों के उत्सवों या समारोहों में बहुत कुछ समता आ गयी। इस संबंध में श्री लूनिया के विचारों को उद्धत किया जा सकता है। उनके अनुसार– पुत्र प्रसव पर दोनों ही सम्प्रदाय सुन्दर संगीत का आयोजन करने लगे। सिराजुद्दोला और मीर जाफर अपने इष्ट मित्रों और संबंधियों से होली खेलते थे ओर दिल्ली दरबार में संवत् 1881 तक दुर्गापूजा का समारोह मनाया जाता था।[1] श्री यदुनाथ सरकार के अनुसार पुरुष और स्त्री सभी साथ–साथ बाग में या किसी सन्त फकीर के मकबरे आदि

---

1. भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विकास–लूनिया पृ0–377

पर घूमने और आनन्द मनाने के उद्‌देश्य से जाया करते थे।"[1] कहने का तात्पर्य यह हे कि मुगलकाल में प्रत्येक व्यक्ति संगीत से प्रभावित था। फलस्वरूप सम्पूर्ण समाज ही संगीतमय दृष्टिगोचर होने लगा। औरंगजेब की क्रूरता के कारण संगीत की अजस्र धारा थोड़ी मन्द जरूर पड़ी लेकिन पूर्णतः अवरुद्ध नहीं हुई। रजवाड़ो, सामन्तों के दरबारों तथा ग्रामीण जीवन में संगीत की यह धारा किसी न किसी तरह समारोहों व उत्सवों आदि के माध्यम से निरन्तर प्रवाहित होती रही। इससे यह विदित हो जाता है कि उस समय के लोगों को संगीत से विशेष रुचि थी। चूँकि रीतियुगीन राजाओं का शृंगार व संगीत से विशेष प्रेम था, इसलिए आम जनता ओर दरबारी कवि भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उस समय समाज का श्रेष्ठ एवं सम्मानित नागरिक वही था जो काव्य, संगीत, नृत्यादि का रसास्वादन करने में सक्षम था या रुचि रखता था।

आर्थिक दृष्टि से यह युग सम्पन्न था। शासकों व सामन्तों के पास धन की कमी नहीं थी। वे धन और सम्पत्ति के बीच ही जी रहे थे। इसलिए उनका विलोसोन्मुख होना स्वाभाविक एवं निश्चित ही था। विलासिता की संतुष्टि मदिरा व नारी के बाद संगीत का ही स्थान है। शांति के समय इन नरेशों तथा सामन्तों के विलास की तुष्टि का एक साधन संगीत भी था। यद्यपि उस समय राजदरबारों में अनेक कलाएँ अपना स्थान बनाने में लगी थीं। लेकिन कविता और संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था। इसमें संगीत दरबारी सभ्यता के अधिक अनुकूल था। आर्थिक सम्पन्नता और विलासी प्रवृत्ति के कारण संगीत उनके जीवन का अनिवार्य अंग बन चुका था। इसी दृष्टि से दरबारों में संगीतज्ञों का रखना आवश्यक हो गया था।

1. In addition (to fairs etc.) both seres dwel in cities had their usual weekly outing on the gardens tombs of saints in the suburbs.. visits to these periodical airs and seats of pilgrimage were the sole joy of Indian village population , and men and women were passionately eager to undertaken them.

History of Aurangaib - J.N. Sirkar
Page -471

अकबर की संगीत प्रियता तो सर्वविदित है। कहा जाता है उसके दरबार में छत्तीस संगीतज्ञ थे। जहाँगीर के दरबार में भी संगीतज्ञों के लिए अलग–अलग दिन निश्चित थे।[1] शाहजहाँ स्वयं गायकों का आश्रयदाता था। औरंग जेब भी संगीत का जानकार था।[2]

उस समय मुगल शासकों और उन्हीं का पदानुसरण करते हुए उनके आश्रित सामन्तों का एक मात्र उद्देश्य अपने दरबारों में प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ कलाकारों को एकत्रित करना था। शाहजहाँ की संगीतप्रियता व कलाकारों के एकत्रीकरण की रुचि ने कवियों को दरबारों में लाने के लिए विवश किया। अधिकांश कवि किसी न किसी राजदरबार से सम्बद्ध हो गये। यही कारण है कि कलाकारों की प्रतिभा अब उनके अधीन न होकर आश्रयदाताओं के अधीन हो गयी। भक्तियुग में कवियों के हृदय की जो मार्मिक अनुभूति सहज एवं स्वाभाविक रूप से स्वतः कलावृद्धि में सहायक होती रही, रीतियुग में आकर वह राजाओं की इच्छानुसार व्यक्त होने लगी। कवि के जिन विषयों या कल्पनाओं से आश्रयदाता को सुखानुभूति होती वही दरबार के लिए ग्राह्य व श्रेष्ठ होती। इसलिए कवि या कलाकार की प्रतिमा पूर्णतः राजाश्रित हो गयी। कवियों या कलाकारों का एक मात्र उद्देश्य शासकों व सामन्तों की इच्छानुसार उनकी वासनाओं की आन्तरिक तुष्टि एवं उसका यशगान करना था। इसीलिए इस युग में शृंगार रस से सराबोर विभिन्न छन्दों तथा दरबारी वातावरण के अनुकूल चमत्कारपूर्ण अलंकारों की अतिशयता है। संगीत की दृष्टि से इस युग में राजदरबारों के लिए उपयुक्त अनेक रागें भी प्रचलित हुई। ठुमरी, दादरा, धमार, ख्याल तथा गजलआदि चपलता का द्योतक विभिन्न रागों का विकास हुआ। प्रतिस्पर्धा

---

1. Villiam Finch, in his discription of Agra, indicates that Akbar's practice of Alloting a separate day of the week for each band of singers was observed during Jahangir's regin."

   Mugal Rule in India-Ewardes & Garrett. Page- 336

2. वही पृ0 – 339

के कारण तानों में मोड़–तोड़, मुरकियों तथा मोड़ादि के प्रयोग द्वारा गीत को चमत्कृत करने की भावना उनमें व्याप्त थी।

दरबारों में फारसी कविता का आभिर्भाव रीतियुग में हो चुका था। इसकी टक्कर लेने व दरबार में अपने को प्रतिष्ठत एवं महत्वपूर्ण बनाने की भावना का व्याप्त होना स्वाभाविक ही था। एक ओर जहाँ कविताएँ मात्र मोरंजन को ध्यान में रखकर लिखी गयीं उनमें गम्भीर भावों का सर्वथा अभाव रहा। वहीं दूसरी तरफ चमत्कारिक अलंकार विभिन्न छन्दों का विधान, उक्ति वैचित्र्य, शब्द चमत्कार तथा बाह्य प्रदर्शन की अधिकता रही। संगीतकला से सम्बन्धित सामग्रियों का संरक्षण हुआ। संगीत के दोनों पक्ष अर्थात् कला पक्ष और शास्त्रीय पक्ष चमत्कारिता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि विवेच्य युग में शास्त्रीयता और व्यवहारिकता से युक्त संगीत ने एक नयी दिशा अपनायी, एक नया रूप धारण करना शुरु किया।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दरबारी कवि पराधीन एवं विवश थे। उन्हें आश्रयदाताओं की इच्छा व आशा के अनुसार ही काव्य रचना करनी पड़ती थी। चूँकि ये आश्रयदाता संगीत से विशेष रुचि रखते थे इसलिए अधिकांश कवि संगीतज्ञ न होते हुए भी संगीतकार बने। कवियों ने इनकी आज्ञा से विभिन्न रंगमालाओं का निर्माण किया। श्रृंगार और रतिभाव से युक्त नायक और नायिका–भेदानसार ही रागों का वर्णन करना इनका अभीष्ट था। रागों के स्वरूप वर्णन से इन कवियों की काव्यत्मकता तथा संगीतशास्त्र संबंधी ज्ञान का पता चलता है। इनके द्वारा निर्मित रागमालाएँ भले ही संगीत की शास्त्रीय पद्धति स्पष्ट करने में सफल न हों परन्तु इतना तो निश्चित है कि उससे संगीत को लोकप्रियता अवश्य मिली। जो रीतिकालीन साहित्य की शोभा वृद्धि में सहायक ही सिद्ध हुई हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास – डॉ0 नगेन्द्र – पृ0 – 29

रीतियुग में संगीत के व्यापक प्रचार–प्रसार का प्रभाव रीतिमुक्त कवियों पर भी पड़ा। ये कवि हिन्दू और मुस्लिम दरबारों में प्रचलित एवं विकसित संगीत शैलियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। इनकी रचनाओं में परस्पर विरोधियों संस्कृतियों का एक अद्‌भुत संगीत दृष्टिगोचर होता है। उत्तर भारत के संगीत में मुसलमानी संगीत शैली का पर्याप्त स्प्लवन[1] मिलता है। अर्थात यहाँ भारतीय और फारसी संगीत की विभिन्न शैलियाँ परस्पर प्रभावित होकर एक नवीन रूप में प्रयुक्त हो रही थीं। रीतिमुक्त कवियों में घनआनंद का संबंध ऐसे ही राजदरबार से था। ये मुगल सम्राट मुहम्मद शाह रंगीले के आश्रित थे। उनके दरबार में अनेक संगीतज्ञों का जमघट था। जिनमें शोरी मियाँ और घनआनंद का प्रमुख स्थान था। इतना ही स्वयं सम्राट भी संगीत में विशेष रुचि रखता था। वह संगीत में कुशल था। यही कारण है कि घनआनंद के काव्य में हिन्दू और मुस्लिम दोनों संगीत शैलियों का व्यापक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। उधर बोधा और ठाकुर ऐसे राज दरबारों से सम्बद्ध थे जहाँ फारसी संगीत का दिनों दिन विकास हो रहा था। यही कारण थे जिससे रीतिमुक्त काव्य भी संगीत शास्त्र से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। आलम, ठाकुर तथा द्विजदेव का काव्य – ------------------------------ संगीतशास्त्र से उतना प्रभावित नहीं हुआ है जितना घनआनंद और बोधा का। इसमें भी घनआनंद बोधा से काफी आगे हैं। घनाआनंद की पदावली में संगीतशास्त्र का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसमें उन्होंने दरबारी प्रवृत्ति के अनुरूप अनेक रागों का प्रयोग किया है। संगीत की जिन शैलियों का प्रभाव रीतिमुक्त काव्य पर पड़ा है वे निम्नलिखित हैं–

<u>ध्रुवपद :–</u>

कहा जाता है कि ध्रुवपद गायन के आविष्कारक ग्वालियर नरेश महाराज मानसिंह तोमर थे। परन्तु कुछ प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ध्रुवपद में संस्कृत श्लोकों को गाकर हमारे ऋषि

---

1. काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध – डॉ0 उमा मिश्र, पृ0 56

मुनि भगवान की आराधना करते थे।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हो सकता है कि क्रियाकृत और अपभ्रंश काल में गायन की यह शैली प्रचलित हो रही हो और बाद में राजा मानसिंह ने उसका पुनरोद्धार कर आविष्कर्ता का श्रेय ले लिया हो। कुछ संगीताचार्यों ने प्राचीन ध्रुवागीति सम्बन्धित होने के कारण ही इसे "ध्रुपद" की संज्ञा से सुशोभित किया है। लेकिन यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि यह विशुद्ध भारतीय संगीत की शैली है। चूँकि अलंकार और चमत्कार इसकी प्रवृत्ति के सर्वथा विपरीत थे इसलिए घनआनंद के समय में यह शैली उपेक्षित होने लगी थी। यद्यपि अकबर और तानसेन के समय इसे विशेष प्रश्रय मिला लेकिन, मुहम्मदशाह रंगीले के शासनकाल तक इसका यह गौरव कायम न रह सका। इसमें ओजस्वी भावों तथा ईश्वर वन्दना के साथ-साथ कोमल भावों का भी संयोजन रहता है। घन आनंद ने शायद वन्दना परक तथा ओजस्वी प्रकृति के कारण इसे अपने अनुकूल न समझ इसका प्रयोग अत्यल्प ही किया है। लेकिन यही बात समझ में नहीं आती कि आखिर उन्होंने ऐसा क्यों किया? क्योंकि, जहाँ उन्होंने कवित्त व सवैयों की प्रखर व ओजमयी प्रकृति को कोमल भावाभिव्यंजना के अनुकूल बना दिया था तो ध्रुवपद शैली की प्रकृति को स्वानुकूल बनाना कोई दुर्लभ कार्य तो नहीं था। हाँ, यह हो सकता है कि दरबार में स्थित मुसिलम संगीतज्ञों के प्रभाव के कारण ही ध्रुवपद के प्रति इनकी विरुचि हो गयी हो। वास्तव में ध्रुवपद को मर्यादा गायन माना जाता है ------ " मुसलमानों के समय भारतवर्ष का मर्दाना गायन समाप्त हो गया और उसके स्थान पर जनाना गायन आरम्भ हुआ।"[2] (घनआनंद इससे पूर्णतः प्रभावित हुए)

बोधा के भी काव्य में वाद्य-यन्त्रों की शास्त्रीय योजना यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है लेकिन उसकी संयोजना में पूर्ण सतर्कता

---

1. संगीत विशारद, री वसंत-पृ0 - 49
2. संगीत शास्त्र दर्पण भाग-2 सुश्री शांति गोवर्धन - पृ0 - 82

नहीं दिखा पाये हैं। इनकी रचना "माधवानल कामकन्दला" की नायिका के राज दरबार में नर्तन करने के समय वाद्य–यन्त्रों का मुखरित होना देखिए –

"त्रगदं त्रगदं त्रगदं त्रगदं। कुकथौ कुकथौ कुकथौ धृगदं।
घननं घननं घननं घननं। धिकतं धिकतं धिकतं तननं।
त्रकतं त्रकतं त्रकतं। फृगदं फृगदं फृगदं करतं।
गृगधं गृगधं गृगधं गृगधं। ततथै ततथै ततथै धृगदं।।"[1]

इसी प्रकार –

"था था था धिक निक धुकार धिं धिं सुरमंछित।
तंत्रिगिदं कं तं त्रिगिदं त्रगि त्रगि रव छंडित।
था था था धृगदिक धृकतं धुंगी धुंनि धुगिरट।
फं फं फं फृगदिक कृंकतं, बोलत संगी नट।
इमि तज तेवर बीनाहि मिलि झिझिम झुम झुम सुर करत।
कं कृगदि कृगदि ककतंतलं तृगति लखित आनंद बढ़त।।"[2]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रीतिमुक्ति कवि शास्त्रीय सीमाओं में आबद्ध रहने के बावजूद उन्मुक्ताचरण किया है। इनके ऊपर भारतीय और मुस्लिम संगीत शास्त्र का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है – लेकिन इन कवियों ने अपनी निर्बाध प्रकृति के अनुकूल ही इन शैलियों को है। इस बात का प्रमाण है – ख्याल के प्रति रुचि और ध्रुवपद के प्रति विरुचि। बोधा आलम, ठाकुर तथा द्विजदेव के ऊपर संगीत शास्त्र का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सम्भवतः इसीलिए इन कवियों ने पदों की रचना नहीं की। घनआनंद का काव्य दरबारी प्रवृत्ति के कारण संगीतशास्त्र से विशेष प्रभावित हुआ है। उन्होंने भारतीय और मुस्लिम संगीत शैलियों का व्यापक प्रयोग किया है।

क्षेत्रीय भाषा और उनका प्रभाव :–

मध्ययुग में सांस्कृतिक सम्मिलन की परम्परा के अन्तर्गत अनेक क्षेत्रों में समन्वय के प्रयास चल रहे थे। भाषा सम्बन्धी समन्वयमयी

---

1. बोधा ग्रन्थावली (माधवानल कामकन्दला) पृ0 – 106, छन्द 1,2
2. बोधा ग्रन्थावली (माधवानल काम कन्दला) पृ0 105, छन्द – 46

इन्हीं समन्वयों में स्थापित हो रहा था। विजेता और विजित जातियों में परस्पर भाषा सम्बन्धी आदान–प्रदान तो स्वाभाविक ही है। लेकिन बराबर सानिध्य में रहने के कारण दो विरोधी समुदाय एक दूसरे को सांस्कृतिक मान्यताओं को समझाने का प्रयास करते हैं। भाषा ही इस प्रक्रिया में मुख्य माध्यम बनती है। इतना ही नहीं कभी–कभी तो वे भाषाएँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोकर एक नवीन भाषा को जन्म देती हैं तथा वह दोनों वर्गों की भाषा के मूल तत्व को लेकर विकास पथ पर अग्रसर होती है। रीतिकाल में भाषा की समन्वयात्मक प्रक्रिया में हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समन्वय के प्रयास हुए। हो सकता है रीतिमुक्त काव्य पर पड़े क्षेत्रीय भाषाओं के प्रभाव के पीछे भी यही कारण हो। क्योंकि इसमें भी ब्रज के साथ–साथ पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, बुन्देलखण्डी अवधी तथा भोजपुरी आदि क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

रीतिमुक्त काव्य में पंजाबी भाषा के शब्दों की भी प्रचुरता है। उस समय अनेक प्रान्तों से भिन्न–भिन्न भाषा–भाषी वैष्णव कीर्तन मण्डलियाँ वृन्दावन में आती जाती रहती थीं। इन मण्डलियों में प्राय: एक साथ भजन कीर्तन होता था। अत: ऐसी सम्भावना व्यक्त की जाती है कि पंजाबी भाषा का ज्ञान इन कवियों को यहीं से हुआ होगा। इसीलिए ऐसी रचनाओं को विद्वानों ने "सम्पर्कजन्य भाषा कौतुक"[1] तथा एक प्रकार का "चलन"[2] माना है।

रीतिमुक्त कवियों में घनआनंद के भाषा–प्रयोग में मात्रा की दृष्टि से ब्रजभाषा के बाद पंजाबी का ही स्थान है। इनकी रचनाओं में पंजाबी भाषा के रूप को देखकर कहा जा सकता है कि सम्भवत: इन्होंने दिल्ली निवास के दौरान पंजाबी भाषा का कुछ कामचलाऊ ज्ञानार्जन कर लिया हो। क्योंकि इसका शुद्ध निर्वाह करने में वे

---

1. डॉ0 मनोहरलाल गौड़ (परिशिष्ट में दिया गया पत्र)
2. आचार्य विश्वनाथ मिश्र (वहीं)

प्राय: असमर्थ रहे। अपने प्रेम के हाहाकार को व्यंजित करने के लिए ही इन्होंने प्रजाबी शब्दों का प्रयोग किया है। "इश्कलता" तथा "पदावली" में पंजाबी भाषा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। एक उदाहरण दृष्टव्य है–

"खैंचत हैं तुव कोरि किधौं मन मेड्डा।
रहै असानू चाव नंद ते तेड्डा।
खडा उड़ावत चंग सुरंग अजूब है।
आनन्द जीवन जान कान महबूब है।।"[1]

तथा

"सहोणी मैं कद लद इसक छिपावा।
गुंजे घाव दिला दें अन्दर कित वल कूक मचावाँ।।"[2]

बोधा के काव्य पर पंजाबी भाषा का आंशिक प्रभाव पड़ा है। कौतुक प्रदर्शनार्थ पंजाबी भाषा के प्रयोग वाले समाज से बोधा असमर्थ थे, फिर भी पंजाबी भाषा के प्रयोग से मुक्त नहीं हो पाये हैं। एक उदाहरण देखिये –

कथी रब बेल सों लपटी। कथी गलबहियाँ भटकै।
कथी गाये हँसे बोले। कथी तुतरा थके बोले।।
× × × × × ×
कथी बंद चोलिया कस दी। कथी दिल खोल के हँस दी।
कथी मीथी करने खोले। कथी झुक झूमती डोले।।"[3]

रीतिमुक्त काव्य राजस्थानी भाषा से ही प्रभावित हुआ है। इसीलिए उसमें राजस्थानी भाशा के शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इन कवियों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग भी सम्भवत: कौतुक प्रदर्शनार्थ ही किया है।। इनके काव्य में प्रयुक्त कुछ राजस्थानी शब्द दृष्टव्य हैं–

---

1. घनआनंद ग्रन्थावली (इश्कलता) छन्द –30
2. वही (पदावली) छन्द – 436
3. बोधा ग्रन्थावली विरहवारीश पृ0 – 93 छन्द 24,26

प्रतिक्रियाओं एवं परिवर्तनों के साथ-साथ सभी मध्यकालीन आर्यभाषाएं विभाषाएं और बोलियाँ तक अरबी फारसी से प्रभावित हुए बिना रह न सकीं। राजदरबारों तथा उससे सम्बद्ध लोगों का तो कहना ही क्या? यहाँ यह ध्यातव्य है कि यद्यपि मुसलमानों की धार्मिक भाषा अरबी थी किन्तु भारत में वे जिस साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते थे और जो दरबार की भाषा के रूप में गृहीत होती थी, वह भाषा मुसलमानों के भारत में आने के पूर्व साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थीं और उसमें पर्याप्त कलात्मक विशेषताएँ विद्यमान थीं।"[1] इसलिए रीतिकाव्य में फारसी शब्दावलियों के आने पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इस मुस्लिम आधिपत्य का प्रभाव न केवल भाषाओं, बोलियों एवं राजदरबारों से सम्बद्ध लोगों पर ही पड़ा अपितु आम जनता भी इससे प्रभावित हुई। सामान्य जनता भी जाने-अनजाने में अरबी-फारसी शब्दों का इस्तेमान करना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि शब्दों का अरबी फारसीपन समाप्त हो गया और वे जन साधारण की भाषा में विलीन हो गये। कोई भी महाकवि अपना प्रकृत हिन्दी काव्य हिन्दी भाषा अंग बने इन विदेशी शब्दों की अवहेलना करके प्रस्तुत नहीं कर सकता था। इसीलिए ब्रजभाषा का जो रूप राजाश्रित कवियों द्वारा निर्मित हुआ है उसमें फारसी के प्रभाव से विशेष माधुर्य आ गया है।[2] ऐसी स्थिति में रीतिमुक्त काव्य फारसी से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता था। घन आनंद, बोधा और ठाकुर तीनों कायस्थ थे। कायस्थ लोगों में फारसी के पठन-पाठन की परम्परा पहले से ही विद्यमान थी।"[3] इसलिए इन कवियों ने इसका यथेष्ट एवं प्रचुर प्रयोग किया है।

---

1. Although the religious language of the Muhamdans was Arabic, the Literacy lanugage they used in India and the language of the court was persian. The language possessed a large Literature. Which has already developed a highly artistic character before the muhamdans power was estabilished in India. "A History of Hindi Literature. F.E. Key. Page - 34

3. घनआनंद और स्वच्छन्द काव्यधारा-डॉ0 मनोहरलाल गौड़, पृ0-263

सूँ, संघली, रँड़ा, राजिंदा, म्हाने, म्हासी, म्हारी, मेलो, मूनै, मनसां, मूनेमनसां माथे थूके, बेढ़यां, बासली, छै, पाड़े, पगड़े, भारी, थांसु, थाके, झूम्याई, धरां, घंणां केयां केड़े, पूड़, कोई, कां, ऊभी–ऊभी, भौरां , औठें, आवै, आख्यां, अमलां, ऊचरां, । खड़ी बोली के प्रभाव के कारण रीतिमुक्त काव्य में इसके शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। घनआनंद की इश्कलता और वियोगिवेलि में पंजाबी, अरबी, फारसी के साथ–साथ खड़ी बोली का भी सम्मिश्रण मिलता है। यहाँ तक कि कुछ विद्वान वियोगिवेलि को खड़ी बोली का ग्रन्थ कहते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। इश्कलता में इसका स्पष्ट रूप मिलता है। अतः वियोगिवेलि को शुद्ध हिन्दी[1] अथवा खड़ी बोली का ग्रन्थ[2] कहना नितान्त असंगत है। उसकी व्याकणिक योजना ब्रजभाषा के अनुकूल है। इसे ब्रजभाषा काव्य[3] मानना ही अधिक उचित है। घनआनंद के अतिरिक्त बोधा, आलम, ठाकुर तथा द्विजदेव से भी काव्य में खड़ी बोली के प्रभाव के कारण इसके शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से एक उदाहरण देखिए ––

सीता सी कुमारी रामचंद्र से क्षितीस भुज
बीसदससीस तिन आफतै धनी सही।
डोमघर पानी भरयो राजा हरिचंद्र बली,
बली बलिराम की कहानी वेद मैं कही।।"[4]

(घ) फारसी भाषा और ब्रजभाषा की सन्निधि –

हिन्दी जन्म से ही विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती रही है। जब संपूर्ण भारत में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया तो परिणामस्वरूप अनेक

---

1. खड़ी बोली हिन्दी साहित्य या इतिहास – श्री ब्रजरत्नदास, पृ0–148
2. खड़ी बोली आन्दोलन – डॉ0 शितिकंठमिश्र, पृ0 – 52
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0–343
4. बोधा ग्रंथावली (विरहवारीश) पृ0 – 151, छन्द – 23

मुस्लिम प्रेयसी के सम्पर्क के कारण बोधा का समग्र जीवन–दर्शन ही फारसी से प्रभावित था। उनके काव्य में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लेकिन बोधा के काव्य में इस प्रभाव का अमर्यादित विस्तार हुआ है। घनआनंद की भाँति ये फारसी के शब्दों को ब्रजभाषा के अनुकूल ढालने में असफल रहे। घन आनंद ने इस दिशा में सतर्कता दिखाई है जबकि बोधा ने तो खुलकर उन्मुक्तभाव से इसका प्रयोग किया है। बोधा की प्रयोग दृष्टि से यह बात अवरशः स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने फारसी भाषा के शब्दों की प्रकृति एवं स्वरूप को परिवर्तित करने का तनिक भी प्रयास नहीं किया। उनके काव्य में फारसी भाषा के शब्दों की प्रकृति एवं स्वरूप को परिवर्तित करने का तनिक भी प्रयास नहीं किया। उनके काव्य में फारसी शब्दों की इतनी प्रचुरता है कि उसमें एक विदेशीपन झलकने लगता है। प्रत्येक छन्द में दो एक शब्द ऐसे अवश्य मिल जायेंगे जो पाठक या श्रोता के हृदय में गहरे पैठने की जगह झकोर देकर रह जाते हैं। बोधा के काव्य में प्रयुक्त फारसी शब्द परस्पर विरोधी संस्कृतियों की सामासिकता के कारण नहीं है अपितु वह संक्रमण के अपद्य का परिणाम है। यही कारण है कि फारसी की अतिशयता से उनकी भाषा सनृद्ध होने की बजाय संस्खलित अधिक हुई है। लेकिन बोधा अपनी प्रणय एवं विरह की जिस व्यंजना को व्यक्त करना चाहते थे उसके लिए फारसी के ऐसे अपरिवर्तित प्रयोग उचित ही प्रतीत होते हैं। क्योकि, प्रणय की ऐसी व्यंजना के लिए विशुद्ध ब्रजभाषा सक्षम न थी। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जिसमें फारसी और ब्रजभाषा का अद्‌भुत सम्मिश्रण है ––

(क) "कसक लगी जाके हिए में ताही हिय में कसकी री।
सहर तमासा देखत तबही तिनकी होत हँसी री।
प्रसुतपीर सन्ध्या का जानै झलकन पहिरी पीरी।
दिल जाने कै दिलबर जानै दिल की दरद लगी री।।"[1]

---

1. बोधा ग्रंथावली (इश्कनामा) छन्द– 90

(ख) "दिलबर होय तासों दिल की बखाने पीर,

हीन दिल कैसे दिलदरद की जानि है।

जिनके लगी न सो का पीर जानै घायल की,

घायल की पीर कों तो धाय ही प्रमानिहै।

बोधा कवि बिहुरी जौ मालती नवेली तौ है,

औरऊ कली न तौन दरद बितानिहै।

भले जिन भरम गमावै चंचरीक कैसे,

अचत करील तेरी दरद बखानिहै।।"[1]

(ग) "करै ताबया फाबिया पीड़ काहीं।

रजा यों मजा केलि के ठौर नाहीं।"[2]

घन आनंद और बोधा के काव्य में फारसी भाषा के प्राचुर्य का कारण तो प्रत्यक्ष है। पहला यह कि ये लेग मुस्लिम दरबार और मुस्लिम प्रेयसी के संपर्क में रहे तथा दूसरा यह कि इन्होंने अपने प्रणय की अत्यंत मुखर व्यंजना रूप की अभिव्यंजना के लिए फारसी भाषा का इस्तेमाल किया।

कहने का तात्पर्य यह है कि बोधा के काव्य में ब्रजभाषा और फारसी भाषा का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। परिणामस्वरूप भाषा अत्यंत समृद्धशाली हो गयी है। जन सामान्य में प्रचलित होने के कारण फारसी भाषा के ये शब्द ब्रजभाषा के निकट जान पड़ते हैं। उनका फारसीपन समाप्त हो गया है।

*
***
*****
***
*

1. बोधा ग्रंथावली (विरहवारीश) पृ0 - 85, छन्द - 39

2. बोधा ग्रंथावली (विरहवारीश) पृ0 - 123, छन्द - 32

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

बोधा और उनका काव्य

बोधा का युग

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में स्वछन्द काव्य प्रवृत्ति वाले कवियों की अत्यन्त विशिष्ट काव्यधारा प्रवाहित हो रही थी। लेकिन उस धारा तथा उस प्रवृत्ति के कवियों पर इतिहासकारों ने बहुत कम ध्यान दिया है, यही कारण है कि किसी कवि विशेष के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए उसका गम्भीरता पूर्वक मनन करना पड़ता है।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में बोधा नाम के दो कवि हुए है एक रीतिमुक्त ओर दूसरा रीतिबद्ध। उनके अभेद होने की बड़ी गम्भीर चर्चाएँ चलती रही हैं लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि वास्तव में बोधा नामक दो कवि हुए है। एक बोधा **"उसयानी"** (फिरोजाबादी) आगरा निवासी थे। जो 1636 में वर्तमान थे। तथा दूसरे बोधा बाँदा निवासी थे। डॉ0 पीताम्बर बड़थ्वाल के अनुसार नि:सन्देह बोधा दो न होकर एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। जो दो स्थानों में रहा होगा। यह सम्भव हे कि सुभान राजवेश्या के प्रेम में पड़ जाने के कारण पन्ना से जो बोधा का निकाला हुआ तो उसके पश्चात् वह यहाँ से फिरोजाबाद में जाकर बसा होगा।

"शिवसिंह सरोज" में एक तो बोधा कवि सं0 1804 है, तथा दूसरे बोध कवि बुन्देलखण्डी, सं0 1855। **शिवसिंह सरोज"** के विनोद में इन संवतों को जन्मकाल माना गया है।

नकछेदी तिवारी जी ने **"सरोज"** के संवत् पर यह मत प्रकट किया है कि– ठाकुर शिवसिंह सेंगर इंसपेक्टर पुलिस ने अपने ग्रन्थ में अंदाजी सं0 1804 लिखा इससे इनके संवत में मुझे बिल्कुल सन्देह है।

पं0 सुशीलचन्द चतुर्वेदी ने फिरोजाबादी बोधा के विषय में एक नोट लिख भेजा हैं कि बोधा कवि बुन्देलखण्डी से बोधा कवि फिरोजाबादी इतर समझ पड़ते हें। फिरोजाबादी बोधा सनाढ्य ब्राह्मण थे, तथा इनकी कुछ पेतृक भूमि "रहना" नामक ग्राम मे जो फिरोजाबाद के पास हे, थी। इनकीकविता कुछ अप्राप्य सी हो रही है। ये सन् 1830 ई0 अर्थात् सवत् 1887 में वर्तमान थे।

(ख) नामकरण पर विचार

बोधा नाम के दो कवि रीतिकाल में हुए हें, एक बोधा फिरोजाबाद निवासी थे तथा दूसरे सरयूपारी ब्राह्मण थे। इन सरयूपारी ब्राह्मण का वास्तविक नाम बुद्धिसेन था। "राजापुर" (बाँदा) निवासी, जन्म सम्वत् 1804, रचनाकाल सं0 1830–60।[1] फिरोजाबादी बोधा ने **पंक्षी मंजरी"** नाम की रचना में अपना जन्म सं0 1836 आसाढ़ शुक्ला त्रयोदशी शनिवार (कुंभेश) माना है।[2] परन्तु ज्योतिष गणना के अनुसार ऐसा पंचांग केवल सं0 1836 को ही जुड़ता हे। विद्वानों को सन्देह हे कि कहीं सोरह के बदले 17 या 18 न हो।[3] बाँदा निवासी बोधा का जन्म सम्वत् वास्तव में उनका उपस्थित काल ही हे, क्योंकि सरोज संवतों का सम्बन्ध केवल उपस्थित काल से हे। अतः सरोज में जो सम्वत् 1804 बोधा कवि का काव्यकाल दिया गया हे, वह ठीक बैठ जाता है।

"पक्षी मञ्जरी" के अन्त में फिरोजाबादी बोधा के लिए बोधसेनि नाम दिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **"बोधा"** नाम **"बोधसेन"**, **"बुद्धिसेन"** या **"बुद्धसेन"** से बना है ओर "छाप" के लिए रखा गया हे।

---

1. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (सन् 1900–1955), खण्ड–2, काशी ना0प्र0 सभा, पृ0–39
2. संवत् सोरह से सही जानौ तुम छत्तीस तेरस सकल आसाढ़ की बारकुंभ को ईस। पं0 मञ्जरी।
3. अ0वि0ना0प्र0 मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग–2, पृ0–673

लेकिन यह पता नहीं चलता है कि **"पंक्षीमंजरी"** के **"बोधा"** से बुद्धिसेन कवि का कोई संबंध है या नहीं । जो कवित्त **"सरोज"** में दिया गया है वह किसी ब्रह्मभट्ट का प्रतीत होता है –

"बारी ओ खंगार नाऊ धीमर कुम्हार काछी खटिक दसोंधी ये हुजुर कों सुहात हैं।
कोल गोड़ गूजर अहीर तेली नीच सबे पास के रहे से कहां ऊँचे भए जात हैं।
बुद्धिसेन राजन के निकट हमेस बसें कुकर बिलार कहा गुन अधिकात है।
दूर ही गयंद बांधे दूर गुनवान ठाढ़े गज ओ गुनी के कहा मोल घटि जात है।।"

राजा के पास रहने वाले गुणहीन पार्षदों से कवि जी अप्रसन्न हो गये हैं। इस बात का ज्ञान नहीं होता कि किस राजा से उक्ति कही गयी है। बुन्देलखण्डी बोधा का नाम भी **"बुद्धिसेन"** था यह पहले बताया जा चुका है। उन्होंने अपने **"विरहवारीश"** में **"बोधा"** छाप के स्थान पर बुद्धिसेन छाप का व्यवहार भी दो स्थानों पर किया है–

क्रत सो न मंत ओर गेह सों न नेह कछू सुत सों न सुत रह्यो ज्ञान को न गार्‌यो हैं।

बेद सो न भेद लहे भाभी को भरोसी कोन दुख्ख को न दोष बुद्धिसेन यो विचार्‌यो है।।

काहू कह्यो अमृत कवित्त के निवेदन में कबिन बतायो प्रेमगान मेंलसतु हैं।

प्रेमगान अमृत बतायो हे फनिंद ही के फनिक बतायो छपाकर में बसतु न।।

छपाकर बतायो अमी साधुन की संगति में साधुन बतायो बेदरिचा दरसतु हे।
बेदरिचा अमृत बतायो हमें बुद्धिसेन तरुनी की तरल तरंगन बसतु है।।"[1]

---

1. आ0वि0ना0 प्र0 मिश्र, हिन्दी साहित्स का अतीत, भाग–2, पृ0 –680

इस बात का ठीक–ठाक पता नहीं चलता है कि बुद्धिसेन कोई पृथक कवि हैं या उपर्युक्त दोनों कवियों में से किसी एक को पूरे नाम की यह छाप नये कवि के अवतार का कारण हो गई है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस निर्णय को स्थापित करते हुए लिखा है कि– "इस प्रकार यह निश्चित है कि एक बोधा रीतिबद्ध रचना करने वाले थे, वे फिरोजाबाद के थे तथा महासिंह के वंशज आखासिंह के आश्रित थे। दूसरे रीतिमुक्त रचनाकार थे। ये पन्ना (बुन्देलखण्ड) के थे तथा खेतसिंह के आश्रित थे।

रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा में बांदा वाले बोधा को ही स्थान दिया गया है।

(ग) बोधा कवि का जीवन वृत्त

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में स्वच्छन्द काव्यप्रवृत्ति वाले कवियों में बोधा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। **"शिवसिंह सरोज"** में बोधा कवि का काव्यकाल सं0 1804 माना गया है। **मिश्रबन्धु विनोद"** में इन संकेतों को जन्म काल माना गया है। श्री मिश्रबन्धु लिखते हैं––

"ठाकुर शिवसिंह ने इनका जन्म सम्वत् 1804 लिखा है, जो अनुमान से ठीक जान पड़ता है। बोधा एक बड़े प्रशंसनीय तथा जगद्विख्यात कवि थे, अतः यदि ये सवत् 1775 के पहले के होते तो कालिदास जी इनके छन्द हजारा में अवश्य लिखते। इधर सूदन कवि ने सम्वत् 1915 के लगभग **"सुजान चरित्र"** बनाया, जिससे उन्होंने 175 कवियों के नाम लिखे हैं। इस नामावली से प्रायः कोई भी तत्कालीन वर्तमान अथवा पुराना आदरणीय कवि छूट नहीं रहा है, परन्तु इसमें बोधा का नाम नहीं है, अतः शिवसिंह जी का सम्वत् प्रमाणिक जान पड़ता है। जान पड़ता है कि बोधा ने लगभग सम्वत् 1930 से 1860 तक कविता की।"

डुमरॉव (शाहाबाद) के पं0 नकछेदी तिवारी ने **'भारत जीवन मंत्रालय'** से बोधा का **'इश्कनामा'** प्रकाशित कराया है। उनके वृत्तसंग्रह के अनुसार –

"बोधा कवि जी सवरिया ब्राह्मण राजापुर – प्रयाग के रहने वाले थे, किसी घनिष्ठ संबंध के कारण बाल्यावस्था में ही निज भवन को छोड़ बुन्देलखण्ड की राजधानी पन्ना में जा पहुँचे। गुणो से महाराजा साहब बहुत मानने लगे यहाँ तक कि मारे प्यार के बुद्धसेन से बोधा कहने लगे तब इनका नाम बोधा प्रसिद्ध हुआ। विनोद ने बोधा को फिरोजाबादी ही माना है क्योंकि आगरा के पं0 लक्ष्मी दत्त ने लिखा है कि बोधा के लिखे एक पत्र में 1845 संवत् दिया हुआ है आपने सोजीराम तथा मोजीराम को बोधा के भाई बलदेव, मनसाराम और डालचन्द्र को पुत्र , टीकाराम को पोत्र तथा गोपीलाल को प्रपोत्र लिखा है। जिनका अभी जीवित होना आप स्वीकार करते हैं। आपके अनुसार बोधा फिरोजाबादी (जिला आगरा) थे। फिरोजाबादी यह बोधा कवि सनाढ्य ब्राह्मण थे, तथा इनकी कुछ पेतृक भूमि "रहना" नामक ग्राम में, जो फिरोजाबाद के पास है, थी।

सरोज में बोधा कवि के नाम पर जो कवित्त दिया गया है उसमें भी गोपी–कृष्ण बोधा का ही वर्णन है–

एके लिये चौरी कर छत्र लिये एके हाथ एके छाँहगीर एके दावन सकेलती।

एके लिये पानदान पीकदान सीसा सीसी एके ले गुलाबन की सीसी सीस नेलती।

बोधा कवि कोऊ बीन बासुंरी सितार लिये लाडली लड़ावे फूलगेंदन की झेलती।।

छोटे ब्रजराज छोटी रावटी रंगीन तामें छोटी–छोटी अहीरन की खेलती।।

"खोज में विरही सुभान-दंपति विलास या "इश्कनामा" की जो प्रति सन् 1917 की त्रिवर्षी में मिली है उसका पहला ही दोहा है-

"खेतसिंह नरनाह को हुकुम चित्त हित पाइ।
ग्रन्थ इस्कनामा किये बोधा सुकवि बनाइ।।"

इससे स्पष्ट होता है कि बोधा खेतसिंह के दरबारी कवि थे। **विरहवारीश** में इन्ही खेतसिंह की प्रशस्ति मिलती है। उसमें दरबार से देशनिकाले का दण्ड भी कहा गया है, कवि का पूरा नाम भी है तथा यह बतलाया गया है कि ग्रन्थ के निर्माण का कारण क्या है। बोधा के देश निकाले की किवदन्ती निराधार नहीं है, हाँ छः महीने के स्थान पर "बारह" होना चाहिए था। यही नहीं, यह भी पता चलता है कि अनेक दरबारों में टक्कर खा लेने के अनंतर खेतसिंह के दरबार में बोधा गये थे।

"बढ़ि दाता बढ़ि कुल सवे देखे नृपति अनेक।
त्याग पाय त्यागे तिन्हें चित में चुभे न एक।।

कहाँ-कहाँ पर बोधा भटके इसकी सूची इस प्रकार है-

"देवगढ़ चाँदा गढ़ा मंडला उजेन रींवा साम्हर सिरोज अजमेर लो निहारो जोइ।
पटना कुनाऊ पेचि कुर्रा ओ जहानाबाद सांकरी गली लो बारे भूप देखि आयो साइ।
बोधा कवि प्राग ओ बनारस सुहागपुर खुर्दा निहारि फिरि मुरक्यो उदास होइ।
बड़े-बड़े दाताते अड़े न चित्त माँहि कह ठाकुर प्रवीन खेत सिंह सो लखो न कोई।।

खेत सिंह कोन थे बोधा ने इसका भी पता दिया है–

बुंदेला बुदेंलखण्ड कासी–कुलमंडन।

गहरिवार मंचम नरेस अरिदल बल खंडन।

तासु बंस छत्ता समर्थ परनापत बुझिये

तासु सुवर हिरदेस कुल्ल आलस जस सुझिये।

पुनि सभा सिंह नरनाथ लखि बीर धीर हिरदेस सुव।

तिहि पुत्र प्रबल कवि कल्पतरू खेतसिंह चिरजीव हुव।"

सभासिंह की मृत्यु सं0 1809 में हुई थी। इनके तीन पुत्र थे – हिन्दूपत, अमान सिंह तथा खेतसिंह। सभासिंह अमानसिंह के उत्तम गुणों के कारण उससे अधिक स्नेह करते थे। प्रजा भी अमान सिंह से प्रेम करती थी। इसी कारण हिन्दूपत से छोटे होते हुए भी राज्य के अधिकारी अमानसिंह बनाये गये लेकिन राज्य के लोभवश सं0 1915 में हिन्दूपत ने इनको मरवा डाला तथा वह स्वयं गद्दी पर बेठ गया! बोधा ने अपनी रचनाओं में कहीं पर भी हिन्दूपत का नाम भी नहीं लिया है। अमानसिंह को समर्थ अवश्य लिखा लेकिन महाराज नहीं लिखा। खेतसिंह के लिए महाराज, नरेश आदि विशेषण बराबर दिये हें! "सरोज" में दिया गया बोधा का काव्यकाल सं0 1804 ठीक बेठता हे।

रीतिबद्ध रचनाओं की सी शास्त्रबद्ध प्रवृत्ति पन्नावाले बुन्देलखण्डी बोधा में नहीं है, इससे इन्हें फिरोजाबादी बोधा से अलग करने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती। दोनों की शैली एक सी कहीं नहीं है, जेसा अनुमान लगाया है। इस प्रकार यह निश्चित हे कि एक बोधा रीतिबद्ध रचना करने वाले थे तथा फिरोजाबाद (आगरा) के थे। यह आवासिंह के आश्रित थे। द्वितीय बोधा रीतिमुक्त रचनाकार थे, ये पन्ना (बुन्देलखण्ड) के थे तथा खेत सिंह के आश्रित थे।

जन्म स्थान

बोधा के जन्म स्थान के विषय में विद्वानों में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती हे। इस विभिन्नता का मुख्य कारण एक ही नाम के दो कवियों का होना पाया जाता है। एक बोधा का जन्म स्थान "उसयानी" (फिरोजाबाद) आगरा माना जाता है। दूसरे बोधा कवि का जन्म स्थान राजापुरा (बांदा) माना जाता हे। रायबहादुर हीरालाल का मत हे कि बोधा मूलतः फिरोजाबादी थे परन्तु पन्ना के महाराज क्षेत्रसिंह के ही दरबार में प्रायः रहते थे। इनका रचनाकाल 18वीं शती का मध्यकाल था।"[1] इतिहासकार बोधा को बुन्देलखन्ड पन्ना से सम्पृक्त मानते हैं क्योकि पन्ना नरेश के राजदरबार में ही रहते थे।

आश्रयदाता

फिरोजाबादी बोधा महाराज सिंह आवासिंह के आश्रित थे। यह आवागढ़ से सम्बन्धित किसी नरेश का नाम माना जाता है। द्वितीय बोधा जो बांदा निवासी थे वे पन्ना नेरश महाराज खेतसिंह आश्रित थे। यह खेतसिंह पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल के प्रती अर्थात् पनाती (प्रपोत्र) थे तथा अमानसिंह के छोटे भाई थे। खेतसिंह के विषय में स्वयं बोधा ने लिखा हे कि सभा सिंह के तीन पुत्र थे—हिन्दूपत, अमानसिंह तथा खेतसिंह अमानसिंह अपने उत्तम गुणों के कारण अपने पिता के अधिक प्रिय थे समस्त प्रजा भी उनको प्रेम करती थी इसलिए राज्य का अधिकार भी उनको ही प्राप्त हुआ। हिन्दूपत ने राज्य के लिए अमानसिंह को मरवा डाला तथा स्वयं राजगद्दी पर बेठ गया। खेतसिंह इन्हीं के छोटे भाई थे। बोधा ने इनको महाराज, नरेश आदि अनेक विशेषणों से अलंकृत किया है।

बोधा ने खेतसिंह के आश्रय में रहकर अपनी काव्य प्रतिभा को निखारा था। खेत सिंह के समय में ही उन्होंने विरहवारीश की रचना की थी।

(घ) बोधा की रचनाएँ व उनकी प्रमाणिकता

संसार में स्वछन्द वृत्ति वाले, प्रेमोमंग के कवि बोधा द्वारा विरचित दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—

1. इश्कनामा अथवा विरहीसुभान दंपति विलास।
2. माधवानल कामकंदला, अथवा विरहवारीश।

विरहवारीश का दूसरा नाम **माधवानल कामकंदला चरित्र** भी है। विरहवारीश में आलम द्वारा कथित कथा को ही विस्तार पूर्वक कहा गया है। कवि बोधा ने उसी कथानक को निजी प्रेम भावना का योग देकर ओर भी सरस तथा आस्वादनीय बना दिया है। स्वयं कवि के कथनानुसार यह रचना कवि ने अपनी **महबूबा** की स्मृति में डूबते हुए विरह की महादशा में लिपिबद्ध की है। इसी कारण इसमें शेथिल्यता के दर्शन भी होते हैं तथा विशेष अर्थवत्ता भी नहीं प्राप्त होती है, लेकिन फिर भी जो सज्जन होंगे वे इसको पढ़कर अवश्य सुखानुभूति पाएंगें। बोधा ने अपने आश्रयदाता पन्ना नरेश खेत सिंह का ओर अपनी निजी प्रीति का संक्षिप्त परिचय एवं वृत्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इस प्रबन्ध एवं रचना के पीछे उनकी प्रेमिका सुभान की प्रेरणा थी। रचना संवाद या प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है जिनमें प्रेम को लेकर सुभान नाना प्रश्न करती हे तथा माधव उत्तर देता है। इसके उपरान्त समस्त जिज्ञासाओं के समाधान के लिए वे माधव तथा कंदला नामक प्रसिद्ध युगल की परम्परा प्राप्त कथा का विस्तृत वर्णन करते हैं।

"**इश्कनामा** के अन्तर्गत बोधा ने प्रेम तत्व का अनुभवाधरित निरूपण किया है। उनका प्रेम निरूपण न तो किसी व्यस्थित पर ही है, फिर भी अपने प्रेम सम्बन्धी अनुभवों का सार उन्होंने जगह—जगह

तथा बार–बार छन्दबद्ध किया है। यह उनकी एक विशेष प्रवृत्ति कही जा सकती है। अन्य कवियों की अपेक्षा उनके प्रेम तत्व सम्बंधी कथन अधिक परिमाण में उपलब्ध हैं।

"इश्कनामा" में वर्णित प्रेम पंथ की करालता के सम्बन्ध में अधोलिखित छन्द हिन्दी जगत में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं –

अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पांव दे आवनो है।
सुई द्वार ते बेह सकीन तहाँ परतीति को टाड़ो लदावनो हैं।।
कवि बोधा अनी –धनी नेजहुँ ते चढ़ि तापे न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पे धावना है।"

वस्तुतः बोधा का काव्य रीतिकालीन स्वछन्द काव्यधारा के समस्त कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस विशिष्टता का कारण बोधा की अपनी विलक्षण प्रतिभा ही है।

(ड़) विरहवारीश : कथा एवं शिल्प

"विरहवारीश" प्रबन्ध की कथा का आधार सिंहासन द्वात्रिंशात–का की 21वीं कहानी है जिसे अनुरोधवती नाम की एक पुतली सुनाती है। स्वयं बोधा ने इस ओर द्वितीय तरंग में संकेत किया है। बोधा का प्रबन्ध उक्त कथा का उल्था मात्र नहीं है, उसमें बोधा कवि की निजी भावना तथा कल्पना का योग पर्याप्त है। नख–निख, बारहमासा, विरह युद्ध, राग–रागिनी और नृत्य आदि के वर्णन तथा अनेकानेक छोटे–छोटे प्रसंग कवि की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं तथा कथा–कथन की शैली, संवाद आदि में भी बोधा का स्वतन्त्र कृतित्व देखा जा सकता है। माधवानल की कथा ऐसी है कि जिसे कहने में बोधा को अपने हृदय की प्रेम व्यथा का प्रगाढ़ रंग घोलने का पूरा अवसर मिला है। इस प्रबन्ध की विशद्ता, वस्तु विस्तार, वर्णनाधिक्य आदि को देखकर इसे महाप्रयत्न कहने में कोई बाधा नहीं है। कावयशास्त्र, संगीत शास्त्र लोक ज्ञान आदि संबधिनी कवि की विस्तृत जानकारी तथा नाना परिस्थतियों तथा घटनाओं की विनियोजना के कारण प्रस्तुत प्रबन्ध सभी दृष्टियों से पर्याप्त उत्कर्षपूर्ण बन पड़ा।

बोधा तथा सुभान की प्रश्नोत्तरी के रूप में इस प्रबन्ध की रचना हुई है, लेकिन कथा कथन की संवाद या प्रश्नोत्तरी शेली का निर्वाह अत्यन्त ठीक प्रकार से आद्यन्त नहीं हो सका है। बीच–बीच में केवल एक–आध बार ही सुभान कुछ पूँछती है तथा बोधा उसका समाधान करके आगे बढ़ जाते हैं। बोधा की इस प्रेम कथा को सुफी प्रेमाख्यानक काव्यों की कोटि में नहीं रखा जा सकता हैं क्योंकि एक तो वह प्रेमोन्माद की व्यंजना का लक्ष्य लेकर चलने वाली लौकिक गाथा है जिसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक अभिप्राय नहीं है, कथागत लौकिक प्रेम व्यंजना को किसर रूपक में अध्यवसित नहीं किया गया है। दूसरे इसकी कथा के आरम्भ का ढंग भी सूफियाना है जिसमें मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेक्कत की प्रशंसा आदि की गई हो। सूफी प्रेमाख्यान मात्र दोहा चौपाई छन्दों में लिखे गये हैं जबकि बोधा के प्रबन्ध में छन्दों की इतनी विविध्या है विरहवारीश दोहा चौपाई छन्द प्रधान होते हुए भी शैली की दृष्टि से एकदम नवीन हो उठी है। इस प्रेम कथा में प्रेम और जीवन की भारतीय मर्यादाएँ पूर्णतः सुरक्षित हैं। काव्य में वर्णित प्रेम उभयपक्षीय है, एक पक्षीय नहीं है। बोधा के ह्रदय में जितनी तड़प कंदला या लीलावती के प्रति है उतनी ही तड़प कंदला तथा लीलावती में भी माधव के प्रति है। इस प्रकार इस काव्य का वातावरण प्रेम पद्धति आदि सभी कुछ भारतीय ही है। सूफी कवियों तथा फारसी शायरों का किञ्चित प्रभाव अवश्य पड़ा है।

"विरहवारीश" प्रबन्ध में आधुनिक दृष्टि से अनेक अस्वाभाविकताएँ तथा अयथार्थताएँ हैं। काव्य को रमणीय बनाने के लिए प्राकृतिक शोभा का विवरण, माधव–लीला, कामकंदला आदि के रूप सौन्दर्य का वर्णन हुआ है। प्रबन्ध के अन्त में हिन्दू संस्कारों के अनुकूल वैवाहिक कार्यक्रमों का विधिवत् वर्णन हुआ है। इस प्रकार पूरा काव्य प्रणय की भावनाओं से ओत–प्रोत है। प्रबन्ध काव्य के सम्पूर्ण लक्षण इसमें दृष्टिगोचर होते हैं।

(च) बोधा की काव्य की विशेषतायें :-

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में बोधा के नाम पर अब तक इतने ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं - (1) विरही - सुभान दंपति विलास (17-20), (20-21), (2) बाग वर्णन (32-31 ए) (3) बारहमासी (32-31 बी,) (4) फूलमाला (32-31 सी, (5) पक्षी मञ्जरी (32-31 डी)।

इसमें प्रथम ग्रन्थ को इश्कनामा भी कहते हैं। यह इश्कनामा बुन्देलखण्डी बोधा की रचना है। दो से लेकर पाँच तक की रचनायें फिरोजाबादी बोधा की है। खोज के साहित्यान्वेषक के अनुसार ये बोधा उसयानी के रहने वाले थे। पंक्षीमंजरी में इस ग्रन्थ का रचनाकाल भी दिया हुआ है जो इस प्रकार है -

संवत् सोरह सै सही जानौ तुम छत्तीस।
तेरह शुक्ल असाढ़ की बार कुंभ को ईस।।"

इस उदाहरण के अनुसार सं0 1636 की असाढ़ त्रयोदशी, कुंभेश (शनि) वार को पुस्तक लिखी गई। लेकिन यह संवत् संदिग्ध सा जान पड़ता है, क्योंकि पक्षी मंजरी में एक दोहा यह भी है-

सुनौ सखी मानी नहीं ननदी बरजी सासु।
बौरी किनहू पाइयो पील्ह धोसुआ मासु।।"

"विरहवारीश" के रचयिता बुन्देलखण्डी बोधा ने तो केवल दो ही काव्य ग्रन्थों की रचना की है। उनके माधवानल कामकंदला चरित्र (विरहवारीश) तथा इश्कनामा काव्य ग्रन्थ ही अभी तक उपलब्ध हो सके हैं। हो सकता है कि आगे अन्य ग्रन्थों की प्राप्ति हो जाये अभी तो यही दो ग्रन्थ प्राप्य हैं।

बोधा के ग्रन्थ का सम्यक् रूप से अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि उन पर थोड़ा सा सूफी प्रभाव भी पड़ा था, वह इससे बिलकुल अछूते नहीं रहे। दो-एक स्थानों पर उन्होंने इश्क मजाजी और इश्क हकीकी

की चर्चा करते हुए सूफी प्रभावपन्न कुछ बातें लिखी हैं। सूफी मत में सांसारिक प्रेम से आगे बढ़कर ईश्वरी प्रेम तक पहुँच जाता है। लौकिक प्रेम वास्तव में अलौकिक प्रेम का सोपान है। इस प्रसिद्ध सूफी विचारधारा को उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है –

(क) इयक हकीकी है फुरमाया। बिना मजाजी किसी न माया

(ख) सुन सुभान यह इश्क मजाजी। जो दृढ़ एक हक्क दिलराजी।।

अपनी मुक्तक रचनाओं में संग्रह "इश्कनामा" में बोधा ने रूप वर्णन विशेष नहीं किया, यहाँ तक कि अपनी परम प्रिय सुजान के रूप का वर्णन उन्होंने पूर्णतः तो क्या अधूरे रूप में भी नहीं किया है, केवल उनके रूप की अपारता तथा सौन्दर्य की अतिशयता संकेत किया है–

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटियै ताकि मुसकाहट ताको।।'

मार्मिक विवेचन, निश्छल अभिव्यक्ति तथा भावों की सजीवता आदि बोधा की रचनाओं की एक सर्वप्रमुख विशिष्टता है। अगर बोधा के काव्य में निर्बधता न होती तो इनकी विशिष्टता भी नहीं मानी जा सकती थी। क्योकि काव्य में निर्बधता का होना भी परमावश्यक स्वीकार किया गया है। वस्तुतः बोधा एक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति करने वाले उच्च कोटि के कवि थे। विरहवारीश नामक प्रबन्ध तो वास्तव में वियोग भावना की ही सृष्टि है। उसमें अंकित विरह भावना पाठकों के मानस को भी आर्द्र कर देती है। "इश्कनामा' के अन्तर्गत प्रणय तत्व का अनुभाव पर आधारित निरूपण किया गया है। उनका प्रेम चित्रण दिखावटी नहीं है। यह तो स्वयं हृदय से निकलने वाली एक वेदनात्मक पुकार है।

इस प्रकार बोधा की रचनाओं में सर्वत्र प्रणय भावना मुखरित हुई है। प्रेम के संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्षों का सांगोपांग चित्रण उनके काव्य की एक प्रमुख विशेषता है।

अनुभूति प्रधान प्रेम जो कवि के निजी जीवन से संजात होता है उसकी विवृति कुछ और ही होती है। बोधा के काव्य में जो दीवानापन और मस्ती है वह रीतिबद्ध कवियों के काव्य में मिलना दुर्लभ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि रीति के छाप से छपे हुए आचार्य या कवि शृंगार की रचना पर रीति का ठप्पा लगा देते थे। काव्य का जो भी एक तरीका तैयार हो चुका था, उसी पर ही कुछ कह देना उसका काम था। कथ्य भी वही तथा विधि भी वही थी। सब कुछ वही पूर्व निर्धारित रहता था, केवल थोड़ा कथन चमत्कार, थोड़ी प्रसंग की उद्भावना में काव्य व्यय करना पड़ता है। परिणामस्वरूप रीतिबद्ध कविता बहुत कुछ एक रस, एकरूप हो चली।

विदग्ध तथा मर्मी कवि बोधा ने मनोगत प्रतिक्रियाओं तथा विकृतियों का चित्रण अत्यन्त अभिनिवेश के साथ करते पाये जाते हैं। प्रणय की नाना प्रकार की अनुभूतियों के चित्रांकन में बोधा परम सिद्धहस्त थे। प्रेम के तीव्र तथा विशिष्टता व्यंजक आवेग के पाठकों को कुछ दूर बहा ले जाने वालों में बोधा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कहाँ जायें इसका उनको ज्ञान नहीं रहता। प्रमत्तता उनको दिक्काल तक ज्ञान-शून्य करती है। विरह की असीम तथा प्राणान्तक वेदना सहन करने वाला प्राणी भी प्रेम करना छोड़ता नहीं वरन् कुरंग के सदृश उसमें उलझता ही जाता है। उस विषम परिस्थिति के अन्दर निहित मानसिक सुख के आगे सुख का साक्षात् परावार अनीप्सित तथा उपेक्षणीय हो जाता है।

बोधा के काव्य में अनुभूतियों का अत्यन्त सजीवता से निरूपण हुआ है। **"विरहवारीश"** में प्रेमानुभूति, वेदनानुभूति, आध्यात्मिक अनुभूति आदि का चित्रण करते समय कवि ने अपनी विलक्षण प्रज्ञा को उजागर

किया है। हिन्दी साहित्य में बोधा का अनुभूति चित्रण अत्यन्त उच्च कोटि का रहा है। अनुभूति परक एक उद्धरण दृष्टव्य है:-

"बोधा सुभान हितू सों कही या दिलन्दर की को सही करि मानत।
तामृगनेनी की चारू चितोंति चुभी चित में चित सो पहचानत।
तासों बिछोह दई ने कर्यो तो कहो अब केसे में धीरज आनत।
जानत हैं सबही समझाय पे भावती के गुन कों नहिं जानत।"

प्रेमानुभूति :-

बोधा ने प्रेम तत्व का अनुभूतिपरक चित्रण किया है। उनका यह निरूपण न तो किसी व्यवस्थित पद्धति पर आधृत हे और न ही सांगोपांग ही फिर भी अपनी प्रेमानुभूतियों का निचोड़ उन्होने स्थान-स्थान पर छन्दवद्ध किया है। यह उनकी एक विशेष प्रवृत्ति भी कही जा सकती है। अन्य कवियों की अपेक्षा उनके प्रेमतत्व सम्बन्धी कथन अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं।

प्रेममार्गी करालता के सम्बन्ध में तो बोधा का प्रस्तुत छन्द हिन्दी जगत में अत्यन्त प्रसिद्ध है :-

"अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पॉव दे आवनो है।
सुई द्वार ते बेह सकीन तहां परतीति को टांड़ो लदावनो है।।
कवि बोधा अनी घनी नेतहुँ ते चढ़ि तापे न चित्य डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है।।"[1]

1. विरहवारीश – बोधा–पृ0– 24

अर्थात प्रेम की कोठरी में ताला लगा हुआ है उसमें सभी प्रवेश नहीं कर सकते हैं। प्रेम का मार्ग हलाहल है उनके मत के अनुसार वेद पुराणों का ऐसा ही कहना है। प्रेम में असत्य क्लेश तथा मानसिक व्यथा सहनी पड़ती है। विरह प्रेम को अत्यन्त कठोर बना देता है। "विरहवारीश" में एक जगह पर ऐसा प्रसंग आया है जब प्रेम की पीड़ा से हारकर प्रेमी को कहना पड़ा है कि– "हे स्वामी। यदि तू नरदेह दे तो प्रेम मत दे, यदि भाग्यवश प्रेम मिले ही तो प्रियतम का वियोग न हो और अगर प्रिय का वियोग होना ही हो तो प्राणों का अन्त भी उसके साथ–साथ ही लिख दें":–

"जो नरदेह देहि हे स्वामी। तौ सनेह जिन देय बिरानी।
जौ सनेह करनीबस देही। तौ जिन बिछुरे मीत सनेही।।
जो कदापि बिछुरे मनभावन। तौ जिय जाय चलो तेही दावन।
छाती फटि द्वै टूक न होई। तौ किमि जानब बिछुरो कोई।।"

बोधा के प्रेमाख्यान "विरहवारीश" का चुनाव ही इस बात का द्योतक है कि प्रेम विधि निषेधों के घेरे में नहीं बंध सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से भी स्वकीया प्रेम परम प्रीति की प्रतिष्ठा का अधिकारी है। परकीया प्रेम को निकृष्ट और गणिका प्रेम को अधमाधम माना गया है। ग्रन्थारम्भ में यह समस्या उठाई गयी है :–

"प्रीति परम कहि कौन, निज पति उपपति गणिका की,
ये बिरही कहि तौन जो न होय सब ते सरस।"

बोधा ने चार प्रकार की प्रीति मानी है- आंख, कान, बुद्धि और ज्ञान की प्रीति। पतंग की प्रीति पहले प्रकार की, कुरंग की दूसरे प्रकार की, माधव की तीसरे प्रकार की यथा भृंग की चौथे प्रकार की है :-

आंख कान बुधि ज्ञान की प्रीति चार विधि जान।
चार भांति जिनके यथा विरही कहे बखान।।
प्रथम पतंग कुरंग पुनि माधव नल की प्रीति।
चौथी यारो ज्ञानमय भृड. कीट की रीति।।"[1]

कुछ आगे चलकर बोधा ने कहा है कि कोई प्रेम किसी से घटकर नहीं है, सभी समान रूप से सरस हैं। जिसका मन जहां पर उलझ जाये उसको वहीं पर प्रीति दिखायी देती है। लेकिन बोधा ने प्रत्येक सरस प्रीति के पीछे एक शर्त लगाई है। शर्त है प्रीति करने के बाद उसका निर्वाह करना।

माधव ने कदंला गणिका से प्रीति की थी। उसकी प्रीति को आदर्श प्रेम इसलिए माना गया क्योंकि उसने इसका निर्वाह किया था।

बोधा ने इस दुनिया के व्यवहार को देखकर यह अनुभव किया कि प्रेमी को अपनी व्यथा किसी से व्यक्त नहीं करनी चाहिए क्योंकि संसार के स्वार्थी लोग उसकी व्यथा को बांट नहीं पाते हैं उलटे लोग उसका परिहास करते है। यह संसार किसी प्रेमी की पीड़ा को समझता नहीं इसलिए अच्छा और बुरा अपने तक ही रखना चाहिए। हमको जो आत्मिक व्यथा होती है वह तो केवल हमारा ही मन जानता है, दूसरे लोग तो मात्र हंसी उड़ाते हैं :-

1. विरहवारीश-बोधा-पृ0- 5 .

"काहू सों का कहिबो सुनिबो कबि बोधा कहे में कहा गुन पावन।
जोई है सोई है नेकी बदी मुख से निकसे उपहास बढ़ावत।"[1]

बोधा ने भी सुभान से प्रेम किया था, इस प्रकम पर उन्होने अपनी लोक–लाज सभी कुछ त्याग दी। उन्होनें अनुभव किया था कि अगर प्रेम करना है तो फिर सांसारिक बन्धनों की अवमानना करनी ही होगी। जिस लोक का डर हो वह भूल कर भी इस मार्ग पर कदम न रखेः–

"लोक की लाज और सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हांतो करे पुनि सोऊ।।
बोधा सुनीति निबाह करे धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पेंड़े परे जनि कोई।।"[2]

बोधा ने प्रणय की प्रत्येक स्थितियों की अनुभूति की थी। उन्होने कुछ स्थलों पर अत्यन्त कामुकतापूर्ण बातें भी लिखी है। उदाहरणार्थ उन्होंने एक छन्द में गुप्त रूप से की जाने वाली रति तथा काम क्रीड़ा की उत्कृष्टता स्वीकार की हेः–

"कांपत गात सकात बतात हैं सांकरी खोरि निसा अंधियारी।
पातहू के खरके धरके धरके उर लाय रहै सुकुमारी।।
बीच में बोधा रचे रस रीति मनो जग जीति चक्यो तिहि बारी।
यो दुरि केलि करे लग में नर धन्य वहै धनि यह नारी।।"[3]

---

1. इश्कनामा–बोधा–पृ0– 8
2. विरहवारीश–बोधा–पृ0– 49
3. विरहवारीश–बोधा–पृ0–113

"विरहवारीश" में इसी प्रकार के भाव तथा विचार और भी देखे जा सकते हैं। "अमृत कहां है" का उत्तर देते हुए उनकी यह उक्ति उनकी मनोभावना पर अच्छा प्रकाश डाल रही है–

"उन्नत उरोजन में दृगन सरोजन में,
मोंहन के चोंजन में भेद मुसकान में।
रसना रशनहू में कंचुकी कसनहू में,
अञ्जन रसन हू में बेनो सुखदान में।।
बेंदी के मसकबे में नाही के कसकबे में,
सेस के मसकबे में रस की रिसान में।
भूले कोऊ अन्त ही बतावत हे बुद्धिसेन,
अमृत बसत है विशेष नबलान में।"[1]

बोधा की प्रेमानुभूति विषयक उक्तियां अत्यन्त ही मनोग्राही सिद्ध हुई हैं। "विरहवारीश" में वर्णित प्रेमानुभूति विषयक एक उद्धरण दर्शनीय है :–

"बात नहीं समुझावे सबे वह पीर हमारी न पावत कोई।
का करे मान सिखापन सो जिय जाही को आपने हाथ न होई।
बोधा कदाचित जाने वहै यह मो हिय में जिन बेदन बोई।
चाव कचोट कटाक्षन की तन जाके लगी मन जानत सोई।"[2]

अर्थात सभी लोग मुझे बातों से ही समझाते हैं, मेरी पीड़ा को कोई भी नहीं समझता वह व्यक्ति किसी की शिक्षा का क्या करेगा जिसके हाथ में उसका

---

1. विरहवारीश–बोधा–पृ0–
2. विरहवारीश–बोधा–पृ0– 157

मन ही नहीं है। शायद वह व्यक्ति मेरी इस पीड़ा को जानता होगा जिसने मेरे हृदय में यह वेदना दी है। यह कटाक्षों की तीखी मार वही समझता है जिसके साथ ऐसा घटित होता है।

वस्तुतः बोधा ने प्रेमानुभूति विषयक प्रत्येक छन्द हृदय को स्पर्श करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-भंगिमाओं को अत्यन्त सजीव रूप से चित्रित करना बोधा की अपनी अपूर्व प्रतिभा को प्रकट करता है! नायक तथा नायिका के मन के प्रत्येक भावों को वह अत्यन्त गहराई से समझ लेते थे। किस समय, किस परिवेश में उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी इसका अनुमान वह अत्यन्त कुशलतापूर्वक कर लेते थे। प्रेम का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं था जो कि उनकी कुशाग्र बृद्धि से बच पाया हो, प्रतीत नहीं होता है।

वेदनानुभूति :-

वेदना की प्रधानता की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रेम निखार वास्तव में विरह वेदना में ही होता है। बिरही व्यक्ति ही अनन्य प्रेम का पुजारी होता है। विरह में ही प्रेम अपनी पराकाष्ठा को पहुँचाता है। रीतिमुक्त धारा के सभी कवियों ने एकमत हो इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इन कवियों के लिए प्रेम ही जीवन था फलतः विरह उसका अविच्छेद्य अंग है इसलिए का चित्रण उन्होंने विशेष अभिनिवेश से किया है। रीतिमुक्त काव्य धारा के प्रमुख कवि बोधा ने इस विरह वेदना का सविस्तार चित्रण किया है। "विरहवारीश" में तो इस वेदनानुभूति का अधिकाधिक निवेश हुआ है।

विरह वेदना अत्यन्त असहनीय होती है। प्रियतम के अभाव में चांदनी रात भी दुखदायिनी प्रतीत होती है, विरहाग्नि के कारण घर के अन्दर भी चेन नहीं मिलता है तथा भाग कर जंगल भी नहीं जाया जा सकता है। विरही माधव अत्यन्त विकल होकर कह उठता है।

"सुन हे प्रवीर पीर कौन पै जनैये जौ पै,
देखत ना निकट सलोनी नोनी धन कों।
ध्यान के धरत ही धड़ाको ऐसे लागो बिना,
प्यारी के संजाग समझाऊँ कैसे मन कों।
बोधा कवि भवन में कैसे हू रह्यो न जाय,
विरहदवागि ते न जाये जाय बन कों।
सरदनिसा में चंद निसिचर ऐसो ताकी,
चांदनी चुरैल से चबाए लेत तन कों।"[1]

यह कोई संयोग की बात नहीं है बोधा के काव्य में समान रूप से विरह का आधिक्य मिलता है। यह उनकी जीवनार्जित धारणा है, सच्चे प्रेम से उत्पन्न निष्ठा हे जो विश्व के अन्यान्य महाकवियों द्वारा स्वीकृत निष्ठा के मेल में है। महाकवि भवभूति ने भी दुखोद्रेक–मूलक वृत्ति को काव्य की मूल वृत्ति माना था।

"एकोरसः करूण एव निमित्त भेदात्भिन्न पृथक् पृथगिवश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद्बुद्तरंगमयान्विकारान्मो यथा सलिलमेव तुतत्समस्तम्।।"

---

1. विरहवारीश–बोधा–पृ0– 88

वास्तव में प्रिय का वियोग ऐसा होता है कि अपनी पीड़ा को किसी से कह भी नहीं सकते हैं। स्थिति बिल्कुल हफासेट की सी हो जाती है बस अपने मुख को खुला तो रखते हैं न रो सकते हैं और न हंस सकते हैं। अर्थात् व्यक्ति संज्ञाशून्य सा होने लगता है :-

"नइ प्रीति में प्रियतम तो बिछ्रो बने काहू न पीर सुनावत री।
बिरही चकचोधि रही बनिता वे अषाढ़ी घटा लखि आवत री।
सुनि भूली सुभाव सबे मुखा धुखान को धावन धावत री।
हफासेट लों बाये फिरे मुख को बने रोवत ही नहिं गावत री।।"[1]

वेदना की पीड़ा को वहीं व्यक्ति जानता है जिसने स्वयं वेदना को सहन किया हो। बोधा ने इस बात को स्वीकार किया है :-

"व्याउर की पीर कैसे बॉझ पहिचाने कैसे,
ज्ञानिन की बात कोऊ कामी नर मानिहै।
कैसे कोऊ ज्ञानी कामकथन प्रमान करै,
गुर को सवाद कैसे बाउरो बखानिहै।
कैसे मृग नैनी भावे पुरुष नपुंसक को,
कवि को कवित्त कैसे सठ परिचानिहै।
जाने कहा कोऊ जापे बीत्यो न वियोग बोधा,
बिरही की पीर क्यों बिरही पहिचानिहै।।"[2]

---

1. विरहवारीश–बोधा–पृ0– 202
2. विरहवारीश–बोधा–पृ0– 90

प्रियतम के दूर होने पर नायिका रात-दिन विरह की अग्नि में जलती रहती है, उसे केली कलाप तथा चातक की पुकार भी कष्ट प्रदायक सिद्ध होती है, अतएव वह उनसे अनुनय करती हुई कहती है-

प्यारो हमारो प्रबासी भयो तब सों सहिये विरहानलतापन।
एते पे पावस की जो निसा हियरा ह हरे सुनि केकीकलापन।
चातक चाते करो बिनती बिन काम क्षमो अपनी या अलापन।
ते अपने पिय कों सुमिरे पे मरे हम तेरी जुबान के दापन।।"[1]

वास्तव में बोधा की वेदनानुभूति अत्यन्त हृदय द्रावक है, उनके चित्रण पाठकों को अन्यत्न भाव-विभोर कर देते हैं-

आध्यात्मिक अनुभूति :-

"विरहवारीश" में आध्यात्मिक अनुभूतियों का भी चित्रण हुआ है। इसमें बोधा ने आध्यात्मिक प्रभावापन्न कतिपय बातों का उल्लेख किया है। कहीं-कहीं पर तो उनके काव्य में कबीर के समान क्लिष्टता के दर्शन होने लगते है। इस प्रकार का एक दोहा दृष्टव्य है :-

"कन्या ने जननी जनी सुत उपजायो तात।
बनिता ने भर्ता जनो लोक बेद विख्यात।।"[2]

---

1. विरहवारीश-बोधा-पृ0- 108

2. विरहवारीश-बोधा-पृ0- 39

एक अन्य स्थल पर लीलावती माधव से प्रश्न करती हुई कहती है:-

"पगन हीन दस दिसिहूँ धावै। बिना जीभ के बेद पढ़ावै।
मुख बिहीन जो अन्नहि खाय। जात न जानी को धौं आय।।
सबहिन की नारिन सों रहे। कुच मरदे अरू माता कहे।
वेद कलाम पढ़त हैं दोऊ। वा बिन तुरक हिंदू होऊ।।"[1]

अर्थात् पैरों से रहित होते हुए भी जो दसों दिशाओं में दोड़ता है, जिभ्या से हीन होते हुए भी जो अन्न का भोजन करता है, उसकी जाति का भी कुछ पता नहीं है। सभी की स्त्रियों के साथ रहता है। वह उन स्त्रियों के स्तनों का मर्दन करता है लेकिन उसको माता कहता है। वेद तथा कलाम दोनों का अध्ययन करता है न वह हिन्दू है और न ही तुर्क। (आखिर वह कोन है? मन अलोकिकता की तरफ चला जाता है।)

इस प्रकार का यह छन्द बोधा की आध्यात्मिक अनुभूति पर अच्छा प्रकाश डालता है। उनके अध्यात्म ज्ञान से सम्बन्धित छन्द उनकी बहुज्ञता को उद्घाटित करते हैं। एक स्थल पर माधव अपने मित्र गुलजार से कहता है कि हे मित्र! अब मेरे हृदय से लग कर मिल लो क्योंकि अब तो दुबारा मिलना ईश्वर के हाथ में है-

हिये लागि मिल लो पिय मेरे। अब फिर मिलन हाथ विधि केरे।
खिलवत खुसी दोस्ती लेखे। वे दिन बहुरि न बहुरत देखे।।"[2]

---

1. विरहवारीश - बोधा - पृ0 39
2. विरहवारीश - बोधा - पृ0 128

इस छन्द से ज्ञात होता है कि बोधा भी भाग्यवादी थे, वह भी भाग्य पर विश्वास करते थे। ईश्वर के प्रति भी बोधा की सच्ची श्रद्धा थी। अत्यधिक कष्ट के क्षणों में वह उस परम शक्ति की ही शरण में जाकर मस्तक झुकाते थे।

एक स्थल पर बोधा ने स्वीकार किया है कि इस कलिकाल में भगवान शंकर को छोड़कर कोई भी दीनों का कष्ट सुनने वाला नहीं है। इसलिए इनकी शरण में रहना उचित है। जब माधव सर्वत्र घूम–घूम कर हार जाता है तो शिव की स्तुति करता हुआ कहता है–

"कोऊ न सहाय कलिकाल में दुखी को आय,
कासों कहा जाय भारी बिरह कलेस को।
देखे राज राय दयाहीन सब ठोर जाय,
गिनती कहाँ लो आय देसहू बिदेस को।
बोधा कवि ध्याय–ध्याय धाय–धाय परि पाय,
भरम गवाँय कीन्हों करम अंदेस को।
काहु के न जैहों आदर न पेहों यातें,
चरन गे रेहों में तो सरन महेस को ।।"[1]

बोधा ने संसार की अनित्या को भली प्रकार समझ लिया था। उन्हें ज्ञात था कि जिस समय मृत्यु आयेगी उस समय कोई भी रोक नहीं सकता है। समय पर सभी कुछ समाप्त हो जायेगा। जन्म देना, पालन तथा संसार सभी कुछ उसी प्रभु की लीला है। तीनों लोक, तीनों गुण, पाँचो तत्व (अर्थात् सभी जड़–चेतन पदार्थ) काल के आहार बन बन जायेंगे। जब त्रिगुणी (माया, प्रवृत्ति) भी इससे बच नहीं सकी तो फिर अन्य जीवों के विषय में क्या कहा जा सकता है। जब देवी की भी नहीं चली तो पुजारी की क्या चल पायेगी –

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 144

"निमिष में बरष में चौकड़ी मन्वंतर में,

कल्प में प्रले में जब आवेगी जिसी गली।

संधि पाय सवकों चबाय लेहैं बोधा कवि,

जनमेबो पारन संहारन वही छली।

तीनों लोक तीनों गुन पांचो तत्व सृष्टिवान,

काहु कों न छोड़िहे अदृष्ट सब ते बली।

त्रिगुनी बचे न ओर जीव कहानी कोन।

देबीहू को मारी तो पुजेरी की कहा चली।।"[1]

भाग्य में जो कुछ लिखा होता है वही होता है। भाल के अंको को कोई भी मिटा सकने में सक्षम नहीं है। जो होनी होती है वह पहले हो जाती है। मनुष्य उस पर विचार तो बाद में कर पाता है। बोधा ने इस तथ्य को अत्यन्त कुशलतापूर्वक चित्रित किया है–

"अंगम अंक ये भाल के जतन वृथा है मित्त।

होनी प्रथमै जात है पाछे दौरत चित्त।।

धन्य धन्य विधि बुद्धि तुव करी आन की आन।

करनावर कर में रही तेरी करी प्रमान।"[2]

वस्तुतः बोधा के काव्य में आध्यात्मिक अनुभूतियों का चित्रण हुआ तो है लेकिन कामुकतापरक वर्णनों की अधिकता है। लौकिक तथा वासनामय प्रेम ही कदाचित उनके जीवन का सर्वस्व था इसलिए मात्र इश्क–मजाजी तथा इश्क हकीकी की चर्चा कर देने से तथा संसार को अनित्स सिद्ध करने से उनकी मात्र आध्यात्मिकतावादी नहीं माना जा सकता। उनमें आध्यात्मिक भावना का बहुत थोड़ा सा वर्णन मिलता है।

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 173–74
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 170

अनन्यता :–

"विरहवारीश" में प्रेम की अनन्यता के भावों की सुन्दर नियोजना हुई है। प्रेमी अपनी प्रियतम के साथ अहर्निश रहना चाहता है उसको पल मात्र के लिए भी उसका विछोह असह्य हो जाता है। अगर प्रियतमा पास है तो सभी सुख हैं, और उससे वियुक्त होने पर अगर विधाता तीनों लोकों के करोड़ों राज दे तो वह व्यर्थ है। इसी तथ्य को बोधा ने "विरहवारीश" में इस प्रकार व्यक्त किया है -

"जो पिय सों संजोग सुखनिबन्ध बैरिन बिषै।
देय बिरंचि बियोग कोटि राज किहि काल तिहि।।"[1]

लीलावती माधव के प्रति अपने अनन्य प्रेम को व्यक्त करती हुई कहती है –

होनहारजो अजहूँ होही। खंगधार किमि काटहु मोही।।
मरि किन जाउँ प्रीति नहिं छोड़ौ। नेकी बदी सीस पर ओड़ौ।
बरू किमि लिखी भाल की मेटौं। देहु छोड़ि माधवनल भेटौं।।"[2]

अर्थात हो होना होगा वह आज होगा। खड्ग से चाहे मुझे काट दो। मैं मर भले ही जाऊँगी लेकिन माधव के प्रति अपनी प्रीति को नहीं छोड़ूँगी। मैं भलाई तथा बुराई को अपने सिर पर सहन लूँगी। मैं अपने शरीर का परित्याग करके भी माधव से भेंट करूँगी, मुझे किसी बात का डर नहीं है।

एक स्थल पर माधव लीलावती की दूती को पत्र लिखकर देता

---

1. **विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 37**
2. **विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 52**

है जिसमें वह लिखता है कि जब बिना किये हमारे ऊपर दोष लगाया जा रहा है तो फिर निडर भाव से आकर मुझसे मिल ही लो क्योंकि भविष्य में क्या घटित होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

"अब तू मोकों लेय मिलि भय तजिकै निरसंक।
द्वै दुख नाहक कों सहैं कर बिन लगै कलंक।।
को जानै पुनि है कहा होनहार की बात।
पलक तफावत के परे बीत कल्प से जात।।"[1]

यहाँ पर प्रेम की अनन्यता इतनी तीव्र हो गयी है कि प्रियतम से दूर रहने पर एक-एक क्षण एक-एक कल्प के समान व्यतीत होता है। बोधा के प्रणय की अनन्यता को सभी कवियों ने मुक्त कण्ठ से सराहा है। एक स्थल पर माधव प्रेम की अनन्यता व्यक्त करता हुआ कहता है -

"मेरे तेरे मिलन में अंतर कबहूँ नाहिं।
तू मेरे जिय में बसत जिय मेरे हिय मांहि।।"[2]

अर्थात् मेरे और तुम्हारे मिलन में कोई भी अन्तर नहीं है क्योकि तू तो मेरे हृदय में रात-दिन निवास करता है और वह हृदय मेरे हृदय के अन्दर स्थित है अर्थात् दोनों एक प्राण दो शरीर हैं।

जिस समय राजा विक्रम माधव से कहते हैं कि तुम अपनी कंदला को प्राप्त करने की टेक को छोड़ दो और निशंक होकर ग्वालियर का राज स्वीकार करो उस समय माधव द्वारा दिया उत्तर उसके अनन्य प्रेम का परिचायक है :-

---

1. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 59
2. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 127

"कहा राज करिये लै स्वामी। जो न घटै दिल की बेरामी।

मेरो राज्य कंदला नारी। ता पै सबै रजायसु वारी।।

जौ लौं हों जीवत जग माहीं। तौ लौं भजौ कंदला काहीं।

जियतै जियौ मरे मरि जाऊँ। जन्म जन्म दिलवर को ध्याऊँ।।

स्वरग हितू तौ स्वर्ग पधारौं। नरक हितू तौ नरक सिधारौ।

जप तप करौं उसी के कारन। जौ लग धरिहौं देह हजारन।।"[1]

इसी प्रकार एक स्थल पर विक्रमसेन माधव से कहते हैं कि तुम पूरी उज्जयिनी नगरी में भ्रमण करके देख लो, यहाँ घर–घर में रूपसी बालायें रहती हैं, तुमकों जो सर्व–सुन्दरी लगे मुझे बताओ मैं उसको तुम्हें सौंप दूँगा। प्रत्युत्तर में माधव यही कहता है कि जो बाला (कंदला) मेरे मन में बसी है उसके सदृश त्रैलोक्य में भी अन्य रूपसी नहीं होगी। मुझे अन्य किसी भी सुन्दरी की आवश्यकता नहीं है वही मेरे लिए सर्व–सुन्दरी है :–

"द्विज तुम लखौ सब उज्जैनि। घर घर सोहती मृगनैनि।

बिटिया बधू बाला कोई। कौनौ जाति सुन्दर होइ।।

जामें चुभै तेरो चित्त। सो मैं देहुँ तो कहँ मित्त।

माधो कही नाहिंन राज। दूजी बाम सों कह काज।।

मेरे मित्त के सम कोई। तीनों लोक में नहिं होइ।

यह सुन सचिव सब परबीन। उत्तर माधवा कों दीन।।"[2]

अर्थात् माधव का प्रेम अनन्य भाव का है उसे अपनी प्रियतमा के अतिरिक्त अन्य में कोई अभिरुचि नहीं है।

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 128

2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 156

जिस समय विक्रम सेन माधव से कहता है कि तुम तो ब्राह्मण हो, तुम्हारे लिए तो हरि भजन करना, वेदों का अध्ययन करना ही उचित है। तुमने कंदला के प्रति इस प्रकार के अनन्य प्रेम का मुझसे वर्णन क्यों किया, तुम्हें तो वेद, शास्त्रों पर चर्चा करनी चाहिए थी। इसके उत्तर में माधव कहता है –

"त्यागत तन मृग राज सुनि दीपक संग पतंग।
मछरी जल बिछुरत मरै यही प्रीति को अंग।
यही प्रीति को अंग स्वाति चातक घर बरही।
चुंबक लोहो मिलें फेरि नयारो को करही।
बोधा कबि दृग लगे लोक अचरज सो लागत।
हारिल सों बूझयौ लकरिया काह न त्यागत।।"[1]

मैंने तो अपने मन में बस यही विचार कर लिया है कि अगर कंदला के मुझे दर्शन मात्र हो जायें तो मुझे मुक्ति मिल जायेगी। मेरे लिए तो कंदला सैकड़ो बैकुण्ड के सदृश मुक्ति दायक है –

"मैं अपने जिय यहै बिचारी। सत बैकुंठ कंदला नारी।
जब देखौं निज प्रीतम काहीं। मुक्त होन में संसय नाहीं।।"[2]

"आपहि होके सारथी मोहिं चलै लै राम।
तो न जाऊँ वा लोक कों बिना कंदला बाम।।
बिन यारी का लै करौं सुरपुरहू को बास।
मित्रसहित मरिबो भलो कीन्हे नरकनिवास।।"[3]

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 153
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 155
3. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 155

वास्तव में बोधा का काव्य प्रणय की अनन्यता का एक उदात्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रेम वही श्रेष्ठ माना जाता है जिसमें एक निष्ठता होती है। अपने प्रिय को छोड़कर अन्य किसी की ओर मन चलायमान ही नहीं होता है। बस मन यही चाहता हे कि प्रियतम हर क्षण सम्मुख ही रहें। जिस प्रेम में अनन्यता का सन्निवेश नहीं होता है उसे प्रेम नहीं कहा जा सकता। वह तो एक आकर्षण मात्र होता है जो किसी से भी हो सकता है।

प्रिय के साथ प्रत्येक स्थिति सुखद लगती है इसी भाव को बोधा ने इस प्रकार व्यक्त किया है –

"चाँदनी सेज जरी की जरी तकिया अरू गेडुआ देखि रिसाती।
राती हरी पियरी लगीं झालरैं केसरधारी बिरी नहिं खाती।
बोधा इते सुख पै न रमै उत कारो को सांवरो रूप सिहाती।
यार के साथ पयार बिछाय के डीमन में नित खेलन जाती।।"[1]

वस्तुतः "विरहवारीश" एक अत्यन्त उच्चकोटि का प्रणय काव्य है जिसमें अवगाहन करके सहृदय पाठक आत्म विभोर हो उठता है।

उत्सर्ग एवं विसर्जन :–

"विरहवारीश" में उत्सर्ग तथा विसर्जन विषयक भावों के चित्रण भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बोधा ने अपने काव्य में इनका अत्यन्त सजगता पूर्वक संयोजन किया है। वास्तविकता तो यह है कि

1. विरहवारीश – बोधा – पृ० – 132

कोई भी प्रेम काव्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसमें उत्सर्ग तथा विसर्जन युक्त भावों को सन्निवेश नहीं हुआ हो। बोधा इस विषय में पूर्णतया सजग रहे, उन्होंने इस प्रकार के वर्णन अत्यन्त हृदयद्रावक बना दिये हैं। जिस समय राजा माधव को देश निकाला दे देते हैं तो नायिका लीलावती अत्यन्त व्यथित हो जाती है। वह रूदन करती हुई अपनी सखी से कहती है –

"रोवत बाल बिरहमदमाती। ताकि रोवत बिहरत छाती।
अब कहु सखी करौं मैं केसी। भई दसा माधो की ऐसी।।
गिरि ते गिरौ मरौं विष खाई। तनु तजि मिलौं माधवै जाई।
मरौं मिटै दुख मेरी प्यारी। कैसहु प्रान कढै इहि बारी।"[1]

लीलावती पर्वत से गिरकर या विष खाकर अपने प्राणों का परित्याग करके माधव से मिलना चाहती है। वह कहती है कि अब प्राणान्त होने पर ही मेरा दुख दूर हो सकेगा, किसी भी प्रकार मेरे यह प्राण निकल जायें।

लीलावती के विरह में माधव भी अहर्निश आंसू बहाता रहता है वह भी अपने मित्र से कहता है –

"जीबो न मित्र अस जान जाय। करिये वियोग को का उपाय।
दुख कोटि कोटि तिल के समान। बिन मीत बिछोहा वज्र जान।।
इक स्याम घटा दक्षिन निहारि। गिरि गयो बिप्र उर सूल धारि।
अति बिसद सजल अति घोर कीन। अति बरहि धरा पर वज्र पीन।।"[2]

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 79
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 82

बोधा ने तो स्पष्ट कहा है कि वह साक्षात् पशु के समान हैं जो यह सुनकर भी जीवित रहते हैं कि प्रियतम परदेश जा रहा है। उन जीवों को धिक्कार है जो अपने प्रियतम से बिछड़कर भी जीतिव रहते हैं। वास्तव में बधिर होना अच्छा है क्योंकि उससे वे प्रियतम का परदेश जाना नहीं सुन पाते हैं। उस रसना का जल जाना ही ठीक है जो प्रियतम को परदेश जाने की अनुमति देती है। प्रेम करने में क्या जाता है, प्रेम तो सभी व्यक्ति कर लेते हैं। प्रेम करके उसका निर्वाह करना अत्यन्त कठिन काम है –

"हे दिलवर सुन बात निज जिय की जुबती कही।
पिय बिदेश कहं जात ते पसु जे सुनि कै जियत।।
बोधा धृक वह जीव जो प्रीतम बिछुरत जियत।
बिदुरत देखे पीव ऐसे दृग फूटे भले।।
बधिर भले वे कान जे प्रियतम बिछुरत सुनैं।
बोधा धृक् वे प्रान प्राननाथ बिछुरत रहैं।।
रसना किन जरि जाय जान कहै दिलजान सौं।
गेह लगै किन जाय भाव बिना भाकसी सम।।
नेह करे का जात सब कोऊ सब सों करै।
अरे कठिन यह बात करिबो और निबाहिबो।।"[1]

एक स्थल पर बोधा ने प्रेम पर उत्सर्ग करने वाले भरत भूप का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है –

"कीन्हीं प्रीति कुरंग सों भरत भूत तप छंडि।
भृगा भये नरदेह तजि प्रेम प्रकृति अस मंडि।।"[2]

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 126
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 153

जिस समय विक्रमसेन वैद्य का रूप धारण करके कन्दला के महल में जाते हैं और कंदला से कहते हैं कि –

"अब वह विप्र जियत है नाहीं। त्यागो तन उजैन पुर माहीं।"[1]

सुनते ही कंदला अपने प्राणों का परित्याग करने से नहीं चूकती है, वह मृत्यु को प्राप्त हो जाती है –

"वैद्यबचन हिय अति कठिन लागे कुलिस समान।
हाय मित्र माधवा कहि तजे कंदला प्रान।।"[2]

इधर जब विक्रमसेन अपने डेरे पर आता है तो वह माधव की भी प्रेम परीक्षा लेने के हेतु तुरन्त ही उससे बता देता है कि कामावती नगरी में जो बाला निवास करती थी, वह अब नहीं रही, उसकी मृत्यु हो गयी है। यह सुनते ही माधव कंदला के विरह में अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है –

"मरी नारि यह श्रवन सुनि माधो तन तजि दीन।
हाय कंदला कंदला कहं कंदला प्रवीन।।
संखनाद देवन कियो छाए ब्योम बिमान।
इत तन त्यायाग्यो माधवा उत कंदला सुजान।।"[3]

जिस समय माधव भी अपने प्राण त्याग देता है तो राजा अत्यनत विक्षिप्त हो जाते हैं। दो प्राणों के चले जाने पर वह राजा स्वयं भी अपने प्राणों का विसर्जन करने के लिए तैयार हो जाता है। जिस समय राजा चिता में बैठने लगता है, वहाँ बेताल आ जाता है वह अमृत लाकर माधव तथा कंदला को जीवित कर देता है तथा राजा को भी

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 168
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 168
3. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 171

प्राणोत्सर्ग से बचा लेता है।

इस प्रकार विरहवारीश" में उत्सर्ग एवं विसर्जन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्र प्राप्त होते हैं। प्रेम वास्तव में वही श्लाघनीय होता है जिसमें उत्सर्ग की भावना निहित हो। कहने वालों ने यहाँ तक कह दिया है कि "त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है, करो प्रेम पर प्राण निछावर।" उत्सर्ग की महत्ता को सर्वोपरि मानकर ही कहा गया है कि जिसमें प्रेम पर बलिदान देने की सामर्थ्य न हो वह इस मार्ग पर चरण ही न रखे। माधव एवं कंदला दोनों ही प्रेम पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने में कदापि पीछे नहीं रहते हैं। उनके बलिदानों ने उनके प्रणय गरिमा को और भी द्विगुणित कर दिया है।

सूफी प्रभाव :-

बोधा के प्रबन्ध काव्य "विरहवारीश" का सम्यक् अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उन पर सूफी प्रभाव भी पड़ा था। एक-दो स्थानों पर उन्होंने "इश्क मजाजी" तथा "इश्क हकीकी" की चर्चा करते हुए सूफी प्रभावापन्न कुछ बातों का उल्लेख किया है। सूफी मार्ग धारा के मानने वालों के मतानुसार सांसारिक प्रेम से आगे बढ़कर ईश्वरी प्रेम तक पहुँचा जा सकता है। लौकिक प्रेम सामान्यतया अलौकिक प्रेम का सोपान है। इसी प्रसिद्ध सूफी विचारधारा को बोधा ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है -

"सुनि सुभान यह इस्कमजाजी। जो दृढ़ एक हक्क दिल राजी।

पढ़े पढ़ावे समुझै कोई। मिलै हक्क खादिम को सोई।।

उनमुन उनमुन उनमुन मेला। इस्क हकीकी झेलमझेल।

लखिकै ध्यान बनी को आवै। पूरन प्रेम निसानी पावै।।

बेद किताब यहू मत बूझै। तीन लोक ऊपर तिहि सूझै।

नाहक कबित रचै जो कोई। हरगिज गलत पढ़े जो कोई।।"[1]

एक अन्य स्थल पर इसी प्रकार का एक सूफी-प्रभाव परक उद्धरण दृष्टव्य है -

"इश्क हकीकी है फुरमाया। बिना मजाजी किसी न पाया।

हजरत नबी कही थी आगै सौ कुर्रा काजी को लागे।।

बोलै कागा कर्कस बानी। तू क्या इस्कमजीजी जानी।"[2]

बोधा ने इश्कमजाजी और इश्क हकीकी को भली प्रकार समझ रखा था। इस विषय में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि बोधा ने इश्क मजाजी और इश्क हकीकी में से प्रथम प्रकार के इश्क को अर्थात् सांसारिक प्रेम को पकड़ रखा था। इश्क हकीकी का तो उन्होंने मात्र नामोल्लेख किया है। अलौकिक प्रेम का तो उनके काव्य में दर्शन मात्र भी नहीं होता।

बोधा ने एक स्थान पर अपने महबूब को ही ब्रजराज मानकर कहा है :-

"होय मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।

सो सांचो ब्रजराज है जो मेरा महबूब।।"[3]

---

1. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 56
2. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 54
3. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 25

वस्तुतः बोधा शुद्ध सांसारिक जीव थे और लौकिक तथा वासनामय प्रणय ही कदाचित उनके जीवन का सर्वस्व था इसलिए मात्र इश्कमजाजी तथा इश्क हकीकी की चर्चा कर देने से उन्हें सूफीमत का समर्थक स्वीकार कर लेना महान त्रुटि होगी।

बोधा के अनुसार जिसने इश्क का मार्ग नहीं पहचाना वह अपना जीवन व्यर्थ में गँवाता है :-

"इश्क पंथ नहिं चीन्हत क्यों ही। बरगद भए बड़े तुम यों ही।"[1]

बोधा ने लौकिक तथा वासनात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। बोधा सूफी प्रेमादर्शों को अपना निजी रंग न दे सके। सूफियों के प्रेम ये सिद्धान्त बोधा के जीवन में तो घटित नहीं हुआ किन्तु प्रतिपादित अवश्य हुआ। बोधा की भाषा-शैली तथा भावना पर अवश्य यह एक सीमा तक दिखायी देता है।

बोधा ने "महबूब" के प्रति जो प्रेम है उसको ईश्वर या कृष्ण के प्रति ढलना भी आवश्यक नहीं बताया है क्योंकि "महबूब" ही सच्चा ब्रजराज है। एक स्थान पर बोधा ने लिखा है -

"मगन रहत रतिरंग में गावत रस श्रंगार।
टेर कही ब्रजराज ने सोई मेरो यार।
मैं अपने जिय यहे विचारी। सह बैकुंठ कंदला नारी।।
जब देखों निज प्रीतम काही। मुक्त होन में संशय नाहीं।।
आपहि होके सारथी मोहि चलै लै राम।
तो न जाउँ वा लोक को बिना कंदला बाम।।
बिन यारी का लै करौं सुरपुर हू को बास।
मित्र सहित मरिबो भलो कीन्हें नरक निवास।।"

1. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 54

माधव के इस कथन स्पष्ट है कि वह इश्क हकीकी को इश्कमजीजी में ही अन्र्तभुक्त मानता है। इसलिए मुक्ति प्राप्त करने में उसे किसी प्रकार संशय नहीं है।

अनुभूति का मनोवैज्ञानिक स्वरूप :-

"विरहवारीश" में वर्णित अनुभूतियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। बोधा आत्मभोग के उन्मुक्त गायक हैं। अनुभतियों का ऐसा सजग तथा ईमानदार रूप से स्वच्छेन्देतर साहित्य में नहीं मिलता है। "विरहवारीश" शुद्ध अनुभूत्यात्मक व्यापार की एक रचनात्मक प्राप्ति है। इसके निर्माण केन्द्र में कवि का "विषम" प्रेम है। एक ओर अनेक आशा आकांक्षा से भरा हुआ प्रेमी का हृदय है तो दूसरी ओर प्रिय की निर्दय उपेक्षा है। फिर भी प्रिय के प्रति इनकी एकनिष्ठता इतनी प्रबल तथा भावनामयी है कि इनके लिए कोई अन्य मार्ग शेष नहीं रह गया है। इनके जीवन का एक मात्र आधार है प्रिय दर्शन की अभिलाषा। लेकिन यह अभिलाषा भी व्यथा पूर्ण तथा छलनामय है। इस परिस्थिति में कभी तो बोधा ने अपने निष्ठुर प्रिय की प्रतीक्षा के मार्ग में अपनी पलके बिछा रखीं तथा कभी अपनी विवशता और निरवलंबता में इनके प्राण छटपटा उठे।

बोधा ने प्रिय के रूपादि के प्रभावों को ही स्मृति का आलम्बन बनाया है। प्रिय से अलग होने पर अकेलेपन की जो असह्य वेदना जागरित होती है उसको "विरहवारीश" में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह अकेलापन अपने आप में सुखद अथवा दुखद नहीं होता। अगर क्लेशप्रद परिस्थितियों में विच्छेद होने के पश्चात् एकाकीपन प्राप्त होता है तो उससे प्रसन्नता की अनुभूति होती है। अगर सुखद सम्बन्धों

से वियुक्त होने पर अकेलापन प्राप्त होता है तो उससे विषाद की अनुभूति होती है। अकेलेपन की असह्य वेदना का एक चित्र दृष्टव्य है –

"गिरी जिय लै अति दीरघ स्वास। भयो सुखास्वादन को सब नास।
पुकारत माधव माधव जोर। करो मकरध्वज के अति जोर।
सखी सुमुखी तिय की परबीन। भली विधि ताहि सिखावन दीन।
अहे सुन बाल धरै किन धीर। बिथा सहि चेतन राख सरीर।।"[1]

"विरहवारीश" में कहीं निरन्तर शुद्ध अभिजात दृष्टि का विस्तार मिलता है तो कहीं वो भ्रष्ट हो गई लगती है। कही पुनः वह अभिजात होने का उपक्रम करती है और तुरन्त ही मटमैली हो जाती है। मनोवैज्ञानिक रूप से अनुभूतियों का चित्रण बोधा की अपनी विशेषता है। उनके जीवन में प्रेम की तड़प थी, सुभान से उन्हें प्रेम हो गया था। इसी के प्रेम की परिणित "विरहवारीश" है। बोधा ने अपनी प्रियतमा सुभान की विरह–पीड़ा को भोगा था इसलिए उन्होंने विरहानुभूति की अभिव्यञ्जनाएँ अत्यन्त सजीव रूप से व्यक्त की हैं:–

"जासों नातो नेह को सो जिन बिछुरे राम।
तासों बिछुरन परत ही परत राम सों काम।
परत राम सों काम करम संसारी छूटै।
छूटै ना वह प्रीति देह छूटै जो टूटै।
कह बोधा कठिन परि यह कहियै कासों।
सो जिन बिछुरै राम नेहनातो हैं जासों।।"[2]

---

1. **विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 79**
2. **विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 25**

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्यता है कि जिस व्यक्ति की जिस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया होगी, उसने जो भी अनुभव किया होता है उसी को वह अपनी काव्य–साधना का विषय बनाता है, उसी को लिपिबद्ध करता है। बोधा ने नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा के द्वारा अपने युग की कतिपय अभिजात मान्यताओं को परिवर्तित किया तथा नवीन आदर्शों को प्रतिष्ठित किया। इन प्रवर्तनों के मूल में इनका प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण अनुस्यूत था। रीतिबद्ध कवियों की भाँति वह मुख्यतः मांसल तथा शरीरी न होकर सूक्ष्म तथा मानसिक था। इनका गूढ़, एकनिष्ठ तथा एकान्तिक प्रेम नायिका भेद के चौखट में अट नहीं सकता था। उनकी कविता में वैयक्तिक संस्पर्शों के प्रभाव से जो मार्मिकता तथा रसार्द्रता सन्निविष्ट हो गई है वह उन्हें रीतिबद्ध कवियों से पृथक् एक दूसरी कोटि प्रदान करती है।

बोधा का प्रेम न तो काम की क्रीड़ा है और न तो एक तरह की परिपाटीविहित प्रेम का कलात्मक चित्रण। इनके जीवन की हर एक धड़कन में प्रेम की प्रत्येक सांस और हृदय की प्रत्येक धड़कन में प्रेम की मधुर टीस तथा असह्य वेदना है। प्रेम की ऐकान्तिक उपासना इनके जीवन का साधन एवं साध्य दोनों ही हैं। सहज भाव से प्रियतम को आत्म समर्पण कर देने के अतिरिक्त इनके लिए और कोई प्रश्न नहीं था।

प्रेमोन्माद में आकण्ठ डूबे बोधा को इस बात की परवाह नहीं थी कि इनका प्रिय इन्हें प्रेम करे ही। इनकी मानसिकता थी कि प्रेम में तो केवल प्रदान किया जाता है, आदान के लिए यहाँ कोई

स्थान नहीं है। शास्त्रीय तथा लोक की दृष्टि से इनमें प्रेम का औचित्य सिद्ध नहीं हो पाता, लेकिन इन बन्धनों का अतिक्रमण कर इन्होंने अपना आदर्श स्थापित किए।

विरहवारीश में कवि की निजी अनुभूति :-

विरहवारीश में ऐसे कई स्थान हैं जहाँ पर बोधा ने निजी प्रेमानुभूति का भी वर्णन किया है। उन्होंने अनेकों बार सुभान के प्रति अपनी आसक्ति व्यक्त की है। एक स्थान पर उनका इसी प्रकार का चित्रण दृष्टव्य है -

"फुटका अरू फेनी जलेबी दई बरफीन को स्वादऊ जानत ना।
लडुआ मिसिरी अरू पेरा दए हवा हाटन की पहिचानत ना।
कवि बोधा कहै उनही "लै" चलै सिख काहू की कौनहूँ ठानत ना।
बस मेरो कछू ना हुतो मन में बिन देखें तुम्हें मनु मानत ना।।"[1]

गोपी तथा कृष्ण प्रेम वर्णन द्वारा भी प्रायः उन्होंने अपने ही हृदय का प्रेम अंकित किया है। उनकी प्रेमाभिव्यक्ति किसी परम्परागत चली आ रही लीक को पकड़ कर नहीं हुई है, नायक-नायिका भेद की चाहारदीवारी में उनका प्रेमी हृदय क्रीड़ा करने के निमित्त अनुकूल क्षेत्र नहीं पा सकता है। उनकी वृत्ति की स्वच्छन्दता तथा रीति की अभिव्यक्ति निरपेक्षता देखनी हो तो प्रस्तुत छन्द देखा जा सकता है -

"प्रीति की पाती प्रतीति कुंडी दृढ़ताई के घोटन घोटि बनावै।
मैन मजंजन सों रगरे चितचाह को पानी घनो सरसावै।

---

1. इश्कनामा - बोधा - पृ0 - 13

बोधा कटाक्षन की मिरचैं दिल साफी सनेह कटोरे हलावै।

मो दिल होइ सुखी तबहीं जब रंग में भावती भंग पिआवै।।"[1]

इस छन्द में बोधा के दिल की पुकार है, अन्तःकरण की अभिलाषा है। इससे बढ़कर अन्य दृष्टान्त क्या मिलेगा। अभिव्यक्ति का ऐसा रूपकाश्रित कौशल हृदय की इतनी संवेदना के साथ कहीं ढूढ़ने पर भी नहीं प्राप्त होगा।

बोधा के काव्य में वर्णित प्रेम आरोपित अथवा भावित नहीं था, वह तो निजी प्रेम का प्रकाशन है तथा उसमें भी प्रेम तत्व की प्रधानता है। बोधा एक प्रेमी जीव थे तथा पन्ना दरबार की वेश्या सुभान से इनको प्रेम हो गया था। सुभान के विरह में ही बोधा ने "इश्कनामा" तथा "विरहवारीश" की रचना की थी। सुभान के विरह में अपनी अन्तदर्शा का वर्णन करते हुए बोधा ने लिखा है कि विरह की वेदना मन ही मन सहन करनी पड़ती है, उस प्रवाह पीड़ा को कोई बाँट नहीं सकता है। मन योगी की भाँति भाँवरें देता फिरता है, मुँह से कुछ भी बोलते नहीं बनता है, चेहरे पर किसी प्रकार की हंसी नहीं आती है। जब बोधा के हृदय में सुभान की आँखें शल्य की भाँति धंसी हुई हों तो उन्हें चैन पड़ भी कैसे सकता है। बोधा कहते हैं सुभान के लिए हमारे हृदय में जो प्रेम वन्दना है उसको कोई क्या जान सकता है –

"दूरि है मूरि अपूरब सों ससि सूरजहू कबहूँक निहारी।

अन्दर बी नवेली अबें कहु कैसें मिलै बिन जोग दिबारी।

---

1. इश्कनामा – बोधा – पृ0 – 18

बोधा सुनै हे सुभान हितू करि कोटि उपाय थके उपचारी।

पीर हमारे दिलंदर की हम जानत हैं वह जाननहारी।।"[1]

अपनी निजी अनुभूति को बोधा ने गोपियों के माध्यम से भी किया है जिसका प्रमुख कारण परम्परागत काव्य ही है। इसीलिए बोधा ने कुछ छन्दों में अपनी व्यथाभिव्यक्ति का माध्यम गोपियों को बना लिया है लेकिन ऐसे छन्द भी बोधा की निजी विरह वेदना के कारण रीतिकालीन विरह वर्णनात्मक छन्दों से भिन्न दिखाई देते हैं। कभी गोपियाँ गाँव के देवताओं का ध्यान करती हैं, उन्हें मनाती हैं तथा उनके पैर पड़ती हैं। उनसे वे प्रियतम को अंक में भरने की अभिलाषा व्यक्त करती हैं तथा अपनी विवशता भी सूचित करती हैं :-

"निज गाउँ के नेह के देवता ध्याइ मनाइ भली बिधि पाउँ परौं।

तिनसों धुनि या बिनती बिनवौं निरंसके ह्वै भावतो अंक भरौ।

यह चाड़ न बोधा सरी कबहूँ यहि पीर तें बौर दीवानी फिरौं।

परवाह हमारी न जानै कछू मनु जाइ लग्यो कहु कैसें करौं।।"[2]

बोधा ने निजी अनुभूतियों को ही अपने काव्य में पिरोया है। उनको प्रेम की सच्ची अनुभूति थी, वे अपने प्रियतम सुभान के लिए व्यथित हुए थे, उसके विरह में आँसू बहाये थे। इसीलिए उनके चित्रण अनुभूति के धरातल पर खरे उतरते हैं। उनके वर्णनों में अनुभूतिजन्य सच्चाई दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि बोधा का काव्य इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सका है।

---

1. इश्कनामा – बोधा – पृ0 – 8
2. इश्कनामा – बोधा – पृ0 – 9–10

हिन्दी काव्य साहित्य में स्वच्छन्द प्रेम–भावना को जैसा पोषण आलम, घनानन्द ठाकुर, रसखान, बोधा आदि कवियों से प्राप्त हुआ वैसा दूसरों से नहीं। हिन्दी काव्य–साहित्य में इन रीति निरपेक्ष कवियों की प्रेम–भावना विशिष्ट है। बोधा का सर्वांगीण अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे बोधा प्रेम के ही बने हों, इनमें अपर तत्व कुछ था ही नहीं। बोधा का प्रेम निर्बन्ध है, वह लाज नहीं मानता है, लोकरीति का अनुसरण नहीं करता, मान–अपमान की परवाह नहीं करता, कुलधर्म की अवहेलना करता है तथा स्वच्छन्द वायुमण्डल में जीता है। इनका प्रेम काव्यशास्त्रीय आचारों तथा मर्यादाओं में बद्ध नहीं है। इनके प्रेम का निवेदन सखी. सखा या दूतियां नहीं करतीं और न ही वे इनके सम्मुख रूप–सौन्दर्य, विरह वेदना आदि के संदेशे लाकर रूचि या करूणा जागृत करती हैं।

बोधा ने अपनी प्रज्ञा के कारण अपने काव्य में विचारों एवं भावों की अवतारणा की है। यह किसी आरोपित प्रेम–भावना को लेकर नहीं चले वरन् प्रेम इनके जीवन में आया हुआ है। वह इनके हृदय से होकर गुजरी हुई चीज होती है। बोधा का सुभान विषयक प्रेमाख्यान सर्वविदित है। कहने का आशय यह है कि इनका जीवन तथा व्यक्तित्व दोनों ही प्रणयाविनिर्मित थे, जो अत्यन्त जीवन्त रूप में विरहवारीश में प्रतिच्छायित हुआ है।

बोधा काव्य की समसामयिक प्रवृत्तियों तथा पूर्ववर्तिनी परम्पराओं से अनभिज्ञ रहे हों ऐसी भी बात नहीं हैं, किसी न किसी सीमा तक तत्सम्बन्धी संस्कारों में सम्पृक्त हैं लेकिन यह प्रभाव इतने मजबूत भी नहीं हैं कि वह इनको अपने नियम तथा रूढ़ियों के शिकज्जों में बांध सकते जैसा कि रीतिबद्ध कवियों के साथ हुआ। बोध का निजी व्यक्तित्व अत्यन्त प्रबल था। वे काव्य रूढ़ियों को छोड़कर स्वनिर्मित मार्ग पर चलने के आकांक्षी थे। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने नव पथ का निर्माण किया। बोधा इस बात को भली-भाँति समझते थे कि काव्य में भाव या रस तत्व की मुख्य प्रधानता होती है, शैली-शिल्प तो आश्रित वस्तु है। वह साधन ही हो सकता है साध्य नहीं। साधन को ही साध्य मान लेने की भूल उन्होंने नहीं की जैसा कि आचार्य केशव की भाँति अनेक रीतिकार कर चुके थे।

बोधा को दरबारी कवियों की भाँति यश, पद तथा धन की लिप्सा से अपने आश्रयदाताओं के यहाँ टुकड़े तोड़ने वाले तथा उनकी प्रशस्ति में अपनी प्रतिभा का अपव्यय करने वाली दरबारी कवि नहीं थे। उन्होंने तो राजाश्रय को ठोकर मारकर अपने चित्त की स्वच्छन्दता का परिचय दिया था। उन्होंने यह कर कि "जो धन है तो गुनी बहुतै अरू जो गुन है तौ अनेक हैं ग्राहक" अपने आश्रयदाता महाराज क्षेत्रसिंह की राज्यसभा छोड़कर चले गये थे। अपने स्वाभिमान में तो बोधा यहाँ तक कह गये -

होय मगरूर तासों दूनी मगरूरी कीजै,
लघुता ह्वै चली तासों लघुता निबाहिये।
दाता कहा सूर कहासुन्दर प्रबीन कहा,
आपके न चाहै ताके बाप कौ न चाहिये।।

बोधा ने अपने काव्य में प्रेम तत्व का अनुभवाधारित निरूपण किया है। उनका प्रणय न तो किसी व्यवस्थित पद्धति पर ही है और न सांगोपांग ही उसे शास्त्रीय विवेचन नहीं कहा जा सकता फिर भी प्रेम सम्बन्धी अपने अनुभवों का निचोड़ उन्होंने जगह–जगह और बार–बार छन्दवद्ध किया है। यह उनकी एक विशिष्ट प्रवृत्ति भी कही जा सकती है। अन्य कवियों की अपेक्षा उनके प्रेमत्व सम्बन्धी कथन अधिक परिणाम में उपलब्ध हैं।

बोधा ने अपनी रचनाओं में प्रेम सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देते हुए चार प्रकार के प्रेम का होना बतलाया है – आंख, कान, बुद्धि तथा ज्ञान का प्रेम। रस आधार पर विरहो जन क्रमशः चार प्रकार के होते हैं – पतंग, कुरंग, माधवानल, तथा भृंगीकीट। प्रेम के आधार पर भी अनेक हुआ करते हैं, कोई रूप के वश होकर, कोई गुण के वश होकर तथा कोई धन के वश होकर प्रेम किया करता है। यह तो मन के लगन एवं रीझि की गात है। सूरज तथा कमल, चन्द्रमा और चकोर, दीपक तथा पतंगा की प्रीति आंख लगाने की प्रीति है। चुम्बक तथा लौह जैसी जड़ चीजों में भी प्रीति देखी जाती है। प्रेम कान के माध्यम से भी हो जाता है जैसे नाद को सुनकर कुरंग का प्रेम जो तत्क्षण अपने आप को अर्पित कर देता है। प्रेम के ये सारे प्रकार सरस तथा श्रेष्ठ है, कोई किसी से कम नहीं। जिसका मन जिस प्रकार के प्रेम में उलझा है वह उसी में प्रसन्न रहता है।

बोधा ने तत्युगीन परिस्थितियों के अनुसार ही अपना सम्यक रूप से काव्य–सृजन का कार्य किया था। उनके वर्णनों में चित्ताकर्षकता है, सत्यता है तथा मानस को आह्लादित कर देने वाली एक अपरिमित

शक्ति है, जिसके द्वारा उन्होंने अपने काव्य को सर्वग्राही बना दिया।

समाज व्यवस्था

जिस समय बोधा ने "विरहवारीश" तथा "इश्कनामा" काव्यग्रन्थों का प्रणयन कार्य किया था उस समय समाज में अनेकानेक कुरीतियाँ तथा अन्धविश्वास अत्यन्त तीव्र गति से चल रहे थे। शासक वर्ग शासन कार्य अत्यन्त स्वेच्छाचारिता पूर्ण ढंग से चलाता था इसलिए शासित वर्ग अपनी सहिष्णुता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। साधारण लोग अशिक्षित ही नहीं बल्कि शिक्षा के अयोग्य ठहरा दिये गये थे। वर्ण व्यवस्था का जटिल बन्धन कुछ ढीला हो गया था, तथा व्यवसाय के हिसाब से नई-नई जातियाँ बन गई थी। सभी वर्ग के लोग सभी काम कर लेते थे। जनजीवन आगतिक तथा स्थिर होकर अनेक विकृतियों का केन्द्र बन गया था। मुगल राजदरबारों में इतना वैभव तथा ऐश्वर्य था कि उनमें हर समय भोग विलास का नग्न नृत्य होता रहता था। नारियों को इस युग के समाज में कोई स्वतन्त्र स्थान अथवा अस्तित्व प्राप्त नहीं था। सर्वसाधारण के बीच वह एक आश्रित प्राणी मात्र थी। पुरुष का अनुसरण करना उसके जीवन का एक मात्र उद्‌देश्य रहता था। शिक्षा के अभाव में उसे श्रमिक सदृश जीवन व्यतीत करना पड़ता था। स्त्री को समाज व्यवस्था का कोई प्रधान या अंग नहीं समझा जाता था। स्त्री चाहे वारवनिता हो अथवा कुलवधू सभी को वासना तृप्ति का साधन माना जाता था।

बोधा ने इन परिस्थितियोंके साथ ही साथ देश के विभिन्न आर्थिक दृष्टिकोणों पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया। समाज आर्थिक दृष्टि से दो वर्गों में बँटा हुआ दिखायी देता था एक तो भोक्ता वर्ग तथा दूसरा उत्पादकों का। उत्पादक वर्ग को शासन, युद्ध आदि राजनीतिक बातों से कोई मतलब नहीं था। यह मजदूरी करते थे तथा खेती-बारी में लगे रहते थे।

बोधा ने सामाजिक रीति-रिवाजों तथा बन्धनों को भी मुक्त कंठ से सराहा है। एक स्थल पर बोधा ने वैवाहिक संस्कार का चित्र माधवानल कामकन्दला में अंकित किया है-

अंगल लिपाय दिवाल पुताई। जरक समय बखरी सब छाई।
जातरूप मय कलश सवाँरी। चित्र सहित बहुधा छबिवारी।
हरित बांस मंडप शुभ साजा। जामुन पल्लव छाय बिराजा।
मौरि थाप मायें सब साजी। करैं श्रृंगार नारिरत राजी।
मोद भरी मंगल सब गावैं। एक तीया तेल चढ़ावैं।।
एकै बनिता तपै रसोईं। हरबर हरबर सब ठाँ होई।।
कुटुम्ब बुलाय जमा सब कीन्हों। मंडप भोग सबहि कह दीन्हों।।
मोर मायनो फेर रसोई। दरोबस्त बस्ती कहं होई।
तीयन हरदी तेल चढ़ायो। नागर माध्य नाऊ फिरवायो।
बरन बरन पंगत सब न्यारी। जेंवत खोआ पुरी सुहारी।
दूजे पुन सब कुटुम्ब बुलायो। बरा भात भड़वा को खायो।।

हिन्दू जीवन का यह परम व्यामोहक संस्कार बड़ी मनोहरता से बोधा के काव्य में सचित्र हुआ है। जन जीवन के इस प्रकार के मर्मस्पर्शी प्रसंगों पर इन रीतिनिरपेक्ष कवियों की ही दृष्टि जा सकती है।

बोधा ने सांसारिक सत्य, जीवनगत तथ्य, भागवत अनुभूतियाँ स्वयं अपनी प्रतिपादित की थी। उनके काव्य में पराई अनुभूतियाँ, पराए भाव, पराई उक्तियों का किंचित मात्र भी समावेश नहीं हुआ। तद्‌युगीन कवियों में चोरी की बात बहुत थी। भाव का अपहरण, भाषा की चोरी इन सब का प्रचलन बहुत था। संस्कृत कवियों की अनेकानेक उक्तियाँ, कल्पलाएँ, भाव, विशेष कर हिन्दी रीतिबद्ध कवियों ने चुराये। बोधा को काव्य सृजन करके धन या कीर्ति कमाना न था, कोई उनका ऐहिक लक्ष्य न था। उनकी कविता तो उनके हृदय का भार हल्का करने वाली थी, उनका दुख-दर्द मिटाने वाली थी, उनकी तड़प और टीस को सान्त्वना प्रदान करने वाली थी।

वस्तुतः बोधा ने सामाजिक परिवेश का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया है इसीलिए उनके विवेचन में किंचित मात्र भी शैथिल्य नहीं आने पाया है।

लोक जीवन से जुड़ाव

बोधा के काव्य की यह विशेषता है कि उन्होंने लोक जीवन का भी सम्यक् रूपेण विवेचन किया है। रीति से बँधे अन्य कवियों की दृष्टि इस ओर नहीं जा सकी। अन्य रीतिवद्ध कवियों ने शास्त्रबद्ध विषयों से बाहर उन्होंने कदम नहीं बढ़ाया फलतः लोक जीवन में हर्ष और आनन्द का जो स्त्रोत विभिन्न पर्वों एवं त्यौहारों पर ग्राम निवासियों की मनोभूमि में उच्छलित एवं प्रवाहित होता था उसका स्वरूप वे कवि सामने न ला पाए। यह कार्य बोधा सरीखे सहृदयों के लिए ही शेष रह गया था। बोधा ने वैवाहिक रीति रिवाजों का भी अत्यन्त मनोहारी रूप से चित्रण किया है। वैवाहिक संस्कार का एक चित्र दृष्टव्य है-

अंगन लिपाय दिवाल पुताई। जरक समय बखरी सब छाई।

जात रूप मय कलश सवांरी। चित्र सहित बहुधा छवि वारी।।

हरित बांस मण्डप शुभ साजा। जामुन पल्लव छाय विराजा।

मोरि थापि मायें सब साजी। करे श्रृंगार नारि रत राजी।

मोद भरी मंगल सब गावे। एक तीया तेल चढ़ावें।

एके बनिता तपे रसोई। हरबर हरबर सब ठा होई।

कुटुम्ब बुलाथ जमा सब कीन्हों। मण्डप भोग सबहिं कह दीन्हों।

भोर मायनो फेर रसोई। दरोबस्त बस्ती कह होई।।

तीयन हरदी तेल चढ़ायो। नगर मध्य नाऊ फिरवायो।

बरन अठारह सब पुरबासी। पंगत बैठी देव सभा सी।

बरन-बरन पंगत सब न्यारी। जेवत खोआ पुरी सुहारी।।

दूजे पुन सब कुटुंब बुलायो। बरा भात मंड़वा को खायो।।

फेर प्रभात नगर सब माहीं। कुटुबन के चढ़ी कराही।

तुलहि मिठाई गजलें गावें। छकरा भरि जनवासे आवें।

पुरी कचूरी बहु तरकारी। ढेरी सब जनवासे डारी।

चारो पानी लड़की जोई। कनिकदार घृत सक्कर सोई।।

जनवासो इहि भाँति सम्हारी। मंडप महि रची जेवनारी।

टीका लाख दसक कर साजा। अपर अभूषन हय गय राजा।।

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार जिस समय पिता अपनी पुत्री का कन्यादान करता हे तो वह यही कह कर अपनी पुत्री का हाथ वर को दे देता है कि यह दासी में आपकी सेवा के लिए दे रहा हूँ कृपा करके इसे स्वीकार करो। बोधा ने इसी लोक मान्यता को अपने काव्य में चित्रित किया है-

"बार–बार विनती करै कहत जोरि करि हाथ।

सेवा को दासी दई तुमको मैं रति नाथ।।"

प्रत्येक शुभ कार्य में गणेश तथा गौरी का स्मरण करना श्रेष्ठ समझा जाता है। वर–वधू के आगमन पर भी गौरी तथा गणेश का ध्यान करते हुए ही उनको गृहप्रवेश करवाया जाता है। बोधा ने भी इसी सत्य को अपने काव्य में उरेहा है –

कलश पाँवड़े आरती गीत समंगल गाय।

माता जुत नारी सबै मिलीं माधवै आय।।

मुहचायन टीका सु करि गौरि गनेस मनाय।

पुतहूजुत निज पूत कों माता चली लिवाय।।"

पुत्र के विवाहोपरान्त घर में आनन्द की लहर दौड़ आती है। मंगल गान होते हैं। गरीबों को यथेष्ट दान देने की भी प्रथा चली आ रही है। विरह–वारीश के अन्तर्गत इस प्रकरण को भी दर्शाया गया है –

पूत सहित पुतहू घर आई। घरी चार तक बजी बधाई।

दान बहुत मंगतन कहँ दीन्हो। निवतो सकल नम्र को कीन्हों।।

वस्तुतः बोधा ने लोकजीवन के परम व्यामोह संस्कारों का चित्रण अत्यन्त कुशलता से चित्रित किया है। जन जीवन के ऐसे मर्मस्पर्शी प्रसंगों पर इन रीतिनिरपेक्ष कवि बोधा की ही दृष्टि जा सकती थी। भला स्वकीया–परकीया और गणिका, मुग्धा–मध्या और प्रौढ़ा तथा खंडिता और अभिसारिका के भेद–प्रभेदों में उलझे हुए रीतिबद्ध कवियों

की दृष्टि इन रीति बाह्य विषयों पर किस प्रकार जा सकती थी। लोक जीवन के क्षेत्र में थोड़ी सी स्वच्छन्दता के दर्शन बोधा के काव्य में अवश्य हो जाते हैं।

ग्रामीण समाज

बोधा ने ग्रामीण समाज का भी यत्र–तत्र निरूपण किया है। त्योहारों के प्रसंग में ग्रामीण अञ्चलों का चित्र उरेहा है। नगरों में त्योहारों का वह उल्लासमय रूप सामने नहीं आता जो भारत के जीवन का प्रण रहा है। गाँवों में इस दृष्टि से अपने जीवन का रूप अच्छा तथा रमणीक मिलता है। ग्रामीण अञ्चल नागरिक जीवन की पंकिलता से दूर या विच्छिन्न हैं। उनमें अब भी देश की इस विभूति के बड़े भव्य दर्शन होते हैं। बुंदेलखण्ड के ग्रामीण अञ्चलों में हमारा जीवन खण्ड अपने प्राचीन रूप में अब भी कुछ सुरक्षित है।

किसी मंगल कार्य के अवसर पर चौक पुरवाना तथा उस पर कलस रखने की प्रथा ग्रामीण अञ्चलों में आज भी सुरक्षित है। बोधा ने भी इस प्रथा को अपने काव्य में उरेहा है –

गजमोतिन के चौक जब पुरवाए सुख पाय।
कनकपटा कंचन कलस तहां धराए आय।।

विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर गांवों में आज भी ज्योतिषी को बुलाकर लगन निकलवायी जाती है तथा उसी लगन के आधार पर कार्य सम्पन्न होता है। बोधा ने भी इसी प्रकार के वर्णनों को अपने काव्य में चित्रित किया है –

सचिव ज्योतिषी और पुरबासी। पंडित वैरागी सन्यासी।

पूज्य पूज्य पूरूष और नारी। आए सब तहँ तेही बारी।।

अजिर लिपाय चौक सुभ साजा। मध्य देव गननाथ बिराजा।

गवरिहि ध्याय सगुन सुभ पाई। मंगल बारहि लगन लिखाई।।

जेठ कृस्न पंचम तिथि साजी। घरी दोइ गत राज बिराजी।

बृस्चिक लगन श्रवन तहँ पायो। तीजे मकर चन्द्रमा आयो।

चौथे सनि पाँचे भृगु होई। नवमें सुन्दर सुरगुरू सोई।

दसमें कुंज सुन्दर सुठि आहीं। गरहें सुन्न असुभ कछु नाहीं।।

लिखी लगन पंडित सुर ज्ञानी। सोध मुहूरत अति सुखदानी।।

वस्तुतः बोधा ने ग्रामवारियों की मनोभूति में उच्छलित और प्रवाहित होने वाले स्वरूपों को जनमानस के समक्ष उपस्थित कर दिया है। उसमें ग्रामीण समाज की ऋजुता तथा मनोरमता का सुन्दर परिपाक करने की अनुपक प्रतिभा थी। वास्तव में उनकी विलक्षणता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

सामन्तीय परिवेश

बोधा ने जिस समय काव्य सृजन का कार्य किया था उसे समय देश में सामन्तीय शासन चल रहा था, तदनुसार समाज भी सामन्तीय आधार ग्रहण किए हुए था। राजा के पास ही राज्य के समस्त अधिकार होते थे और उसकी इच्छा के विरूद्ध सोंचा तथा रहा नहीं जा सकता था। उसकी आज्ञा की अवहेलना के परिणामस्वरूप प्राणदण्ड तो एक साधारण सी बात थी। राजाओं के आदेश मात्र से ही

सारा शासन कार्य चलता था, प्रजा की इच्छा का कोई महत्व नहीं समझा जाता था। बोधा के काव्य में भी राजा की निरंकुशता के दर्शन होते हैं। कामावती नगरी का राजा कामसेन माधव को राज्य से निष्कासन का दण्ड दे देता है। माधव अपनी प्रेयसी कामकंदला को राजा के द्वारा स्वयं को देश निष्कासन का सूचना देता हुआ कहता है कि –

तब उमगि माधव कंदला सों कही चित की चाह।
परदेश कों दीन्हीं बिदा इहि देस के नरनाह।।
यह खबर मेरी पावहीं तौ सिगर होंहिं अकाज।
कबहूँ न कीजें जानके जिय जानहार इलाज।।

कामकंदला माधव के देश–निष्कासन की बात को सुनकर हतप्रभ रह जाती है उसका अंग–प्रत्यंग पीला हो जाता है। उसके नेत्रों में आँसू आ जाते हैं। बड़े प्रयत्न से वह कामकंदला को समझाबुझाकर धीरज प्रदान करता है। माधव काममंदला के सो जाने पर चुपचाप घर से निकल जाता है। वह अपने मन में विचार करता है कि –

देही गये सर्बस जाय। फिर नहिं बेद कहत उपाय।
भो पर करै भूपति तेह। कैसे होत अबिचल नेह।।

माधव अपने मित्र के साथ अपने डेरे पर जाकर उससे अपनी सम्पूर्ण व्यथा को व्यक्त करता है। उसकी व्यथा को सुनकर गुलजार कहता है –

जो अकाज यहि राज तें तौ नहिं रोकौं तोहिं।
सुनु माधो जित जाय तूँ तितै लै चलैं मोहिं।।

इस प्रकार बोधा ने तत्युगीन सामन्तीय प्रथा से होने वाले परिष्कामों को अत्यन्त सूक्ष्मता से उरेहा है।

बहुज्ञता

बोधा काव्य क्षेत्र के मर्मज्ञ थे। काव्य जगत् की अन्यान्य विधायों पर भी उनका एकछत्र आधिपत्य था। बोधा के प्रणय के घाव में गहरापन तो है नहीं लेकिन उनमें रक्तस्त्राव सर्वाधिक है। अतएव उनके काव्य में माधुर्य की गम्भीरता की व्याप्ति पछाड़ खाये हुए झरने का कलनाद अधिक है। इश्कनामा में माधुर्य का सार्वत्रिक प्रसार है लेकिन विरहवारीश की प्रबन्धात्मकता में वह मन्द पड़ गया है तथा रति प्रसंगों में अस्वस्थ तथा अशिष्ट भी हो गया है। बोधा के मनमौजी तथा फक्कड़ व्यक्तित्व ने उनके समस्त प्रणयन को सरल निर्व्याज तथा आडम्बरहीन बना दिया है। उनके अवक्र, सहज तथा ऋजु शिल्प संघटन से प्रसाद की अनायास मंद स्मिति खिल उठती है।

बोधा को संगीत, ज्योतिष, चिकित्सा, तथा नैतिक मूल्यों का भी विधिवत् ज्ञान था। बोधा ने संगीत योजना के द्वारा अभिव्यञ्जन-शिल्प को एक सरस जीवंतता से सींचा है। अभिव्यक्ति के समस्त उपकरण उनकी आत्मा के इस तरल संपृक्त हो अत्यन्त आत्मीय भाव से संघटित होते हैं। भारतीय तथा अभारतीय संगीत शैलियों का उन्होंने समान रूप से प्रयोग किया है।

बोधा नैतिकता सम्बन्धी विवेचन में भी परम सिद्धहस्त थे। विहरवारीश में उन्होंने अनेक स्थलों पर नीति सम्बन्धी उद्धरण

प्रस्तुत किये हैं। उनकी सार्वभौमिकता प्रत्येक स्थल पर परिलक्षित होती है। चिकित्सा ज्ञान भी बोधा का अत्यन्त उच्चकोटि का था। उनके चिकित्सा विषयक उद्धरण उनकी विद्धता का स्वतः परिचय दे देते हैं।

ज्योतिष शास्त्र का बोधा ने सम्यक् अध्ययन किया था इसका अनुमान हमको उनके काव्य का अनुशीलन करने मात्र से ही हो जाता है। किसी भी शुभ कार्य का प्रारम्भ वह ज्योतिष शास्त्र के आधार पर ही करते थे। जिस समय माधव और काममंदला का विवाह होता है तो ज्योतिषी के कथनानुसार तिथि को ही लगन आदि का आयोजन किया गया। साथ ही सभी वैवाहिक कार्यक्रम उसी आधार पर सम्पन्न हुए।

वास्तव में बोधा के समग्र काव्य का अनुशीलन करने से बोधा की वैदुष्यता का स्वयं ज्ञान हो जाता है। उनकी बहुज्ञता को देखकर तो ऐसा लगता है जैसे बोधा काव्य जगत की प्रत्येक विधा को ही, उसके प्रत्येक कोने को ही झांक आए हों क्योंकि उनके कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा है।

नीति कथन

बोधा के काव्य में नीति युक्त कथनों का भी सम्यक् समावेश हुआ है। स्थान-स्थान पर उन्होंने इस प्रकार के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इश्कनामा में दिया हुआ एक नीति कथन दृष्टव्य है –

हिलि मिलि जानै तासों हिलि मिलि लीजै आप
हित कों न जानै ताकों हितू न बिसाहियै।
हाये मगरूप तासों दूनी मगरूरी कीजै
लघु हवै चलै जो तासो लघुता निबाहियै।
बोधा कब नीति को निबेरो याही भांति करौ
आपकों सरहौ ताकों आपहू सराहियै।
दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा
आपकों न चाहै ताके बाप को न चाहियै।।[1]

अर्थात् जो व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करे, उसके साथ ठीक उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति अभिमान दिखाये तो प्रत्युत्तर में उसके साथ भी अभिमान युक्त व्यवहार करना चाहिए। जो आपकी प्रशंसा करे उसी स्वयं भी प्रशंसा करनी चाहिए। कहने का आशय यह है कि जो जैसा करे उसके साथ वैसा ही आचरण करना चाहिए।

इस संसार में उपदेश देने वाले नर तो बहुत मिल जायेंगे लेकिन उस उपदेश को अपने जीवन में उतारने वाले बहुत ही कम व्यक्ति

---

1. इश्कनामा – बोधा – पृ0 – 5

होते हैं क्योंकि कहना तो सरल है लेकिन करना कठिन है। बोधा ने इसी सत्य को अपने काव्य में उद्घाटित किया है –

कहिबो सबको सहल है कहा कहे में जात।

कहिबो और निबाहिबो बड़ी कठिन यह बात।।[1]

व्यक्ति को जीवन में अच्छे कार्य ही करने चाहिए कोई भी बुरा कार्य अगर वह छिपाकर भी करता है तो वह प्रकट उसी प्रकार हो जाता है जैसे नसा करने वाले व्यक्ति का नसा उसके नेत्रों से साफ परिलक्षित होता है –

गुप्त पाप लग में प्रगट या सुभाय ह्वै जाय।

जैसे नसा सरीर को नैनन झलकै आय।।[2]

बोधा के अनुसार धन और चित्त को उचित पात्र को ही देना चाहिए। इस बात का समर्थन हमारे शास्त्रों में भी किया गया है –

निगम कही यह रीति चित बित दीजै पात्र कों।

करि बेस्यारति प्रीति ऐसे बदन न खोइये।।[3]

बोधा के काव्य में नैतिक सिद्धान्तों की भरमार सी दृष्टिगोचर होती है। उनके कथन सत्य को पूर्णतयः उद्घाटित करने में सक्षम रहे हैं। इस प्रकार के उद्धरणों से बोधा का काव्य और भी अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त करने में सक्षम हुआ है। विरहवारीश का एक उद्धरण दृष्टव्य है –

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 57
2. विरहवारीश – बोधा पृ0 – 76
3. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 154

बनत निबाहें जगत में बोल केलि की लाज।

बोल गएं सुनियै सुजन जियत रहौ केहि काज।।[1]

बोधा ने सत्यता को अपने काव्य में पूर्णरूपेण निरूपित किया है। वास्तव में जो व्यक्ति दुर्बल होता है उसको सभी कष्ट देते हैं जिस प्रकार देवताओं को बलि बकरे की ही दी जाती है, विशालकाय हाथी की बलि देवता भी नहीं लेते हैं, ऐसी प्रायः मान्यता है। भूत–प्रेतादि बाधायें भी दुर्बल व्यक्ति को लगती हैं, सबल को नहीं। विरहवारीश में इस प्रकार के संकलित कतिपय उद्धरण दृष्टव्य हैं :-

कहा सिंह गजराज की बलि न देवता लेत।

पै अति दुर्बल देखिकै अजयासुत की देत।।

अरू पुनि सब जग कहत है को मरदे मजबूत।

छटपटाय के लगत हैं ओछे पिंडे भूत।।

तीन जने इक सूत हो बुकरे लाए माख।

सो सुन हित उपदेस में मुलतानी को साख।

नारी आन न हौ लखी करि नारी तजि यार।

माहिं को नाहक धरत हें भागे पीठ पहार।।[2]

वस्तुतः बोधा का काव्य नीति कथनों का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है। इनके कथन शाश्वतता के धरातल पर खरे उतरे हैं। इनके सिद्धान्तों पर चल कर मानव वास्तविक जीवन का सुख प्राप्त कर सकता है।

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 49
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 75

ज्योतिष

रीतिकाव्य में ज्योतिष विषयक मान्यताओं पर पूर्ण विश्वास प्रकट किया गया है। बोधा के काव्य में ज्योतिष शास्त्र की बातों पर पूर्ण आस्था व्यक्त की गयी है। लोक में ज्योतिषी की बातों पर गहरा विश्वास प्रकट करने के साथ ही उसे अतयधिक सम्मान दिया गया है। गाँवों में आज भी घर की स्त्रियाँ ज्योतिषी जी को बुलाकर उनसे विवाहादि के लिए शुभ लगन निकलवाती हैं तथा ज्योतिषी जी जो लगन निकालते हैं उसी के अनुसार सम्पूर्ण वैवाहिक कार्यक्रम सम्पन्न होता है। रीतिमुक्त कवि बोधा ने लोक जीवन की ऐसी अनुभूतियों का निरूपण अपने एक विवेचन में इस प्रकार किया है –

प्राननाथ ज्योतिषी बुलायो। ताही क्षन तासों फरमायो।
सगुन सुमंगलमूल बिचारो। रचि समुहूरत सब सुखकारी।।
सचिव ज्योतिषी औ पुरबासी। पंडित वैरागी संन्यासी।
पूज्य पूज्य पुरूष औ नारी। आए सब जहं तेही बारी।।
अजिर लिपाय चौक सुभ साजा। मध्यदेव गननाथ बिराजा।
गवरिहि ध्याय सगुन सुभ पाई। मंगल बारहि लगन लिखाई।।
जेठ कृस्न पंचम तिथ साजी। घरी दोइ गत राज बिराजा।
बृस्चिक लगन श्रवन तहँ पयो। तीजे मकर चन्द्रमा आयो।।
चौथे लगन पांचे भृगु होई। नवमें सुन्दर सुरूगुरू सोई।
दशमें कुंज सुन्दर सुठि आहीं। गरहें सुन्न असुभ कछु नाहीं।।
लिखी लगन पंडित सुर ज्ञानी। सोध मुहूरत अति सुखदानी।"[1]

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ० – 222

लोक तात्विक दृष्टि से विचार करने पर इसमें जनसामान्य में व्याप्त ज्योतिष की आस्थाओं की सरस अभिव्यक्ति हुई है। प्राचीन काल से ही ज्योतिष विद्या में जन सामान्य की प्रगाढ़ आस्था रही है। लोक में ज्योतिषी की बातों पर गहरा विश्वास प्रकट करने के साथ ही उसे अत्यधिक सम्मान दिया गया है। आज के युग में ग्रामीण अञ्चलों में स्त्रियाँ ज्योतिषी को बुलाकर अपने कष्ट तथा दुख-दर्द की चर्चा करती हैं तथा ज्योतिषी जी से उसके निवारण का उपाय भी पूँछती हैं। बोधा ने भी अपने रचनाओं के अन्तर्गत इस प्रकार के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिसमें ज्योतिष शास्त्र के प्रति विश्वास प्रकट होता है। बोधा के काव्य को देखकर ऐसा लगता है मानों बोधा ने ज्योतिष शास्त्र का भी सम्यक् अनुशीलन किया हो।

चिकित्सा

बोधा को जीवन के सभी क्षेत्रों का समुचित ज्ञान था उनके वैदुष्य को देखकर ऐसा लगता हे जैसे वह जीवन का प्रत्येक कोना अत्यन्त पास से झांक आये हों। साहित्य मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ उनको चिकित्सा शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। किस बीमारी में कौन सी औषधि देनी चाहिए इसका उनको अच्छी तरह से ज्ञान था। चिकित्सा विषयक बोधा के कतिपय उद्धरण दृष्टव्य हैं -

पितदाह कां प्रथमही पित्त पापरो ऐन।
दूजे निंबुआ तीसरे दाख कही सुखदैन।।

ससिबदिनी के बदन सौं रहिये बदन लगाय।

तिक्के बिक्के पित्त के पल में देव ठैहाय।।

पुहकरमूली सोंठि पुनि मिरच कटाई आनि।

या काढ़े तोहोत है कफ के ज्वर की हानि।।

इसे कोंक ढोका करे बहुर्ट लौंग मिलाय।

द्विन द्वै गोली खाय तो कफ खांसी हटि जाय।।

अधकच जीरे लीजिये आधे भूंजे लेय।

भले सरसुँवा अंग सों बात ज्वर तजि देय।।

मधु पीपर सेवै सदा निज संजम सों खाय।

मास एक में तासु को विषमज्वर नसि जाय।।

कही अजीरन रोग कों अजवायन अरु लौन।

निरगुंडी गठवात कों कहैं बकायन तौन।।

संनिपात पर यों कह्यो काढ़यो सुंठी आदि।

कै चिंता मनि रस करै संनिपात कहैं बादि।।

कह्यो धना पाचक भलो संग्रहनी पर जोर।

अतीसार पर रस करै आनंद भैरो तोर।।[1]

यहाँ औषधियां रोग निदान के लिए बिल्कुल सटीक बतलायी गयी हैं। इनके सेवन से रुग्ण व्यक्ति भी सहज में स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है। बोधा ने इनको कसौटी पर परखने के उपरान्त ही अपने काव्य के अन्तर्गत इनको समाविष्ट किया है। इनके प्रत्येक चित्रण में सत्यता है। इसी प्रकार का चिकित्सा विषयक एक अन्य उदाहरण दृष्टव्य है —

---

1. विरहवारीश — बोधा — पृ0 — 165

रक्त बिकारी गोंच लगावै। प्रेत काज पंद्रहा भरावै।

बहुनायक तें गरमी होई। चोपचिनी नासक तेहि सोई।।[1]

इस प्रकार के कथन बोधा के काव्य में स्थान-स्थान पर दिखायी देते हैं। चिकित्सा शास्त्र में नाड़ी का भी एक विशेष स्थान माना गया है। वेद्य रूग्ण व्यक्ति की नाड़ी को देखकर ही उसके रोग को बता देता है। बोधा ने भी इस बात को स्वीकार किया है -

बहुत रोग औषध बहुत नाड़ी गुन समुदाय।

प्रथम कह्यो है बैद को चलै सगुन सुभ पाय।।[2]

वास्तव में नाड़ी के द्वारा चिकित्सक को रोग निदान करने में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है।

जिस समय कंदला माधव के वियोग में विरह ज्वर से पीड़ित हो जाती है तो कंदला की सखी वैद्य को लेकर महल में जाती है और वैद्य उसके उपचार करने के लिए सर्वप्रथम नाड़ी ही देखता है -

नारी की नाड़ी लखी कपट सहित महराज।

पुनि तासों लाग्यो कहन रोग समाज इलाज।।[3]

नाड़ी देखकर वह स्पष्ट रूप से कहता है -

---

1. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 165
2. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 165
3. विरहवारीश - बोधा - पृ0 - 164

घरीकन माहिं हरी ह्वै जात। परी पियरी पल मांहि लखात।

घरी सियरी अति दीरघ स्वास। नहीं तिय के कर में विस्वास।।

नहीं कफ पित्त सुबात बखान। नहिं अस्लेष हिये अस जान।

नहीं तन रक्त बिकार लखाय। नहीं तिय के तन प्रेत बलाय।।

लगी नहिं डीठ नू मूठ संजोग। परे लखि नाहिं अपूरब रोग।

नहीं यह बेदन बेदन देखि। कही लुकमान हकीम बिसेखि।।[1]

वैद्य जब कंदला की बीमारी के विषय में कोई कारण नहीं खोज पाता तो यह कहता है कि –

अद्‌भुत रोग तिय के अंग। जाको समुझ परत न रंग।

सहसक लगे रोगी सोय। ऐसो रोगिया नहिं कोय।।

यासों बूझियो यह बात। तेरे कौन ठौर पिरात।

तोकौं होत कैसी पीर। दिल की कहो सो धरि धीर।।[2]

वास्तव में प्रेम रोग ऐसा रोग है जिसका निदान चिकित्सा शास्त्र में दिखायी नहीं पड़ता है। प्रेम रोग के उपचार का तो एकमात्र साधन है, प्रेमी से मिलाप। बोधा ने तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है –

जिहि तन विरह बलाय सो प्रानी कैसे जियै।

जीवै प्रीतम पाय सो उपाय सारोग को।।[3]

इस प्रकार बोधा ने चिकित्सा शास्त्र का विधि पूर्वक विवेचन करके उसके मूल तत्वों को ग्रहण किया है। जिसके अनुशीलन मात्र से ही व्यक्ति को चिकित्सा सम्बन्धी काफी ज्ञान हो जाता है।

---

1. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 164
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 165
3. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 167

किसी भी आकस्मिक बीमारी के हो जाने पर उसे उपचार करने में किसी प्रकार के कष्ट का सामना नहीं करना पड़ेगा। वह अपने आप ही उपचार कर सकता है।

हिन्दी के रीतियुगीन कवियों में बोधा ने चिकित्सा शास्त्र का जैसा विवेचन प्रस्तुत किया है उस प्रकार का वर्णन अन्य कवियों के काव्य में प्रायः देखने को नहीं मिलता है। बोधा के काव्य में एक अनूठी कल्पना शक्ति परिलक्षित होती है, उनका ज्ञान अपने में एक विशिष्टता का भाव लिए हुए हैं जो अन्य कवियों में प्रायः नहीं दृष्टिगोचर होता है।

*
***
*****

*** ***

षष्ठ अध्याय

षष्ठ–अध्याय

कवि बोधा की काव्यभाषा का व्याकरणिक स्वरूप

1. ब्रज भाषा का सामान्य व्याकरण :–

व्याकरण वह शास्त्र है जिसमें भाषा के अंग–प्रत्यंगों का पूर्ण विवेचन किया जाता है। व्याकरण के द्वारा ही हम भाषा को शुद्ध लिखना और बोलना सीखते हैं। भाषा प्रधान होती है जबकि व्याकरण उसका अनुयायी होता है। मनुष्य जिस रूप में और जिस प्रकार बोलता है वही शुद्ध है तथा उसी रूप के सात्विक विवेचन को ही व्याकरण कहा जाता है। इस प्रकार भाषा के अनुरूप ही व्याकरण का निर्माण होता है न कि व्याकरण के अनुरूप भाषा का। सभी भाषाओं का एक निशित व्याकरण होता है और उसी आधार पर वह भाषा फलती–फूलती है। इसी प्रकार ब्रज भाषा का अपना स्वतन्त्र व्याकरण है जो संक्षेप में इस प्रकार है–

संज्ञा :–

ब्रजभाषा में प्रायः अकारान्त, इकारान्त और इकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग ही होती है। कुछ पुल्लिंग उदाहरण इसके अपवाद हैं। आरान्त संज्ञाएँ पुल्लिंग होने पर उकारान्त हो जाती हैं जबकि उकारान्त संज्ञाएँ हमेंशा पुल्लिंग होती हैं। उकार बहुला प्रवृत्ति के कारण अकारान्त शब्द भी उकारान्त हो जाते हैं।

यद्यपि साहित्यिक ब्रजभाषा में अकारान्त संज्ञाएँ भी मिलती हैं परन्तु वर्तमान बोलचाल की भाषा में तो व्यक्तिवाचक नामों के ही उदाहरण ही प्राप्त होते हैं। खड़ी बोली की अकारान्त संज्ञाएँ ब्रजभाषा में अकारान्त हो जाती हैं। ब्रजभाषा की प्रमुख विशेषता ही अकारान्त है। इसकी प्रधान प्रवृत्ति में स्वरान्त की अधिकता होती है

न कि व्यंजनान्त की। यही कारण है कि अन्त में प्रायः "इ" (चारि) ड़ (पागलु) अथवा "औ" (खोटी) आदि स्वर उच्चारित होते हैं।

लिंग :-

ब्रजभाषा में प्रत्येक संज्ञा या तो पुल्लिंग होती है या स्त्रीलिंग प्राणहीन वस्तुओं की संज्ञाएँ भी इन्हीं में से किसी कोटि में रखी जायेगीं। ऐसी संस्थाओं में प्रत्यय के सहयोग से सहगामी स्त्रीलिंग रूप बनाये जाते हैं। जैसे- ग्वाल से ग्वालिनि, गरीब से गरीबिन, हाथी से हथिनी आदि। इसी प्रकार विदेशी शब्दों की लिंगहीन संज्ञाएँ अनिवार्य रूप से इन्हीं दो लिंगों में से किसी एक के अन्तर्गत रख ली जाती हैं। हिन्दी में लिंग निर्णय[1] एक जटिल समस्या होने के बावजूद ऐसा नहीं है कि इसमें कुछ नियम ही न हो। लिंगों के निर्णय शब्द के अर्थ तथा उसके रूपों के आधार पर किया जाता है। कभी-कभी अनियमित रूप से पुल्लिंग से ही स्त्रीलिंग संज्ञाएँ बना ली जाती है। जैसे- पुल्लिंग भैया से स्त्रीलिंग भैन ;

ब्रजभाषा में ई, नी, आनी, इन, इनि, इया, आइन, अटी, डी आदि प्रत्ययों के द्वारा प्राणिवाचक संज्ञाओं को स्त्रीलिंग में परिवर्तित कर दिया जाता है। जैसे - "देव" से देवी, मोर से मोरनी, देवर से देवरानी, चमार से चमारिन, तथा ग्वाल से ग्वालिनि आदि।

अकारान्त को इकारान्त में परिवर्तित करके भी ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग बनाया जाता है। जैसे - "डोरा" से डारि।

वचन :-

ब्रजभाषा में दो वचन होते हैं -- एकवचन और बहुवचन। आदरार्थक विशेषण तथा क्रिया के बहुवचन रूप भी एकवचन संज्ञा के साथ

1. डॉ हरदेव बाहरी, हिन्दी में लिंग विचार-हिन्दी अनुशीलन, वर्ष-2 अंक-3 संवत् - 2006

ही व्यवहृत होते हैं। ओकारान्त को छोड़कर मूलरूप एकवचन तथा बहुवचन में कोई भिन्नता नहीं होती। जैसे –

पुल्लिंग एक छोरा (एकवचन) द्वै छोरा (बहुवचन)

स्त्रीलिंग एक रानी (एकवचन) द्वै रानी (बहुवचन)

जबकि ओकारान्त में भिन्नता होती है –

काँटा (एक वचन) काँटे (बहुवचन)

नारा (एकवचन) नारे (बहुवचन)

ब्रजभाषा में संयोगात्मक विकृत रूपों में प्रत्यय जोड़कर एक बचन बनाये जाते हैं जैसे– "पूत" से पूतए तथा छोरे से छोराऐ इत्यादि।

ब्रज में मूलरूप एकबचन प्रायः आकारान्त से ओकारान्त हो जाता है। जैसे नाड़ा का नाड़ौ, माथा का माथौ, परन्तु कभी–कभी अकारान्त ही बने रहते हैं जैसे रास्ता का रस्ता। ब्रजभाषा में न, नु, न्ने प्रत्यय लगाकर विकृत रूप बहुववन बनाया जाता है। जैसे पुल्लिंग छोरा से छोरनया छोरान या छोरानु या छोरान्नें।

स्त्रीलिंग रानी से रानिन। स्त्रीलिंग सौति से सौतिन।

लघुवाची तथा हीनतावाची स्त्रीलिंग के बहुवचन में अनुनासिकता का प्रयोग होता है। यथा–कुतिया से कुतियाँ।

विभक्तियाँ एवं कारक :–

ब्रजभाषा में निम्नलिखित कारकीय परसर्गो का प्रयोग होता है –

कर्ता कारक– ने

कर्म कारक – को, कों, कौं, हिं, कहं।

करण कारक–सें, सों, सौं, तें, तैं,।

सम्प्रदान कारक – को, कों, कौं, का, कुं, हिं।

अपादान कारक – से, सों, सौं, ते, तैं।

सम्बन्ध कारक– को, कों, के, कें, कैं, की।

अधिकरण कारक– में, मैं, मो, पे, पर, माँहि, माह महँ मधि।

इसके अलावा कुछ संयुक्त सर्ग भी प्रयुक्त होते हैं। यथा–

में ते– बकस में ते किताब निकारि लाओ।

पे ते– खाट पे ते तै रोटी उठाय लै।

के नै– राम के नै कई।

परसर्गों के समान कुछ अन्य शब्द भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। जैसे–आगे, दिन भर, बीच, ढिग, हित, लगि, करि, लौं, निकट, प्रति, संग, सहित, से, सम, समेत, ताई, तम, तर आदि।

सर्वनाम :–

संज्ञा के बदले बोले जाने वाले शब्दों को सर्वनाम कहते हैं। ब्रजभाषा के सर्वनामों में खड़ी बोली की अपेक्षा अधिक रूपान्तर मिलता है। ब्रजभाषा में प्रयुक्त होने वाले मुख्य सर्वनाम निम्न लिखित हैं –

पुरुष वाचक – उत्तम पुरुष – मैं, हों, हौं,हुँ, मों, मौं, हम।

मध्यम पुरुष – तु, तूँ,तैं, तें, तो, तुम।

अन्य पुरुष तथा निश्चयवाचक – यह, एहि,या, ये, इन, वह, सो, वा, ता, तेहि, वे, से, उन, तिन।

निज वाचक – आय, आयु, आयुन।

सम्बन्ध वाचक – कौन, को, का, किन

अनिश्चयवाचक – कोऊ, कोय, काहँ, कोई, कहुं, कहूं, कछुक, एक, एकनि सब, सबन और औरन।

क्रिया :–

ब्रज भाषा की मूल क्रिया में क्रिया के रूप की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं परिलक्षित होती है। ब्रजभाषा की क्रियाएँ अधिकांशतः नो,न और बा से अन्त होने वाली होती हैं। उदाहरणार्थ –

दोनो, लोनो, करनो आदि नो से

आवन, गवन, लेन, देन आदि न से

निहारिबो, बिगारिबो, झिझकारिबो आदि बो से अन्त होने वाली क्रियाएँ हैं।

ब्रजभाषा की क्रियाओं में तरह–तरह के प्रत्ययों को जोड़कर एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले अनेक शब्दों का निर्माण किया जाता है। भूतकालिक कृदन्त के सृजन हेतु पुल्लिंग एकबचन ओ, औ, यो, यौ, इन चार प्रत्ययों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए कीनो, कीनौ, किया कियौ आदि। आज्ञार्थ क्रियाएँ खड़ी बोली में जहाँ अनेक मुल रूप में प्रयुक्त होती हैं वहीं ब्रजभाषा में इयो प्रत्यय लगाया जाता हे। जैसे –

तुम जाना का तुम जइयो।

ब्रजभाषा की सहायक क्रियाओं में भी अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं जैसे–

वर्तमान काल – उत्तम पुरुष में – हां, हों, हुं, हैं

मध्यम पुरुष में – है, हौ

अन्य परुष में – है, अहै, अहहि, हैं, अहैं, अहहिं

भूतकाल – उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष में – हो, हे, हतो, हुतो, हुतौ, हतौ, हते, हुते, ही, हुती, हती, हीं, हुती।

भविष्यत काल–उत्तम पुरुष में – हवैहों, होइहौं, हवैहैं, होइहैं

मध्यम पुरुष में – हवैहै, होइहै, हवैहौ

अन्य पुरुष में – हवैहै, होइहैं, हांयगौ, हवैयगौ, होहुगे, होहिंगे, होंयगे, होयगी, हवैहै। आदि रूप प्रयुक्त होते हैं।

विशेषण :–

जिन शब्दों के माध्यम से गुण परिमाण या संख्या आदि की दृष्टि से किसी की विशेषता प्रकट की जाती है, उसे विशेषण कहा जाता है। ब्रजभाषा में विशेषण का रूप संज्ञा–विशेष्य के साथ परिवर्तित होता रहता है। विशेषण संज्ञा के लिंग प्रभाव से प्रभावित होते रहते हैं। यहाँ तक कि कभी–कभी विशेषण का प्रयोग करके ही विवादास्पद शब्द लिंग निर्णय लिया जाता है।

ब्रजभाषा में औकारान्त विशेषण संज्ञा के अनुरूप ही मिलते हैं। यथा – सकरौ, चौरी, खट्टी, मोटौ, धनौ, तीखौ, फीकौ आदि। 'ए'' प्रत्यय से अन्त होने वाले ओकारान्त विशेषणों का परिवर्तित रूप गुण–विस्तार के रूप में संज्ञा के साथ मूल रूप बहुवचन, विकृत रूप एक वचन तथा विकृत रूप बहुवचन में प्रयुक्त होता है। जैसे –

कारो कुत्ता आत् है।

कारे कुत्ता आत् हैं।

कारे मर्दन् से कह देओ।

कर्म के समान प्रयोग किये गये ऐसे विशेषणों में उपर्युक्त परिवर्तित रूप केवल मूल बहुवचन संज्ञा के साथ ही व्यवहृत होता है। जैसे –

बो आदमी गोरो है।

बे आदमी गोरे हैं।

बा आदमी को कारो कहते हैं।

उन आदमिन को कारो बताउत् हैं।

ऐसे विशेषणों में कोई परिवर्तन नहीं होता जो व्यंजनान्त होते हैं। जैसे –

सफेद ईंट है।

सफेद ईंटे हैं।

सफेद ईंट का टुकड़ा है।

सफेद ईट्न का टुकड़ा।

इस प्रकार विशेषण के तीन वर्ग किये जा सकते हैं –

1. मूल रूप तथा विकृत रूप परिवर्तित होते रहते हैं तथा लिंग के प्रभाव से प्रभावित भी होते हैं। जैसे –

मूल– औ	विकृत – ए	स्त्रीलिंग – ई
नीकौ	नीके	नीकी

2. मूल रूप एक वचन में उकारान्त तथा बहुवचन में अकारान्त प्रयुक्त होता है। यथा –

सुन्दर – सुन्दर – सुन्दर

कभी–कभी विशेषण एकवचन में उकारान्त नहीं रहता।

3. प्रथम रूप की भाँति ही आकारान्त रूप भी परिवर्तित हो जाता है। जैसे –

सादा, सादे, सादी

ब्रजभाषा में विशेषण के साथ पर–प्रत्ययों का भी प्रयोग होता है। जैसे –

'सब' और 'ते' के योग से – सबते हुस्यारु।

तुलनात्मक रूप दर्शाने हेतु ते का प्रयोग किया जाता है। जैसे – कुत्ता से हुस्यार बिल्ली।

ब्रजभाषा में वाला प्रत्यय के योग से घरबारौ (घरवाला) तथा क्रिया में प्रत्यय के योग से पिअक्कड़ या पियक्कड़। पीना + अक्कड़। आदि रूप भी बिनते हैं। इसी प्रकार प्रत्ययों के संयोग से अन्य शब्द भी निर्मित किये जाते हैं।

ब्रजभाषा में कुछ विदेशी विशेषण भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे – मुफ्त का मुफत या मुफ्त।

अव्यय :–

अविकारी रूप अर्थात् जिनमें कोई विकार उत्पन्न न हो, अव्यय कहलाते हैं। व्याकरणानुसार अव्यय के चार प्रकार हैं –– क्रिया विशेषण, समुच्चय बोधक, सम्बन्ध सूचक तथा विस्मयादिबोधक।

क्रिया विशेषण :-

जिस अव्यय के द्वारा क्रिया की विशेषता जानी जाय उसे क्रिया विशेषण अव्यय कहते हैं। ब्रजभाषा में क्रिया विशेषणों के रूप का निर्माण सर्वनाम, विशेषण या क्रिया विशेषणों के ही आधार पर हुआ है। सर्वनाम मूलक क्रिया विशेषण निम्नांकित हैं –

कालवाचक – अब, अबै, जन, जवै, जौ, त्यौ, जौ तक, तब, तबै, तौ, तक, तौ लौ, कब, कबै, तथा ही के योगते अब+ही = अभी, अबहिं, अबई।

स्थानवाचक –इतै, हियाँ, हियन, याँ, म्वाँ, जाँ, न्याँ, बितै,हुँआँ, हुआन, बाँ, वाँ, माँ, म्हाँ, हवाँ, तितै, तहाँ, जितै, जहाँ, किसै।

दिशावाचक – इत, उत, बित, कित. तित

रीतिवाचक – न्यौं, न्यू, नौं, नुँ, ज्यों, जैसे, तैसे, तैसें, कैसे।

2–कालवाचक – प्रमुख कालवाचक क्रिया विशेषण निम्नलिखित हैं – आज, अजु, अब, आगे, आगें, कल, काल, परसौं, तरसौं, नरसों, तड़के, मोर, तुर्त–फुर्त, त्राट, तुरत, तुत्त, झट्ट, फट्ट, अगार–पिहार।

3–स्थानवाचक – जौरें (झौरें), आगैं, धौरे, पीछैं(पछार), अगार, आगै, माऊँ, नजदीक, पल्लंग, उल्लंग, समुही, सामने।

4–रीतिवाचक – बिरकुल्ल, इकिल्लौ, न्यौ, होलै, जोतै।

5–निषेधवाचक – न, नहीं, नॉय, नई, नाँई, ना, नि, मति।

6–कारणवाचक– चौं, कहा, काए, कूँ

7–परिणामवाचक– कहु, नैक, धारौ, तनक, भौतु, तनक, भौतु, जादा, इकट्ठे, सबु, सबेरे, सगरे, सिगरे।

8. क्रिया विशेषण–वाक्यांश (आवृत्ति मूलक)

कालवाचक – बेरि–बेरि, फिरि–फिर, धरी, धरी, कैऊ पोत, रोजु–रोजु, इतने खन, अब–तब कबऊ, जब, कबऊ, जबऊ, जब, कबउल, पौइल।

स्थानवाचक – चारयौ ओर, ज्हाँ–त्हाँ, कहु, कहूँ, कहूँ के कहूँ, चॉइ जा, इत–उत, इत–बित चाँय, ताई, जाँ–ताँ।

रीतिवाचक – चॉय जैसो, जैसे तैसे, हौले–होले, कैसे–कैसे, एसौई, ऐसैं, जातरैतें, जोर जारतें।

समुच्चय बोधक अव्यय –

ब्रजभाषा में विभाजक समुच्चय बोधक अव्ययों में कै, कैतो, चॉय –– चाँय –––नाँय, तौ, विरोधवाचक में – ये लेकिन निमित्तवाचक में तो, तौ, ये, तब उद्देश्यवाचक में जो, जौ, कहूँ, व्याख्यावाचक में तातै, तासौ, ताते, तासें, तासों, संकेतवाचक में – चाँय तथा विषयवाचक समुच्चयवाचक समुच्चयबोधक अव्ययों में कि, अग, अकि, के आदि अव्यय मुख्य हैं।

निश्चय बोधक अव्यय –

इसके अन्तर्गत समेतार्थक में – मैं, ऊँ तथा केवलार्थक में बेई, हम, तेई, एसोई, देखत् ई आदि अव्यय आते हैं।

मनोभाव वाचक अव्यय –

वे अव्यय मनोभावाचक कहलाते हैं जिनका सम्बन्ध वाक्य से नहीं रहता बल्कि इनके माध्य से वक्ता केवल हर्ष, शोकादि भाव को प्रकट करते हैं। ब्रजभाषा में ऐसे अव्यय निम्नलिखित हैं –

आहा! आह! ऊह! हा हा! दइया रे! बाप रे! राम् राम! ओहो!

ए! ऐ! हाँ हा! भला! हिः हट! अरे! दूर! धिक्! थू थू!रे! आदि।

संज्ञा पद :-

किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थान की विशेषता बताने वाले शब्दों को संज्ञा कहते हैं। रीतिमुक्त कवियों ने ब्रजभाषा-व्याकरण के नियमानुसार ही संज्ञा-पदों का प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में अकारान्त, इकारान्त तथा इंकारान्त संज्ञाएं स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुई हैं। कुछ पुल्लिंग उदाहरण इसके अपवाद हैं। इसके अतिरिक्त ओकारान्त तथा औकारान्त संज्ञाएं भी इनकी रचनाओं में मिलती हैं। यत्र-तत्र उकारान्त संज्ञाएं भी मिलती हैं। रीतिमुक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त संज्ञा पदों में बली रूप मुस्यतः तद्भव तथा बलहीन रूप प्रायः तत्सम या अर्द्धतत्सम हैं।

बोधा द्वारा प्रयुक्त संज्ञा पदों के कुछ उदाहरण विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित "बोधा ग्रंथावली" से प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

बली रूप - सारी (8) परेखौ (24) कूबीगरौ (32) रतिकौ (37) हियो (65) तमासौ (66)

बलहीन रूप - मृनाल (7) आँखिन (14) सनेह (18) नेहा (19) क्वेलिया (36) रसालन (37) हियरा (42) पाइन (49) सरौज (55) कमलनि (12) विहीन (37) जोगिनी (63) सखीन (70) खोरिन (73) समया (92) आखिरौ (94) साँवरो (106) कटाहन (107) महीपन (109) (पयारौ (113) हियरा (113) हिये (111)

(कोष्ठक में छन्द संख्या दी गयी है)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा ने अपनी रचनाओं में संज्ञा पदों के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी दिखायी है। इन कवियों ने संज्ञा पदों को ब्रजभाषा-व्याकरण के नियमानुकूल ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया है।

सर्वनाम :-

संज्ञा के बदले बोले जाने वाले शब्दों को सर्वनाम कहते हैं। खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा के सर्वनामों में काफी अन्तर मिलता है। रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में ब्रजभाषा में प्रचलित लगभग सभी सर्वनामों का सफल प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सेनापति घनआनंद, आलम, ठाकुर, बोधा तथा द्विजदेव आदि सभी कवियों की रचनाओं में इनके सर्वनाम प्रयोग को आसानी से समझा जा सकता है।

बोधा के काव्य में प्रयुक्त सर्वनामों के कुछ उदाहरण "इश्कनामा" से प्रस्तुत हैं। छन्द संख्या "विश्वनाथ प्रसाद मिश्र" द्वारा सम्पादित बोधा ग्रंथावली के अनुसार है –

पुरुष वाचक – उत्तम पुरुष – हम (30) हमारो (51) हमारी (53) मेरी (91) मो (107) मेरौ (75) हमारे (41)

मध्यम पुरुष – तेरी (11) तिहारी (47) तेरे (48) तिहारे (50) तू (51) तेरो (56) तुम (74)

अन्य पुरुष तथा निश्चयवाचक – यह (7) सो (20) तिन (32) या (33) इन (46) वे (73) उन (73) ये (96)

निजवाचक – आप (29) आपनी (23)

सम्बन्धवाचक – जा (5) जौ (9) जै (33) जिन (34)

प्रश्नवाचक – कौ (22) का (62)

उपर्युक्त विवचेन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा ने अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा में प्रचलित लगभग सभी सर्वनामों का उचित एवं सफल प्रयोग किया है।

विशेषण –

जिन शब्दों के माध्यम से गुण परिमाण या संख्या आदि की दृष्टि से किसी की विशेषता प्रगट की जाती है उसे "विशेषण" कहा जाता है। ब्रजभाषा में विशेषण का रूप संज्ञा–विशेष्य के साथ बदलता रहता है। रीतिमुक्त कवियों ने ब्रजभाषा के व्याकरणानुकूल विशेषणों का युक्त संगत एवं सफल प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में विशेषण के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं –– प्रथम यह कि मूल रूप तथा विकृत रूप लिंग प्रभाव से परिवर्तित होता रहता है। दूसरा यह कि मूलरूप एकवचन में उकारान्त तथा बहुवचन में अकारान्त हो जाता है तथा तीसरा पद्धति कभी–कभी प्रथम रूप की भाँति आकारान्त रूप भी परिवर्तित हो जाता है। बोधा के काव्य में प्रयुक्त विशेषणों के कुछ उदाहरण उनकी रचना "इश्कनामा" से प्रस्तुत हैं –

कराल (7) हलाहल (14) गरुवी (25) कुठार (36) पापिनि (37) तिरछी (38) तिरछे (38) कारी (42) कारो (42) चारु (44) रंच (45) बड़ी (47) अंधेरे (54) लकरी (59) बड़ो (93) हरी (106) पियरी (106) धनी (107) साँकरी (108) अँधियारी (108) घने (109)

(कोष्ठक में छन्द संख्या आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित "बोधा ग्रंथावली" के अनुसार दी गयी है।

अत: निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि बोधा ने अपनी रचनाओं में विशेषणों का प्रयोग ब्रजभाषा व्याकरण के नियमानुकूल ही किया है। इन कवियों ने विशेषणों के प्रयोग में काफी सर्तकता भी दिखाई है क्योंकि इससे ही अनुभव की विशिष्टता का पता चलता है। इनके विशेषणों में वली रूप मुख्यतया तद्भव और बलहीन रूप प्राय: तत्सम या अर्द्ध तत्सम हैं। संक्षेप में बोधा ने विशेषणों के चयन व उनके प्रयोग में अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया है।

क्रिया –

रीतिमुक्त कवियों के क्रिया पद ब्रजभाषा के नियमानुकूल हैं। इन कवियों की अधिकाँश क्रियायें नो, न और बो से अन्त होने वाली हैं क्योंकि यह ब्रजभाषा के क्रिया पदों की प्रमुख विशेषता है। ब्रजभाषा की सहायक क्रियाओं के अनेक रूप–भेदों को भी इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। कुछ क्रियाओं में तरह–तरह के प्रत्यय लगाकर भी इन कवियों ने एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले अनेक शब्दों का निर्माण किया है।

बोधा के काव्य में प्रयुक्त क्रिया पदों के कुछ उदाहरण आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित "बोधा ग्रंथावली" से उद्धत किये जा रहे हैं – (कोष्ठक में छन्द संख्या "इश्कनामा" के अनुसार है।)

सहायक क्रिया – हुतो (75) हती (87) हतो (100)

मूल क्रिया – कियो (1) जान्यौ (5) आवनो (7) धावनो (7) तज्यां (13) करिबो (19) निहारिबो (14) ढूढ़यो (26) मिल्यौ (27) देख्यौ (28) धारति (37) लखौं (38) कबौ (43) सुनिबो (43) आवन (43) भयो (51) सुनौ (57) दीन्यौ (61) निबाहिबो (69) मिलिबो (71) तज्यो (85) दियो (91) जानत (96) गहयो (97) फिरौ (103) करिहौ (104) जानतो (104) आवतो (104) खरौ (113) हेरात (18) लखिकै (30)

संयुक्त क्रिया – पावत हैं (15) गावत हैं (14) फिरिबौ करौ (20) निहारि खड़ी (49) लखि पायो (52) मिलावत है (64) खेलिको है (65) हिरैवो करै (71) छुटि जाइयो (87) रोबत फिरत (90) भयो जरिहै (110) दै आवनो है (7) बैठि रहौ (46) छुटि जाइये (50) रोवतु गावतु है (68) पिरैबो करै (7) धरैबो करै (71)

द्विजदेव के काव्य में प्रयुक्त क्रिया पदों के कुछ उदाहरण "शृंगार लतिका सौरभ से प्रस्तुत हैं –

सहायक क्रिया – हुतो (99) ह है (18.) [illegible] (14.) [illegible] (19.) [illegible] (89) है (150) हैं (139) हवैहैं (190) हुती (156) हुतै (221)

मूल क्रिया – करत (10) देत (10) करी (53) करिहैं (59) कर्‌यौ (61) कीन्हीं (54) देति (75) दीन्हौं (82) खेलिवे (90) छाइगौ (94) कीजतु (114) दीजतु (114) धेर्‌यौ (121) करे (124) दियौ (144) पछिताइहैं (176) निरहयौ (178) मिलियो (180) चरिओ (187) लहिहौ (194) इयागिबो (207) बनिहै (204) कीवाँ (218) करतु (218) दैहैं (225) चलाइहै (212) धोवति (227) तखिबै (233) दीन्हयौ (240) करैहौ (241) लगैहौ (249) करैहौ (249) दीन्हीं (253) कीन्हौं (258) किए (263) दीन्हें (268) किय (275)

संयुक्त क्रिया – होत है हवै है (7) बरसायौ करै (28) चुरायौ करै (28) गायौ करैं (28) भाजि गयौ (32) लखि भाजि गयो (23) बैठौ हुती (82) भाजो हौं इराइ (82) जानि पर्‌यौ (92) कहि जाइ परै (104) ठाढ़ी हवै (124) आवति चली है (171) रहि जाइ है (176) चलन न पइहै (176) हवै गये (184) फैलि गयां (186) करतु हौ (218)
(कोष्ठक में छन्द संख्या दी गयी है)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा द्वारा प्रयुक्त क्रिया पद प्राय: ब्रजभाषा व्याकरण के नियमानुकूल ही है।

अव्यय –

विकारी रूप अर्थात् जिनमें कोई विकार उत्पन्न न हो, अव्यय कहलाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं – क्रिया विशेषण, संबंध सूचक

समुच्चयबोधक तथा विस्मयादि बोधक अव्यय। रोतिमुक्त रचनाओं में अव्यय के लगभग इन सभी रूपों का उचित प्रयोग हुआ है। सेनापति, घन आनंद, आलम, ठाकुर, बोधा तथा द्विजदेव इन सभी रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त अव्ययों के स्वरूप को कुछ उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है --

बोधा के काव्य में प्रयुक्त अव्ययों के उदाहरण **"बोधा ग्रंथावली"** के आधार पर प्रस्तुत हैं -

नहीं (2) न (7) ना (9) तब (11) तौ (14) जौ लौ (21) जौं (23) ढिग (25) जब (33) ज्यों (46) अबै (58) अब (58) इतै (86) उतै (86) किधौं (97) जित (103) इत (104)

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा ने अपनी रचनाओं में अव्यय के सभी रूपों अर्थात् क्रिया विशेषण, सम्बन्ध सूचक, समुच्चयबोधक तथा विस्मयादि बोधक अव्ययों का सफल प्रयोग किया है।

*
***
*****
****
*****
***
*

सप्तग अध्याय

सप्तम अध्याय

बोधा की काव्यभाषा का शास्त्रीय विश्लेषण

काव्य गुण : ओज, प्रसाद, माधुर्य :-

हिन्दी की मध्ययुगीन शृंगारिक काव्य रचनायें जिस भाषा में प्रस्तुत की गयी हैं उसको काव्यभाषा के नाम से अभिहित किया गया है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त इसको "भाखा" मध्यदेशी, अन्तर्वेदी, ग्वालेरी नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। राजस्थान में इस काव्यभाषा को "पिंगल" नाम से भी पुकारा जाता रहा।

साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से ब्रजभाषा का महत्व बहुत अधिक है। हिन्दी साहित्य में काव्य भाषा की चरम उन्नति का सत् स्वरूप वस्तुतः रीतिकाव्य में लक्षित होता है। भक्ति काव्य में भाषा का अधिक लावण्यमय एवं माधुर्य संबलित रूप कलात्मक प्रौढ़ि के अभाव में प्रायः लक्षित नहीं होता है लेकिन रीतिकाव्य भाषा के प्रवाह, लोच नाद सौन्दर्य, लाक्षणिक प्रयोग, शब्द भण्डार आदि सभी दृष्टियों से पूर्णतया सम्पन्न है, इस में किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। रीति कवि समुदाय ने इसको काव्योचित बनाने में, इसकी कमियों को दूर करने में साथ ही इसे कलात्मक गरिमा से मण्डित करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। रीतियुगीन काव्यभाषा की तुलना अंग्रेजी कवि टानसन की उस भाषा से की जा सकती है, जिसको प्रयत्नपूर्वक विभिन्न प्रकार के मधुर, कोमल तथा कलात्मक शब्द कड़ियों से अलंकृत किया गया है। बोधा ने काव्य रचना करने से पूर्व भाषा को भली प्रकार माँजा था तथा उसके एक-एक शब्द को तुला पर रखकर मापा था, उसमें जो भी अनावश्यक था

उसको हटाया था। कोमल भाव–व्यंजना के उसके अनुरूप शब्दों में ढालने के लिए भाषा का शोधन एवं मार्जन अत्यावश्यक है। पं0 सुमित्रानन्दन पन्त ने इस विषय पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं ––

जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल बना लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।[1]

इस बात में सन्देह नहीं है कि जो रीति कवि काव्यभाषा की नाड़ी को ठीक–ठीक पहचान नहीं सके, उनको वास्तविक सफलता नहीं मिली और उनकी रचना भाषा के साहित्यिक उत्कर्ष के लाभ से प्रायः वंचित रह गयी। जिन कवियों की अंगुलियाँ भाषा के संगीतात्मक ध्वनि को झंकृत करने में अधिक सधी हुई थीं। उन्हें निश्चयरुपेण अधिकाधिक सफलता प्राप्त हुई है।

काव्यभाषा के संवर्धन तथा विकास में अनेकानेक रीतिकवियों का योगदान रहा लेकिन प्रवाह, लोच, नादान्विति अर्थवत्ता तथा कसावट की दृष्टि से बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द तथा बोधा का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि भाषा के साहित्यिक उत्कर्ष एवं प्रकृत सौष्ठव की अभिवृद्धि में इन कवियों ने जिस प्रकार की साधना प्रस्तुत की है, वह अन्यत्र कम ही लक्षित होती है।

बोधा की काव्यभाषा अपनी सहजमस्ती तथा एक विशिष्टि शब्द–विन्यास के कारण इसकी प्रभाव क्षमता अपेक्षाकृत बढ़ गयी है। रीतिकाव्य की परम्परा के अन्तर्गत आने वाले बोधा एक ऐसे कवि हैं, जिनकी काव्यात्मक अभिव्यञ्जना एक लम्बे समय तक सहृदयों को प्रभावित करती रही है। इनकी काव्यभाषा की प्रभविष्णुता के कारण छन्द प्रायः लोगों को कंठाग्र हो जाया करते हैं।

---

1. पं0 सुमित्रापन्दन पन्त – पल्लव भूमिका, पृ0 – 51

काव्यभाषा ब्रजभाषा की समृद्धि तथा उसकी व्यापकता का इससे बढ़कर और क्या साक्ष्य मिल सकता है कि इसकी टीकाएँ संस्कृत जैसी भाषाओं में प्रस्तुत की गयी और इसे सुरवाणी (संस्कृत) के सदृश समझा गया। ब्रजभाषा में इस प्रकार कहा गया है --

ब्रजभाषा भाषत सकल, सुरवाणी समतूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल।।
ब्रजभाषा बरनी कविन, बहुविधि बुद्धि विलास।
सब को भूषण सतसई करी बिहारी दास।।[1]

वस्तुतः काव्यभाषा का स्वरूप अत्यन्त प्रान्जल, शुद्ध तथा परिष्कृत रहा है। रीतिकालीन काव्यभाषा के महत्व की सभी कवियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

ब्रजभाषा

हिन्दी की मध्ययुगीन श्रृंगारिक रचनाएं जिस भाषा में प्रस्तुत की गयी उसे ब्रजभाषा के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त इसको "भाखा" मध्यदेशी, अन्तर्वेदी, ग्वालेरी तथा राजस्थान में "पिंगल" नाम से भी सम्बोधित किया जाता रहा। अब क्रमशः एक-एक के सम्बन्ध में विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा।

मध्यकाल में "भाखा" शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा के अलावा अवधी भाषा के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी ने "भाखा" का उल्लेख कई स्थलों पर किया है।[2] तुलसीदास जी के प्रयोगों

---

1. बिहारी सतसई - टी0 कृष्ण कवि, पृ0 - 260, नवा सं0
2. (1) भाषा भनिति भोरि मति मोरी। - रामचरितमानस, काशीराज सं0 506
   (।।) का भाखा का संस्कृत भाव चाहिए सांच। -- दोहावली, दो0 सं0 572

से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके अनुसार "भाखा" का आशय अवधी है जो ब्रजभाषा के समान ही महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। तुलसीदास के उपरान्त नन्ददास ने भी अपनी रासपंचाध्यायी में "भाखा" का संकेत किया है।[1] इसमें "भाखा" ब्रजभाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। आचार्य केशवदास ने "भाखा" का प्रयोग अपनी "कविप्रिया" में किया है।[2] यहाँ "भाखा" का अर्थ ब्रजभाषा के लिए स्पष्ट है। आचार्य कुलपति मिश्र ने "भाखा" का अर्थ उस युग के सामान्य जन के मध्य में समझी जाने वाली ब्रजभाषा अर्थ में ही किया है।[3] "भाखा" विषयक विस्तुत विवेचन का प्रयास इन ग्रन्थों में प्रायः नगण्य रहा। सर्वप्रथम मिरजा खाँ ने इसका विवेचन प्रस्तुत किया तथा उनके मतानुसार संस्कृत तथा प्राकृत के अतिरिक्त जितनी अन्य बोलियाँ है, वे सभी "भाखा" कही जाती हैं इसी के साथ ही उन्होंने ब्रजभाषा का सम्बन्ध "भाखा" के साथ जोड़ा है।[4]

कृष्ण कवि के दोहों के आधार पर लल्लूलाल जी ने अंग्रेजी में लिखित अपने "ब्रजभाषा" व्याकरण में संस्कृत, प्राकृत तथा "भाखा" का उल्लेख किया है, कृष्ण कवि का दोहा इस प्रकार है --

---

1. ताही तैं यह कथा यथामति भाषा कीनी। ----- रास पंचाध्यायी – टी0 डॉ0 रामचन्द्र शुक्ल रसाल पृ0 – 10

2. भाषा बोलि न जानही जिनके कुल के दास।
   भाषा कवि मो मंदमति, तेहि कुल केशवदास।। -- कविप्रिया, टी0 ला0 भगवानदीन, पृ0 – 23, प्र0 सं0।

3. जिती देव बानी प्रगट, कविता की घात।
   ते भाषा में होय तो, सब समझै रसबात।। -- रस रहस्य --पृ0–2

4. ग्रामर आफ द ब्रजभाखा – जियाउद्दीन, पृ0 – 7

पौरुष कविता त्रिविध है, कवि सब कहत बखानि।
प्रथम देववाणी बहुरि, प्राकृत भाषा जानि।।[1]

वस्तुतः इस स्थल पर भाषा से उनका अभिप्राय ब्रजभाषा से है लेकिन "भाखा" शब्द संस्कृत से विभिन्न इतर भाषाओं का भी बोधक था।

ब्रजभाषा के समानार्थक शब्द के रूप में "पिंगल" शब्द का भी ग्रहण होता रहा है।[2] पिंगल के सम्बन्ध में डॉ0 सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन है कि "अर्ध अपभ्रंश की स्थिति शुद्ध अपभ्रंश तथा भाषा की मध्यवर्ती स्थिति का स्पष्ट संकेत कर रही है और जिसे हम पृथ्वीराज रासो, दूसरी रचनाओं एवं राजस्थान के पिंगल साहित्य में पाते हैं। क्रमशः पिंगल का प्रयोग ब्रजभाषा में बहुत अधिक होने लगा। सूरजमल ने पिंगल की स्थिति ग्वालियर तथा दिल्ली के मध्य बतायी है। अतएव स्पष्ट है कि कालान्तर में "पिंगल" ब्रजभाषा का पर्याय बन गया।

ब्रजभाषा के लिए "मध्यदेशी" नाम की स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं है। आचार्य केशव ने "कविप्रिया" के एक कवित्त में इस सम्बन्ध में कुछ संकेत अवश्य किया है। कवित्त की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं--

गोपाचल ऐसे गढ़ राजा रामसिंह जू से,
देशन की गणि महि मध्य देश जानिये।[3]

वास्तव में गोपाचल शब्द ग्वालियर का पर्याय है तथा महि मण्डल में सब देशों की मणि मध्यदेश कहा गया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्वालियर या "गोपाचल" मध्यदेश में ही स्थित था जहाँ पर राजा रामसिंह शासन करते थे। अतएव ग्वालियर की भाषा को मध्यदेशी के नाम से सम्बोधित किया गया जो शनैः शनैः ब्रजभाषा के नाम से

---

1. बिहारी सतसई , कृष्ण कवि, दो0 सं0 707
2. राजस्थान का पिंगल साहित्य- मोतीलाल मेनारिया, पृ0 - 14
3. प्रिया प्रकाश, टी0 लाला भगवान दीन, पृ0 - 124

प्रचलित हुई। जिस प्रकार से मध्यदेश को सब देशों की मणि कहा गया है, उसी प्रकार "ब्रजभाषा" के सम्बन्ध में लोगों की अवधारणा बन चुकी थी कि रागों की मणि भैरो है और ब्रजभाषा भाषा मणि है।[1]

"अन्तर्वेदी" शब्द को भी ब्रजभाषा का पर्याय समझा जाता रहा है। डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने "अन्तर्वेदी" के सम्बन्ध में एक दोहा प्रस्तुत किया है --

"अन्तर्वेदी नागरी, गौड़ी पारस देस।
अरू जामे अरबी मिलै, मिश्रित भाषा भेस।।[2]

उक्त दोहे में प्रयुक्त "अन्तर्वेदी" शब्द से ब्रजभाषा का अनुमान लगाया जा सकता है। स्वयं डॉ0 ग्रियर्सन ने भी अन्तर्वेदी को ब्रजभाषा स्वीकार किया है तथा अन्तर्वेद का विशेष परिचय देते हुए लिखा है कि यह यज्ञों की भूमि के अन्तर्गत स्थित एक पवित्र देश है।[1]

ब्रज भाषा के लिए "ग्वालियरी" शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम सम्वत् 1686 में "कृष्ण रुक्मिणी री बेलि" पर जय कीर्ति द्वारा लिखित टीका में किया गया था। उसमें ग्वालियरी के सम्बन्ध में एक दोहा भी उद्धृत किया है------

ग्वालेरी भाषा गपिल, मन्द अरथ मति भाव।
बात बन्ध किय भाषवित्, समझत हिय समभाव।[4]

जय कीर्ति के मतानुसार गोपाल नामक कवि ने ग्वालेरी भाषा में टीका लिखी है, जिसने इस भाषा को ब्रजभाषा माना

---

1. रागनामणि भैरों, भाषा मणि ब्रज की ।–राग कल्पद्रुम प्रथम, पृ0 264, सं0 कृष्णानन्द
2. "भारती" जून 1954, पृ0 7
3. लिंग्विस्टिक सर्व आफ इन्डिया, जिल्द 9, भाग 1, पृ0 69
4. "भारती" मार्च 1955 में श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा लिखित ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रन्थ नामक लेख से।

है। महाविद्वान राहुल का भी अभिमत है ग्वालियरी भाषा एवं ब्रजभाषा कभी पर्याय थी और पुनः ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी भाषा ग्वालेरी कही जाने लगी।[1] बिहारी सतसई के प्रसिद्ध टीकाकार कृष्णकवि ने लिखा है कि –"यों देश भेद के अनुसार तो बहुत सी भाषाएँ हैं, पर उनमें ग्वालेरी भाषा ही "रससार" कही जाती है।[2]

डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा ने अपने जीवन के शोध के अन्तर्गत ब्रजभाषा का प्रथम प्रयोग भिखारीदास में बताया है।[3] सं0 1944 विक्रम में गोपाल कवि लाहौरी ने मीरजा खाँ के लिए लिखित अपने "रसविलास" नामक ग्रन्थ में ब्रजभाषा की चर्चा करते हुए लिखा है–

मरु भाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषा चोज।
अब गोपाल यातें लहैं, सरस अनोपम मोज।।[4]

इसकी हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर राजस्थान में सुरक्षित हैजिनकी चर्चा पं0 जवाहर लाल चतुर्वेदी ने की है।[5] इसके पश्चात् सं0 1755 में समर्थ कवि केशव की रसिक प्रिया की संस्कृत टीका के अन्तर्गत ब्रजभाषा का प्रसंग आया है––

सुरभाषा तें अधिक हैं, ब्रजभाषा कौ हेतु।
ब्रजभूषन जाकों सदस मुख भूषन करि लेत।[6]

---

1. भारती, अगस्त 1955, पृ0 167
2. देश भेद से होत सों, भाषं बहुत प्रकार।
   वरणत हैं तिन सबन में, ग्वारयरी रससार।। बिहारी सतसई, कृष्ण कवि दो सं0–708 पृ0–260
3. ब्रजभाषा व्याकरण – भूमिका भाग, पृ0 10
4. अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर की हस्तलिखित प्रति सं0 1746
   छं0 सं0 45
5. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र कोष – सं0 पं0 जवाहर लाल चतुर्वेदी , पृ0 71
6. दान, सागर, भण्डार, बीकानेरी कर हस्तलिपि प्रति सं0 1799
   छं0 सं0 17

पुस्तक के अन्त में संस्कृत के जिस अंश का उद्धृत किया गया है, वह इस प्रकार है--

प्रायशोब्रजभाषायाः केनापि न कृतापुरा।
संस्कृतमयी टीका-सुगमार्थ-प्रबोधिनी।।[1]

वस्तुतः ब्रजभाषा की समृद्धि एवं उसकी व्यापकता का एक सबसे प्रमुख प्रमाण यही है कि इसकी टीकायें संस्कृत जैसी भाषाओं में प्रस्तुत की गयी तथा इसको सुखंणी के सदृश महत्व प्रदान किया गया। समृद्धि तथा विकास की दृष्टि से भी इस भाषा की तुलना संस्कृत से भिन्न किसी अन्य भाषा से नहीं की जा सकती। बिहारी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि ने एक स्थल पर लिखा है---

ब्रजभाषाभाषत सकल, सुखाणी समतूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल।।[2]

अरबी फारसी की शब्दावली

बोधा ने रबी फारसी शब्दों का अप्रतिबंधित प्रयोग किया है। इस प्रकार का प्रयोग करना उनके लिए अनिवार्य भी था। जिस सन्दर्भ में उनकी प्रणय चेतना विस्तार पाती है, वह उसके लिए विशेष रूप से उत्तरदायी है। बोधा ने घनानन्द के समान अरबी एवं फारसी शब्दों के प्रकृति परिवर्तन को आवश्यक नहीं समझा है क्योंकि उनका प्रणय अन्तःकरण कीविशेष गहराई में न जाकर बाहर ही परिविस्तार पाता है। घनानन्द का प्रणय मौन मुखर है जो बाहर विस्तार न पाकर अंतश्चेतना में अत्यन्त गहरा उतर जाता है। बोधा ने अरबी फारसी शब्द प्रयोग में प्रथक परिस्थितियों में विशेष रूप से कार्यान्वित रही है।

---

1. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र कोश- सं0 पं0 जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ0 81
2. बिहारी सतसई, टी0 कृष्ण कवि, पृ0 260 नवा सं0

बोधा द्वारा प्रयुक्त अरबी फारसी शब्दों को संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा रहा है -------

अरबी के शब्द :-

अरज, अजब, अखत्यार, आकिल, इश्क, इतराज, इलाज, इतबार, कहर कहर, कलाम, कोल, काजी, कीमत, खोफ, खबर, खिलवत, गरीब, गोता, जाहिर, ज्वाब, दोलत, तालब–इल्म, तुर्रा निहायत, नकीब, नफा, नशा, बेवाकिफी, फिकर, मजबूत, मगरूर, मजा, मरहम–मजलिस, मजाजी, माफ, वेमालूम, मुकाम, मुलाकात, मोज, मुजरा, रजा, साहिब, सिफत, हक्क, सुलतान, हकीकी, हजरत, हुजूर, हकीम।

अर्ध तत्सम शब्द :-

किसा, गुस्सा, आशिक, कागद, मुशक्किल, सक, जाहरन, हकीमन, हबूबो।

फारसी के शब्द :-

अदा, खुदा, गुलजार, गरदन, गस्त, चौगान, जंग, जर्द, जमा, जुलफ, जान, तमासा, दरवाजे, दरद, दगा, दिलबर, दोस्त, दीवान, परवाह, नेकी, फना, फकीर, बगल, बका, बाग, बदनामी, बदी, बिरादर, मस्ताना, यक्, यारा, शोर।

अर्धतत्सम शब्द –

खूबो, चुगलन, जार, जबाल, फुरमाया, दरयाब, सरमिंदगी, बजार, सहर।

बोधा के शब्द प्रयोग विश्लेषण से स्पष्ट है कि वह अपने जीवन में जैसे स्वच्छन्द थे, वैसे ही शब्द चयन और प्रयोग में भी स्वच्छन्द विचारों के व्यक्ति थे। उनके लिए शब्द की अभिव्यञ्जनात्मक क्षमता ही प्रधान थी, उनके वंश, वर्ण, रक्त तथा धर्म की ओर उन्होंने जिस उदार गुण–ग्राहकता का परिचय दिया था, वही उनके शब्द चयन तथा भाषा प्रयोग में भी प्रश्रय पाती है। उनकी संभ्रान्त मेधा संस्कृत के तत्सम शब्दों के चयन में सचेष्ट रहती है तथा उदार जीवन दृष्टि अरबी, फारसी के शब्दों के प्रयोग में लगी रहती है। इन दोनों ही दृष्टियों से विरचित, उनकी सामासिक दृष्टि संस्कृत तथा अरबी–फारसी के तद्भव शब्दों के प्रयोग में रुचि प्रदर्शित करती है।

बोधा के शब्द एक ओर अपनी मूल शुद्ध जातीय वैशिष्ट्यता की रक्षा करते हैं तथा दूसरी ओर कवि के अर्थ संवाहन में अत्यन्त उदार आत्मीयता से एक शिल्प में संघटित होते हैं, इस प्रकार उनके अभिव्यञ्जना शिल्प में भाषा का एक प्रकार का धर्म निरपेक्ष रूप परिलक्षित होता है।

ध्वनि परिवर्तन :–

अरबी–फारसी के तत्सम शब्दों में जिल ध्वनियों का निर्वाह नहीं हो पाया है, वे इस प्रकार हैं ––

हे – ह, खे – ख, जे – ज, शीन – स, सुआद – स, जुआद – ज, तोए – त, जोए – ज, एन – अ, गैन – ग, फे – फ, काफ – क।

बोधा के काव्य में यत्र–तत्र नीचे दिये गये परिवर्तनों के रूप भी मिलते हैं ––

अक्षर परिवर्तन – कागज, जार।

अक्षर वृद्धि – आशिका, मुशकिल।

अक्षर लोप :-

किसा, जमा, गुसा, माफ, बजार।

स्वरूप परिवर्तन :-

ऐसे परिवर्तनों द्वारा बोधा ने विदेशी शब्दों को देशीय बनाने का प्रयास किया है –– खूबो, जाहरन, फुरमाया, चुगलन, दरयाव, हबूबौ, हमीमन।

अरबी–फारसी के समस्त शब्द :-

अजब–गजब, गरीब–निवाज, दिल–माहिर, खुसी–हाल, नेकी–बदी।

मुस्लिम रियासत के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण बोधा का समग्र जीवन–दर्शन अरबी तथा फारसी भाषा से अनुप्राणित था, जिसकी अभिव्यक्ति उनके स्वच्छन्द आचरण तथा अभिव्यञ्जना शिल्प में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। बोधा ने बड़े शौक से अरबी–फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। उनके प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इस विदेशी शब्दों के स्वरूप एवं प्रकृति परिवर्तन का भी प्रायः प्रयास नहीं किया है। शब्दों के इतने अधिक बाहुल्य से उनकी रचनाओं में एक विदेशीपन फैलने लगता है। प्रत्येक छन्द में अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो अध्येता के हृदय में गहरे उतरने की बजाए उसको झकझोर कर ही रह जाते हैं।

किसी भी भाषा में लाक्षणिक प्रयोग उस भाषा की पूर्ण शक्तिमत्ता को घोषित करता है, इस बात पर किंचित मात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता है। हालांकि लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता की दृष्टि से आधुनिक काव्य की अत्यधिक विवेचना की जाती है लेकिन मध्यकालीन काव्यों में लाक्षणिक अभिव्यक्ति के इस प्रकार के रूप देखने को मिले हैं, जिनकी आधुनिक काव्य-शैली के प्रणेता कल्पना मात्र भी नहीं कर सकते। लाक्षणिकता की दृष्टि से फारसी तथा उर्दू में अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं, लेकिन फिर भी अर्थाभिव्यक्ति की गम्भीरता तथा गूढ़ भावों की रमणीय व्यञ्जना में हिन्दी की रीतिमुक्त रचनाएं अग्रिणी रही है। रीतिमुक्त कवि बोधा की अनेकशः उक्तियाँ इस बात की प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रस्तुत कथन अत्यधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि उर्दू के जिन लाक्षणिक प्रयोगों को बोधा ने अपने काव्य में ग्रहण किया है, उनमें इनकी अनुपम प्रतिभा की छाप लगी हुई है तथा इन प्रयोगों को जिन सन्दर्भों में विन्यस्त किया है, उनमें इनकी दृढ़ अनुराग प्रवृत्ति स्वतः स्पष्ट है। लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से बोधा के काव्य के कतिपय उदाहरण दृष्टव्य है ---

(क) उगलत बात बनैन सांप छछूंदर की कथा

मा0का0 कं0 पृ0 - 23

(ख) जनु उफनति हिये मोहन के रति वृषभानु - सुता की

मा0 का0 कं0 पृ0 - 7

(ग) मदन ज्वर माधवा बूड़ रह्यो

मा0 का0 कं0, पृ0 - 23

उपर्युक्त उदाहरणों में रेखांकित शब्द कार्य की एक विशेष प्रक्रिया के द्योतक हैं। अतएव यहाँ लक्षणा-व्यापार मुख्य रूप से उन पर ही निर्भर है। बोधा में इस प्रकार के प्रयोग घनानन्द की अपेक्षा बहुत कम हैं।

बोधा के काव्य में अर्थाश्रित लक्षणा के इस प्रकार के अनेक रूप उपलब्ध हैं, जिनमें एक साथ लक्षणा के कई शास्त्रीय रूप उपलब्ध होंगे। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम बोधा के काव्य के कतिपय उद्धरण यहाँ उद्धृत कर रहे हैं --

(1) कवि बोधा अजब मजा पाया जिन लूटी मिठाई की
इ.ना. पृ0 - 2/5

(2) विरही तन तूल भयो जरि है। इ ना पृ0 - 5/2

(3) यह प्रेम को पंथ हलाहल है इ ना पृ0 - 9/10

(4) सरोज रहे निसि बासर फूले सुभान सुभायन में इ.ना पृ0–2/26

(5) यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनौ है
इ ना.पृ0 - 1/3

(6) ग्रीषम तपन तेरी प्रीत मा.का.कं. पृ0–30

(7) मन मतंग उरझाने मा.का.कं. पृ0 - 63

(8) नैना भये बादल श्याम बरषत रहत आतौ याम मा.का.कं. पृ0–30

(9) द्विज के हिय लालच बेल बई मा.का.कं. पृ0–65

(10) आफताब लौ रही उदै कर बाल मा.का.कं. पृ0–65

(11) मेरो मन माणिक बिक्यो प्यारी तुव गुण हाट मा का.कं. पृ0 - 79

(12) क्यों पावे चित्त चैन विरह भुवंगम के डसे मा.का.कं. पृ0 - 109

(13) निशा सांवरी प्रेत की जाये जैसी मा का कं पृ0 - 134

बोधा ने वैपरीत्यार्थ पूर्ण सन्दर्भों में भी लाक्षणिक योजनायें प्रसतुत की हैं। वैपरीत्य मूलक लक्षणा का एक उद्धरण दृष्टव्य है -----

बोधा सुनीति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर हाऊं

इ.ना. 1/15

वस्तुतः बोधा में प्रणयगत वैषम्य की कमी के कारण लक्षणा की इस प्रकार की योजनाएं प्रायः पूर्णतः उभर नहीं पाई हैं। बोधा के काव्य में लक्षणा के स्वतन्त्र रूप की अपेक्षा उसका मुहावरा तथा लोकोक्तिपरक रूप ही प्रायः उपलब्ध होता है। ऐसा भी नहीं जा सकता है कि बोधा में उनके स्वतन्त्र प्रयोग का सर्वथा अभाव है। वस्तुतः उनका स्वतंत्र लक्षणा प्रयोग मुहावरागत लक्षणा की अपेक्षा कम है जिसमें शब्दाश्रित लक्षणायें कम तथा अर्थाश्रित लक्षणायें अधिक हैं। वैपरीत्यमूलक लक्षणा का बोधा में एक प्रकार से अभाव है क्योंकि उसके लिए कवि के परिवेशों में किसी न किसी प्रकार के वैषम्य का होना अत्यधिक आवश्यक है और बोधा प्रायः इस प्रकार की विषमता से मुक्त ही रहे। यही कारण है कि बोधा के काव्य में लक्षणा का यह रूप सर्वथा नगण्य ही रहा है। मुहावरे तथा लोकोक्ति परक लाक्षणिक प्रयोगों में रूढ़ तथा प्रयोजनवती दोनों के ही उदाहरण मिलते हैं। बोधा प्रायः इनके प्रयोग में विशेष सजग रहे हैं। उनके मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ जिस जीवन्त प्रसंग में प्रयुक्त हुई हैं। उसके द्वारा उनमें एक सद्यता तथा नवीनता अवश्य आ गयी है। स्वतन्त्र प्रयोगों की अपेक्षा लक्षणा का ऐसा रूप परम्परागत एवं रूढ़ होते हुए भी बोधा की शिल्प योजना का विशेष महत्वपूर्ण अंग है।

शब्द – योजना

बोधा के शिल्पगत उत्कर्ष का सच्चा रूप उनकी शब्दगत साधना में दृष्टिगोचर होता है। वर्ण मैत्री, शब्द मैत्री तथा अर्थ लावण्य सभी दृष्टियों से बोधा का काव्य सर्वोपरि रहा है। शब्दालंकृति की अतिशयता

ने कहीं कहीं काव्य के प्रकृत सौन्दर्य को विकृत करने में भी पर्याप्त योग दिया है, इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है। फिर भी बोधा के शब्द चयन की असामान्य कुशलता नाद सौन्दर्य की विवृति के सफल प्रयास तथा शब्दों की काँट-छाँट एवं छन्दानुकूल उन्हें सन्तुलित बनाने की सुष्ठु योजना की प्रशंसा आलोचकों ने सच्चे मन से की है। वास्तव में बोधा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता शब्द साधना में प्रस्फुटित हुई है। शब्द को खोजना, उसका शोधकर माँज कर प्रयोग करना, उसके अन्दर नाद सौन्दर्य अर्थ चमत्कार तथा उकित्य वैचित्रय भरना, आदि सब इनकी सामान्य विशेषता है। सच्चे अर्थों में बोधा विदग्ध एवं निपुण शब्द शिल्पी थे। इसी से उनकी सुष्ठु शब्द योजना की अनुकृति अन्य भाषाओं में प्रायः नहीं हो सकी है। संस्कृत तथा प्राकृत कवियों में भी शब्दों की ऐसी कारीगरी एवं कलाबाजी का नमूना सर्वथा अप्राप्य है।

संस्कृत बाङ् मय के माघ तथा भारवि की प्रशंसा करने वाले आलोचक भी बोधा आयास साध्य शब्दों के चयन, संगुम्फन वर्ण मैत्री तथा अप्रतिम नादान्वित की बलात् सराहना करने में थोड़ा भी संकोच नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ बोधा के काव्य के कतिपय छन्द दृष्टव्य हैं --

"त्रेता मांहि साजो एक धनु भृगुनन्द सोई
लीन्हयो रघुनाथ ने असुर बरियाने में
साजे द्वै धनुष नीके सीताजू के बालकन
कीन्हें जुद्ध भारी अस्वमेघ जज्ञ ठाने में
बोधा कवि द्वापर में धनुष धनंजै साजो
करने के कारन कठोर सर ताने में
कलऊ में कीनहें महाबीरन के माखे को
कठिन कमाने तेरी भौंह ये जमाने में।[1]

---

1 विरहवारीश - बोधा, पृ0 - 100

(ख) मदन सदन प्रानप्यारी को बदन ताकों
चाहि-चाहि सुधाधर धीर न धरतु है।
रहै निसिबासर समान अकलंक उर
संक सकलंक उर सोई मानि हहरतु है।
बोधा कवि नितप्रति नौतम कला कों धारि
मास मास यौं ही उपहासनु मरतु है।
परवा ते पूनों लौं सो जाबिो करत तैसे
पूनो ते कुहू लौं फेरि फोरिबो करतु है।[1]

(ग) हेरि हिरनाक्षी हारो चारहू दिसा में भारी
जिनके कटाक्षन सों पाहन सिला कटै।
तेऊ तो चुभै ना बोधा चक्र कुचकोरन के
जोरन हितू कै कोऊ मुख सों कहा रटै।
सुन हे सुभान हियो हीरा ते सरस ता
बियोग बज्र धाउन सों रंचक नहीं फटै।
खूबी के समाज ठौर-ठौर देखि आयो यार
पै ना दिलदार को या दरद कहूँ घटै।[2]

ऐसे छन्दों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि एक ओर जहाँ बोधा में नाद सौन्दर्य संवर्धन का प्रबल आग्रह है वहाँ दूसरी ओर इनमें विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग की व्यापक चेष्टा भी दृष्टिगोचर होती है। बोधा के ऐसे शब्द चयन तथा वर्ण मैत्री के व्यापक प्रयोग को देखकर ही पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने इसकी अत्यधिक शिकायत की है। वे इस काल की (रीतिकाल) की अनुप्रास प्रियता तथा शब्दालंकार के ऐसे विशद अनुरणन तथा नाद झंकृति से अधिक सन्तुष्ट नहीं है। 'पल्लव' की भूमिका में उनके एतद्विषयक उद्गार इस प्रकार हैं-

---

1. विरहवारीश – बोधा, पृष्ठ 100
2. विरहवारीश-बोधा, पृष्ठ 156

जहाँ भाव तथा भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों में 'बटु समुदाय' ही दादुरों की भाँति, इधर-उधर कूदतें फुदकतें तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं। ब्रजभाषा अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों आराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता हो उसका कहीं पता ही नहीं।[1]

यमक की चारुता बोधा के काव्य में देखते ही बनती है। संगीत्मकता मार्दव तथा काव्यात्मक सरसता से युक्त यमक का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

कारे सेत बर्न अनियारे भाल ही सृंगार
मारत जुरे तें ऐसे समराधिकारी हैं।
रहत सुरंग चाहैं सुर बहु नायकन
नित नव केलि करिबे को हितकारी हैं।
बोधा कवि चलत न मारग निबाह नाहि
नखर पाइ मारे चाह व्यभिचारी हैं।
दृग मृग एक रीति सों बखाने माने वे तौ
कानन बिहारी येऊ कानन बिहारी हैं।"

इस प्रकार बोधा ने अपनी सुन्दर तथा हृदयग्राही शब्द योजना के द्वारा अपने काव्य में एक अनुपम छटा विकीर्ण कर दी है, जिससे हिन्दी साहित्य हमेशा गर्व का अनुभव करता रहेगा।

शब्दालंकरों का प्रयोग

बोधा ने शब्दालंकारों का भी अपने काव्य में भली प्रकार प्रयोग किया है। इनके प्रयोगों से भाषा का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है। बोधा ने किसी अलंकार को दृष्टि में रखकर छन्दों की रचना नहीं

की वरन अलंकार स्वतः उसमें आ जाते थे। भाव से भरकर जब वे तीव्र अनुभूति को काव्यबद्ध करने का प्रयास करते हैं तो अलंकार स्वतः प्रस्फुटित हो जाते हैं। उनकी भाषा लेखनी से निकलकर स्वतः अनूठी तथा वैचित्र्यपूर्ण हो जाती है। शब्दालंकारों का अप्रतिम प्रयोग दर्शनीय है।

1. चित्र सुचित्र चितचाह दयो प्रिय ते।
केलि ख्लें बतरात न जाहि बखानते।।

विरहवारीश बोधा, पृष्ठ–46

2. दीपमालिका दर्सन कीन्हा।
दीपदान कामद कहँ दीन्हा।

विरहवारीश बोधा, पृष्ठ–86

3. कानन बिहारी येऊ कानन बिहारी हैं।

विरहवारीश बोधा, पृष्ठ– 101

4. सुकी कुसल कुसल पिय केरी।
बूझी बाल सहसहू बेरी।

बिरहवारीश बोधा, पृष्ठ–140

5. हम तौं तबही पहचानी हती चतुराई सबै चतुरानन की।

बिरहवारीश बोधा, पृ0 34

6. घूमधाम चाम दाम बाम बाजी खँचे आम।

7. सीतल मंद सुगन्ध बयारी।
तिरबिध तीन तापसम नारी।।

विरहवारीश बोधा, पृष्ठ–35

8. कछनी कछे सुरंग किकनी कर में झुन झुन बाजे।

विरहवारीश बोधा, पृष्ठ–30

अनुप्रास, यमक तथा श्लेष के इन सुन्दर प्रयोगों के द्वारा काव्य में स्वाभविक सुरम्यता आ गयी है। प्रसंगानुकूल भाषा वर्णन में इनका अभूतपूर्व योगदान है।

अर्थालंकारों का प्रयोग

शब्दालंकारों की भाँति ही बोधा ने अर्थालंकारों का भी सुन्दर चित्रण किया है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अतिशयोकित आदि लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमा अलंकार का एक सजीव चित्रण दृष्टव्य है–

हे द्विजराज मुखी सुमुखी अति। पीन कुचाहैं गरू गज की गति।।[1]

"कारे सटकारे बड़वारे केस जाके दोनों
भृकुटि पिनाक देह कुंदन सी गाई है।
कौलदल लाचन बिसाल मुख चन्द्रमा सो
अधर प्रबाल बानी पिक सी सुहाई है।
बोधा कवि सुंदर उरोज नारंगी से सोहैं।
नख अरू हथेरी सुबास अति छाई है।।"[2]

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार के कतिपय उदाहरण दृष्टव्य है –

"कीच के बीच रचै रसरीत मनो जुग जात चुक्यों तिहि बारी।"[3]

"डोलत लखि मुक्ता नासा में गरूड पक्ष के धोखे
उर कपाट की संधि रही जनु फुफु मारत डर ओखे।।"[4]

"जनु उफनाति हिये मोहन के रति बृषभानुसुता की।"[5]

"जनु पावस घ्नं स्याम मध्य यह बिज्जुघटा घहरानी।"[6]
"कछनी कछे सुरंग किंकनी कर में झुन झुन बाजै।
जनु बसंत किंसुक फूलन पर भ्रमर समूहन राजै।"[7]

---

1 विरहवारीश – बोधा, पृ0 – 46
2. विरहवारीश – बोधा – पृ0 – 72
3. विरहवारीश – बोधा, पृ0 – 133
4. विरहवारीश – बोधा, पृ0 – 29
5 विरहवारीश – बोधा, पृ0 – 29
6 विरहवारीश – बोधा, पृ0 – 29
7 विरहवारीश – बोधा, पृ0 – 30

अष्टम - अध्याय

अष्टम अध्याय

बोधा की काव्य भाषा में छन्द लय :-

(क) लोकोक्तियाँ और मुहावरे

बोधा का व्यक्तित्व मुहावरों की अपेक्षा लोकोक्तियों में अधिक प्रकट हुआ है, क्योंकि लोकोक्तियों का अप्रस्तुत तथा बिम्ब रूप मुहावरों की लाक्षणिकता की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्षपूर्ण होता है। ठाकुर की भाँति बोधा भी राज दरबार के सम्पर्क में अन्त तक बने रहे। अतएव उनके विशुद्ध प्रेमी रूप के अतिरिक्त उनके लोक-निष्णात् नीतिकार का रूप भी उनकी कृतियों में उपस्थित हुआ है। इन दोनों रूपों के दर्शन बोधा की लोकोक्तियों में होते हैं।

प्रेम व्यञ्जनापरक लोकोक्तियाँ :-

बोधा की प्रेम व्यञ्जनापरक लोकोक्तियों में प्रणय विषाद, प्रतिबद्धता, निवार्ह, अनन्यता, सहनशीलता, विडम्बना, भय, विकल्पहीनता तथा इन सबमें व्याप्त आकुल अन्तस् की तीखी टीस, ऊसर उर को चीर कर घँस जाने वाली अखरन आदि की वैशद्यपूर्ण व्यञ्जना मिलती है। उनका सर्वथा, निर्भीक, साहसी तथा प्रेमी मन एकनिष्ठ प्रणय-संकल्प इनमें

एक शाश्वत चेतना के रूप में विद्यमान है, जो उनकी सृजन–प्रक्रिया को निरन्तर गतिशील रखती है। इसी कुलाल चक्र पर इस लोकोक्तियों का निर्माण हुआ है। अतएव अभिव्यञ्जना की दृष्टि से इनका संयोजन अत्यन्त समीचीन है।

लोकोक्तियों के सम्पूर्ण शक्तिकोष को पूरी तरह विदोहित कर बोधा ने अपनी भाषा को सींचा है। उनमें अन्योक्ति तथा दृष्टांतपरकता है, अप्रस्तुत का आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार का सादृश्य है। उनकी बिम्बात्मकता भी अत्यन्त समृद्ध है। लक्षणा का विविध सादृश्य तथा व्यञ्जना की अर्थ–ध्वनि उनमें विशेष मात्रा में विद्यमान हैं।

बोधा की लोकोक्तियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं ––

(1) अरी प्रीति की रीति हो तौ न जानी, भई री हफा सेठ कैसी कहानी
– मा0 का0 कं0 पृ0 – 136

(2) अरू पीर घटे तजि धीर सखी दुख को नहीं कापै बखानतु है
– इ0 ना0 1/18

(3) आँखिन देखी जो बान तिन्हें बन आंखिन सो न जुबां हय बूझै
– इ0 ना0 2/25

(4) इश्क सहित मरिबो भलो – माधव का0 कं0, पृ0 – 85

(5) एक ही ठौर अनेक मुशक्किल यारी कर प्यारी सो प्रीति को निबाहिबो।
– मा0 का0 कं0 – पृ0 – 4

(6) और अनेक मिले तो कहा नर सो न मिल्यौ मन चाहत जाकौ
– इ0 ना0 1/23

(7) कठिन पीर कहिबे की नहीं सहिबे ही बनि आई – इ0 ना0 4/9

(8) कदाचित जाने वहै वहि के जिय में जिन वेदन बोई – इ0 ना0 4/11

(9) करिबो और निबाहिबो बड़ी कठिन यह बात —इ० ना० 1/15

(10) का करैं लैके सिखापन को जिय जाहि को आपने हाथ न होई
—इ० ना० 2/11

(11) जल प्यावत प्यासो मैठ अनप्यावत अपराध
— मा० का० कं०, पृ० – 111

(12) जान मिले तो जहान मिलै, नहि जान मिले तो जहान कहाँ को
– इ० ना० 2/2

(13) जाहि को जाके हितु ने दई वह छोड़े बने नहि ओढ़ने आवत
—इ० ना० 1/20

(14) जिन के लगो न सो पा पीर जाने घायल की
– मा० का० कं० पृ० – 51

(15) जीरन जामा की पीर हकीम जी जानत है मन की मन भावत
– इ० ना० 2/14

(16) जोन मिलो दिल माहिर एक अनेक मिलैं तो कहा करिये लै
– इ० ना० 1/21

(17) तब खूब इश्क बोधा, आसिक जब महिरबान महबूब मिलै
– इ० ना० 1/21

(18) तुम होठ सबै महारानी अबै हम तो अब राम दिवानी भई
– इ० ना० 2/29

(19) तेरे लिए सुनि बालम मेरे ये दरेरे कहैं .... सब लोग दिवानी
– इ० ना० 2/19

(20) दिलदार पै जो लौं न भेंट भई तब लौं तरिबो का कहावतु है

– इ० ना० 2/39

(21) दिलबर होय तासों दिल की बखाने ....

– मा० का० कं० पृ० – 51

(22) धनि वेइ प्रिया या वसन्त समय, छतियां लग कंथ की जो रहतीं

– मा० का० कं० पृ० – 145

(23) नाह के नेह मथाह न कीजै – इ० ना० 5/5

(24) मालती एक बिना भ्रमरी इतै कोऊ न जानत पीर हमारी

– इ० ना० 4/16

(25) प्रहलाद की ऐसी प्रतीति करै तब क्यों न कढ़ै प्रभु पाहन तें

– इ० ना० 1/19

(26) प्रीति करे पुनि और निबहै सो आशिक सब जगत सराहें

– मा० का० कं० पृ० – 5

(27) प्रेम ते नेम कहा निबहै अब तौ यह नेह निबाहिबे ही परो

– इ० ना० 3/40

(28) यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है

– इ० ना० 1/3

(29) यह प्रेम को पंथ हलाहल है सुतौ वेद पुरानऊं गावत है

– इ० ना० 1/10

(30) के दिल जानौ आपुनौ की दिलबर दिलजान

– मा० का० कं०, पृ० – 91

(31) लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैडे परै जनि करेऊ

– इ0 ना0 1/14

(32) विष खाइ मरै के गिरै गिरि ते दगादार ते यारी कभी न करै

–इ0 ना0 2/35

(33) सो प्रीति निबाह करै घर ऊपर जाके नहीं शिर होइ

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 23

(34) हम को वह बारी भई माया मिले न राम

– मा0 का0 कं0, पृ0– 90

(35) हम राम दोहई न झूठी कहैं यह प्रीति सो मौत तरै पै तरै

– इ0 ना0 1/4

(36) हमे पूरी लगी के अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है

– इ0 ना0 1/18

(37) है जो लगी या दिलंदर में कवि बोध सु तौ न किसू पहिचानी

– इ0 ना0 2/19

नीतिपरक लोकोक्तियाँ :–

नीतिपरक लोकोक्तियों में उनके व्यक्तित्व का जागरुक रूप उभरता है, जो घनानन्द में सबसे कम है और ठाकुर में सबसे अधिक। बोधा में इसका सीमित रूप है, परन्तु इतना अवश्य ध्यान देने योग्य बात है कि बोधा की ऐसी नीतिपरक लोकोक्तियाँ भी उसी प्रणयचालित, सृजन

प्रक्रिया की उपज है, जिसने प्रेम व्यञ्जनापरक लोकोक्तियों को सुनियोजित किया है। वस्तुतः जहाँ कोई लोकोक्ति आत्मगत और वैयक्तिक बन गई है, वहाँ वह प्रेम व्यञ्जनापरक है, और जहाँ कुछ सामान्य बन गई है, वहाँ नीतिपरक लगती है, अन्यथा उनकी समस्त लोकोक्तियाँ प्रेम की एक ऐसी ही ध्वनि से अनुगुंजित हैं। प्रणय के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर कवि ने जो अनुभूतियाँ संग्रहीत कीं उन्हें सर्वसाधारण रूप दे, नीतिपरक बना दिया है।

बोधा ने नीतिपरक लोकोक्तियों में जिन पक्षों का विवेचन किया हे उनमें जगतरीति, निरन्तर उपेक्षा, लोक मर्यादा, पारिवारिक नीति, विश्व प्रपंच, मैत्री, धूर्तता, गुणवत्ता, दरबारी नीति, समयानुसारता आदि विशेष उल्लेखनीय हे।

लोकोक्तियों के संचयन कार्य में बोधा की कुशाग्रता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती हे। उनकी सम्भावित व्यञ्जनाओं तक को भी बोधा ने प्रयुक्त किया हे। उनकी प्रकृति ओर स्वरूप के अनुकूल सन्दर्भों में ही उन्होंने संग्रथित किया गया हे। इस प्रकार की सुनियोजित एवं शिल्पात्मक सिद्धि अभिव्यञ्जना की महती उपलब्धि हे–

(1) अंजनी कुंवारे जने सुत को सिगरे जग में उपहास भई हे।

–मा0का0 कं0, पृष्ठ –118

(2) अबला कोने वश करी योगी काके मीत

–मा0का0क0, पृ0 53

(3) आपको न चाहे ताहि आप हून चाहिए। –इ0ना01/24

(4) एक बेर मरने परो बोधा यह संसार

–मा0का0कं0, पृ0–114

(5) ऐसो न कोउ मिल्यो कहे कछु रंच दया उर लाइके

–इ0ना0 2/16

(6) कथि के कथान खण्डित राखो —मा0का0क0 पृ0 सं –6

(7) कपिला नहिं कूटिये हरहाइन के दोष

—मा0 का0 क0, पृ0–69

(8) करक के करी पाउं की क्यों खर दागे जात

—मा0का0क0, पृ0 –69

(9) करन वार कर में रही तेरी करी प्रमान

—मा0का0कं0, पृ0–129

(10) कहनावत सांची भई पुीराचीन यह ईठ,
सजना–सजना ठुर मिले झूठे झूठ बसीठ

—मा0का0कं0 पृ0– 129

(11) कहा राज करियें ले स्वामी जोन घटे दिल की बेरामी

—मा0का0कं0, पृ0 102

(12) कहा सिंह गजराज की बलिन देवता लेत

—मा0का0कं0, पृ0 –42

(13) काम करावे हार में विष बनियां पर खांय

—मा0का0कं0 पृ0–39

(14) कालहि जित सक्यो न कोई —मा0का0कं0 पृ0 – 114

(15) काहू के न जेहों जेहों आदर पेहों

—मा0का0क0, पृ0 93

(16) गंगा के नीर की आशा करे सरिता जल छोड़े

—मा0का0कं0 पृ0–71

(17) गहिये मुख मोन भई सो भई अपनी करि काहू सो सा कहिए

—इ0ना0 2/2

(18) घिव प्यारे मरि जाय लकरिया भावत घुन को

—मा0का0कं0, पृ0–99

(19) घटे कीमत बोधा जो माल फिरे बजिके व्यापार में टूट ठई

इ0ना0 1/19

(20) घटे मान दरबार में प्रकट न कीजे मित्र

–मा0का0कं0, पृ0 –45

(21) जब सुत के घर आवत नारी विष समान सूझत महतारी

–मा0का0कं0, पृ0 – 133

(22) जल की बाढ़ी पियूष पिवाया मा0का0कं0, पृ0–30

(23) जबान बड़े नर की मुख सो निकसे वह फेरि फिरे ना

–मा0का0कं0, पृ0–103

(24) जाहिर जग में हों न आशिक की बेवाकिफी

–मा0का0कं0, पृ0–23

(25) जिन प्रेम मुकाबले पीठ दई नर ते जग बीच जिये तो कहा

–मा0का0कं0 पृ0–10

(26) जोई है सोई है............मुख से निकसे उपहास बढ़ावत

–मा0का0कं0, पृ0–108

(27) जो कदापि बिछुरे प्रिया मरे कि रोगी होय

–मा0का0कं0–88

(28) जो धनु है तो गुनी बहुते अरु जो गुन है, तो अनेक हैं गाहक

–इ0ना0 5/1

(29) दये को दान न दे भिख को यतन बिचारे

–मा0का0कं0, पृ0–44

(30) दृक लार्ग लोक अचरज सो लागत

–मा0का0कं0, पृ0–99

(31) धन बिनु पावत मान अति गुणमय पुरुष प्रवीन

–मा0का0कं0, पृ0–59

(32) धूर्त नरन की रीति यह बहुत बजावत गाल

–मा0का0कं0, पृ0–39

(33) धोबिन सों जीते नहीं मलत खरी के कान

–मा0का0कं0, पृ0–39

(34) निगम कही यह रीति चित बित दीजे पात्र को

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 100

(35) नेह करे का जात सब कोउ सबसे करें –मा0 का0 कं0, कृ0 –80

(36) परखइया को खोर का घर को खोटो दाम

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 39

(37) पाटी निरबक सार की कहत गढ़ी किहि होत

बालक सों फोरवाय के दोष बढ़इये देत

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 39

(38) पीर पराई लखत न कोई जाके लगी जानत हे सोई

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 99

(39) प्रसुत पीर बन्ध्या क्या जाने – इ0 ना0, पृ0 – 4/10

(40) प्राप्त यदपि कुसंग तदपि सुसंग न छोड़िये

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 72

(41) वाईस चूकें विप्र की माफ कहत संसार

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 86

(42) पाप्त यदपि कुसंग तदपि सुसंग न छोड़िये

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 72

(43) भये लखि सावन के अंधरे नर को सुहरो हरो सूझै

– इ0 ना0 2/25

(44) मरे साथ मर जात न कोई – मा0 का0 कं0, पृ0 – 113

(45) मित्त सहित मरिबो भलो कीन्हें नरक निवास

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 101

(46) भूख नर न जाने यारी – मा0 का0 कं0, पृ0 – 92

(47) मुकता वे अजान ते जोहरी जानत है —इ0 ना0 4/11

(48) या ते भले मुख मोन धरें उपचार करें कहं औसर पाइके
— इ0 ना0 2/16

(49) राजन के दरबार में चुगलन को इतबार
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 40

(50) रूसे कोई मनाइये सर्वस कहिये देन — ना0 का0 कं0, पृ0 - 113

(51) लाग गई तब लोक की लीक न आवत कान
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 99

(52) लेखि राख को काहि कब कोप करे क्षिति पाल
—मा0 का0 कं0, पृ0 - 72

(53) लोक हँसी परलोक नसाई — मा0 का0 कं0, पृ0 - 75

(54) वनिता को वश कहा पुरुष अपलोक लगावे
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 44

(55) वहे सरस जासो मन मानो —ना0 का0 कं0, पृ0 - 98

(56) विद्या अरू वित्त प्रकट कीजे कारज लगि
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 22

(57) व्यभिचारी व्यभिचारी चाहत, ज्वारी ज्वारी प्रीति निबाहत
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 100

(58) शिला गिरे जो सरग ते तो का करें प्रवीन
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 39

(59) शीश ईश पर वारि के मिलो मित्र को आन
— मा0 का0 कं0, पृ0 - 82

﴾60﴿ सन्यासी दीजे छुरी यह तो भली न जान

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 69

﴾61﴿ समय पाय बन जाय कीजे सो उपाय

–मा0 का0 कं0, पृ0 – 23

﴾62﴿ समयो परि कोन को को न गए –इ0 ना0, पृ0 – 4/12

﴾63﴿ सुजन वियोगी रोगी महाराज पंडित

निधन धनवंत मति माती हे

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 112

﴾64﴿ सुनि निबाहत जगत में बाँह गहे की लाज

–मा0 का0 कं0, पृ0 – 9

﴾65﴿ सेवक का वश कहा गुसा साहिब फरमावे

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 44

﴾66﴿ सो का करे मान सिखापन जिय जाही को ...... हाथन होई

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 102

﴾67﴿ हजरत नबी कही थी आगे सोकुरी काजी को लागे

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 27

﴾68﴿ हजरत नबी कहर फरमाया कानी को कानी वर आया

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 27

﴾69﴿ हटपाटाय के ल गत हें ओछे पिंडे भूत – मा0 का0 कं0, पृ0 –43

﴾70﴿ हे उद्योग की यह रीति पानी पानि सों नहीं प्रीति

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 26

(71) होनहार को करिये का धो — मा0 का0 कं0, पृ0 – 144

(72) होनी प्रथम जात हे पाछे दोरत चित्त — मा0 का0 कं0, पृ0 – 111

मुहावरा

कवि बोधा के मुहावरों का अध्ययन उनकी सृजन–प्रक्रिया तथा प्रयोग दृष्टि के सन्दर्भ में किया गया है। वस्तुतः बोधा ने **"निर्वासित यक्ष"** की सी विरह पीड़ा को भोगा था। उस शापित–किंकर ने भी **"राम–गिरि"** पर दण्ड के दिन काटे थे। ऐसे प्रेम रूप कवि की सृजन प्रक्रिया निश्चित ही निसर्ग गति से चालित रही होगी। अतः बोधा ने मुहावरों का पयोग वाक्यातुर्य के लिए नहीं प्रत्युत प्रेम–व्यञ्जना की विशद् अभिव्यक्ति के लिए ही किया है। उनके मुहावरों में उनके विरहमंथित अन्तस् की आर्द्रता मिलती है, जो उनकी अनेक मनः स्थितियों की व्यञ्जना है। वस्तुतः मुहावरों में उनके मन के हाहाकार करुण क्रन्दन ओर विवश घुटन की अभिव्यक्ति हुई है। यही कारण हे कि उनके अधिकाँश मुहावरें आँख ओर दिल से ही सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि पणय–व्यापार में इन ज्ञानेन्दियो का ही सबसे अधिक महत्व है। बोधा के मुहावरों में उनका आत्म–भुक्त ध्वनित होता है। वे अनुभूत्यात्मक विकास की सान पर चढ़ कर आते हैं, जिसमें पेनापन, चमक और अर्थवत्ता आदि सभी गुण एक साथ मिल जाते हैं। वे शुद्धानुभूति की उदात्त परिणतियाँ हैं। अतः बोधा के मुहावरे सृजन–प्रक्रिया की उपज है, जिनमें आत्मानुभूति की प्राण चेतना स्पंदित रहती हे तथा "ऐतिहासिक धरातल का एक शुद्ध दर्द भी बोलता है।"[1]

बोधा के मुहावरे उनके व्यक्तित्व की प्रखर किरणें हैं जिनके द्वारा वह अपने अनुभूत एवं आत्मिक का निर्भीक प्रकाशन करते हैं।

1. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृ0 – 435

उनमें उनके प्रणय की ससाहस स्वाकारोक्ति है। किंचित् मात्र भी दुराव, छिपाव नहीं है। ऐसी निश्छल तथा अवगुंठनहीन अभिव्यक्ति इस धारा के अतिरिक्त अन्यत्र सुलभ नहीं। बोधा ने इस कार्य के लिए मुहावरों की विशद् लाक्षणिकता को स्वीकार किया है, जो उनके अन्तर्द्वन्द्व को उद्‌घाटित करती है। लक्षणा के विविध रूप इनमें प्रकट हुए हैं।

कतिपय विद्वानों ने बोधा पर उर्दू-फारसी के अन्धानुकरण का आक्षेप लगाया है जो कि सर्वथा समीचीन नहीं। बोधा ने इससे मुक्त होने के सफल प्रयास किए है, जिनका रूप उनके मुहावरों के रूप परिवर्तन मे मिलता है। वे विजातीय मुहावरों की काया परिवर्तित करते हैं परन्तु उनकी पकृति, लाक्षणिकता तथा व्यञ्जना में अंतर नहीं आया है। यही बोधा के प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता है।

मुहावरों के प्रयोग में बोधाके अन्दर ठाकुर का सा सुन्दर शिल्प नहीं है, लेकिन वह पेने तथा प्रखर अधिक हैं। संभवतः इसलिए कि बोधा के मन में प्रणय का जैसा गहरा विषभरा दंश लगा था वैसा ठाकुर के मन में नहीं। यही कारण है कि ठाकुर अपने प्रयोग में अधिक सतर्क एवं सजग हैं और बोधा में इसका अभाव है। वास्तव में घनानन्द और बोधा में एक प्रकार की मस्ती और फक्कड़पन था। घनानन्द ने फारसी प्रभावों को पूरी तरह पचाया और अपनी अभिव्यञ्जना में **"नेजे"** कटारी और **"कुरबान"** वाली बाजारी ढंग की रचना[1] के दर्शन होते हैं। इस प्रकार इस्लामीय भावुकता का घनानन्द में अत्यन्त उदात्त रूप है। जिसने उनके मुहावरा प्रयोग को बोधा के मुहावरा प्रयोग से अधिक विशद् बना दिया है।

मुहावरों के अनायास प्रयोगों के द्वारा बोधा ने अपनी भाषा में अर्थवत्ता भर दी है। साधारण भाषा के द्वारा प्रणय की अत्यन्त गम्भीर व्यञ्जना करना बोधा के ही वश की बात थी। इन मुहावरों में अभिव्यञ्जना शिल्प

---

1. आ० शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ﴾वि०सं० 2002﴿, पृ०-323।

की अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की ऊर्जा मिलती है। निम्नस्थ मुहावरों में बोधा के मुहावर प्रयोग की उपर्युक्त सभी विशेषताएं मिल जायेंगी --

(1) अंक भरना

तब तिही बाल अंक भर लीन्हा —मा0 का0 कं0, पृ0-133

(2) आँख लगना

बड़ी आँखे तिहारी लगे ये लला लगि जैहैं

कहं तौ कहा करणी – इ0 ना0 2/18

(3) आँख कसना

तिनको कल कैसे परै निरदै जिनकी हैं

कुसांगरें आँख कसी —इ0 ना0 2/10

(4) आँख लगे की प्रीति

दीपक और पतंग की आँख लगे की प्रीति —मा0 का0 कं0, पृ0 -3

(5) आंख चुराना

दुहुन दुहुन को नयन चुराय —मा0 का0 कं0, पृ0- 133

(6) आँखे भर आना

भरि आये दोउ नैन गैह आइ ठोक लग्यौ —मा0 का0 कं0, पृ0-93

(7) आँखे लगना

मन ध्यावत है, तोहि दृग लागै तुव बाट में

– मा0 का0 कं0, पृ0 – 91

(8) आँखे परखना

हनुमान नजीकी रहैं कर जोर भुवै परखैं – इ0 ना0 4/4

(9) आँखे वारना

चाहिए सुख तो लौ रहे दुख के दृग वारियै —इ0 ना0 3/2

(10) आल लगाकर पानी को दौड़ना

व्यभिचारी ज्वारी ..... आग लाई पानी को धावै

— मा0 का0 कं0, पृ0 – 41

(11) काम पड़ना

तासों बिछुरन परत ही परत राम सों काम

— मा0 का0 कं0, पृ0 – 4

(12) काठ में पांव देना

हंसि के दीन्हों काठ में आपने आप

— मा0 का0 कं0, पृ0 – 24

(13) काम बनाना

लाज सो काज कहा बीन है। बृज राज

सो काज बनाइबे ही है — इ0 ना0 3/4

(14) कुलकानी छोड़ना

सूनौ विप्र को ज्ञान कुल कान छांड़ी — मा0 का0 कं0, पृ0 – 34

(15) खाट के लगना

मदन दहत मोहि न पचि लाग्यो खाट में

— मा0 का0 कं0, पृ0 – 1

(16) गाँठ पड़ना

उर अन्तर प्रेम की गांस गसी — मा0 का0 कं0, पृ0 – 101

(17) गुड़ के भाव बिकना

बनिये घर बोधा बिके गुर को — इ0 ना0 4/11

⟬18⟭ गाल बजाना

धूर्त नरन की रीति यह बहुत बजावत गाल

— मा0 का0 कं0, पृ0 – 39

⟬19⟭ चैन पड़ना

तिनको कल कैसे परै निरदै निकी है

कुसांगरे आँख कसी — मा0 का0 कं0, पृ0 – 101

⟬20⟭ जीभ चलाना

दुनिया सब मास की जीभ चलावत — इ0 ना0 1/20

⟬21⟭ तलवार की धार पर चलना

यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की

धार पै धावनो है — इ0 ना0 1/3

⟬22⟭ दाँत बजना

बजे दांत जिमि बजत बधायी — मा0 का0 कं0, पृ0–143

⟬23⟭ दिल अपने हाथ न होना

का करैं लेके सिखापन को जिय

जाहि को अपने हाथ न होई — इ0 ना0 2/11

⟬24⟭ दिल का हिलना

निज पातन सों हियरो न हिलो — इ0 ना0 4/28

⟬25⟭ दिल को खोलना

है न कुछ पहिचान निज जिय की खोलें नहीं

— मा0 का0 कं0, पृ0–137

⟬26⟭ दिल में धरना

बजाइ के प्रीति करै यह आतम ज्ञान हिये में धरै

— इ0 ना0 1/4

(27) दिल में रखना

अब फेरि के ऐसी न चित्त धरीजै — इ0 ना0 5/5

(28) दिल में बसना

निसी वासर नींद और भूख नहीं जब

तें हिय में यह आन बसी — इ0 ना0 2/10

(29) दिल में न लाना

जब तें बृजराज को रूप लख्यौ तब

ते उर और न आनतु है — इ0 ना0 3/4

(30) दिल में आग लगना

पीठ पीठ चातक रट लागी

विरही हिये लगावत आगी — मा0 का0 कं0, पृ0 – 137

(31) दिल लगना

परवाह हमारी न जानै कछु मुन जाय

लग्यौ कहु कैसे करौ — इ0 ना0 2/24

(32) द्वार खड़ना

द्वार में प्यारौ खरौ कब को — इ0 ना0 5/5

(33) धीरज धरना

स्याम घटा उनई लखि के मन धीर धिरातो नहीं — इ0 ना0 2/1

(34) नख से शिख तक

नखहू शिख लौ विष सो भरि हैं — इ0 ना0 2/21

(35) नैन जुड़ना

माधो के कंदला के झपट गए जुरि नैन —मा0का0 कं0, पृ0–61

(36) बात न बोलना

वीणा लिए नगर में डोले दिल

अन्दर की बात न खोले — मा0 का0 कं0 पृ0 – 22

(37) भौंह चढ़ाना

सदा भौंहे चढ़ाये रहे ननदी — इ0 ना0 2/18

(38) मन की मन में रखना

बोधा इतै पै हितू न मिले मन की

मन ही में पचे रहिये —इ0 ना0 3/2

(39) माथे मढ़ना

परले बृजराज के माथे मढ़े — इ0 ना0 1/7

(40) सिर चढ़ना

तब काहे न संभु के सीस चढ़ै — इ0 ना0 1/7

(41) सिर फोड़ना

दीपक संग पतंग आप नाहक सिर फोरता —मा0का0 कं0 पृ0–2/5

(42) रंग छाना

हिये लाग पी घनै रंग छावै — मा0 का0 कं0 पृ0–139

(43) हाथ न आना

स्वारथ और परमारथ को ...... तेरे कछू

हाथ न ऐहैं —मा0का0कं0 पृ0–144

(44) हाथ बिकना

बरहू बटमार के हाथ बिकाने — इ0 ना0 4/5

कुछ अन्य अलंकारों के उदाहरण दृष्टव्य है --

"प्यारे जैतवारे के बरैया कुच दोनों मल्ल
जुद्ध के करेया कहूँ टारे न टरत हैं।
सुभअ विकट जुरे जंघे बलवान ते तो
भुजन सों लपटि न नेकु बिहरत हैं।
बोधा कवि भृकुटी कमान नैना बानदार
तीक्षन कटाक्ष सर सेल से परत है
दंपति सो रति के बिहार बिहरत तहाँ
घायल से पायल गरीब बिदत है।"[1]

"महाकाल कैधों महा कालकूटे।
महाकलिका के किधो केस छूटे।
किधों धूमधारा प्रलैंकालवारी।
किधों राहुरूपे किधों रैन कारी।।[2]

"तीक्षन कटाक्ष याके विष सों सँवरि जाने
रंचक चितोन में सुरंग किये कार्‌यो है।"[3]

इस प्रकार बोधा ने अर्थालंकारों के सफल प्रयोग द्वारा **विरहवारीश** का वेशिष्टय द्विगुणित कर दिया है। उनका अर्थालंकार विषयक प्रयोग सर्वथा श्लाघनीय है।

(ख) छन्द योजना :-

कवि बोधा ने जिन वार्णिक तथा मात्रिक छन्दों का प्रयोग अपने काव्य में किया है, उनमें से प्रमुख छन्दों का विश्लेषण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है -

---

1. विरहवारीश - बोधा, पृ0 - 118
2. विरहवारीश - बोधा, पृ0 - 202
3. विरहवारीश - बोधा, पृ0 - 102

वार्णिक छन्द :-

वार्णिक छन्दों के अन्तर्गत बोधा ने रोला, कवित्त, तोटक, दोधक, प्रमाणिका, भुजंग प्रयात, मोतियादाम, सवैया, संयुता आदि छन्दों को विशेष रूप से अपनाया है। वार्णिक छन्दों का विवरण इस प्रकार है -

रोला :-

रोला के प्रत्येक चरण में सगण, जगण, नगण तथा यगण का विधान रहता है। पाँच तथा दस पर यति पड़ती है।[1]

"सुनि माधो के बेर बिप्र आदर अति कीन्हों
नमस्कार करि जोर उच्च आसन पुनि दीन्हों।[2]

विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इस छन्द में उसकी शास्त्रीयस वेधानिकता का अतिक्रमण ही नहीं प्रत्युत पद दलन हुआ है।

जन्म संघाती चार, यार सदार मोतो	7 + 8 = 15
बिछुरे रिसाई मिला, भेंट होत तन में	7 + 7 = 15
एके सतरात एके, दूर खड़े थहरात	8 + 8 = 16
सके होन देखे जात, गये कोन वन में	8 + 7 = 15
बोधा कवि चलउ ज्जेन नगरी को मेरे	7 + 8 = 15
दारिद सनेही सोहि, ...राय गयो बन में	8 + 7 = 15
रोगु गयो डेराते, बियोग गयो मारते	7 + 8 = 15
योग जान हार भयो, संजोग आयो मन में[3]	8 + 8 = 16

---

1. केदार भट्ट, व्रत्तरत्नाकर, तीसरा अध्याय, सं0 86
2. मा0 का0 कं0, पृ0 - 87-88
3. मा0 का0 कं0 पृ0 - 97

प्रस्तुत उदाहरण के विषम चरणों में अक्षर संख्या 30–30 है तथा 15–15 पर पूर्ण विराम है, प्रत्येक विषम चरण में 7–8 की यति उज्जेन शब्द को तोड़ देती है, जो उचित नहीं। सम चरणों में 31–31 अक्षर है। 15 या 16 के बाद विराम है तथा 8–8 के बीच यति योजना है। कवित्त में 31–32 और 33 अक्षरों का विधान तो शास्त्र सम्मत है लेकिन 30 अक्षर का विधान प्रचलित नहीं है। 31 अक्षरी को मनहर कहा गया है। बोध ने प्रस्तुत कवित्त में 30 और 31 अक्षरों की योजना को बोधा घनाक्षरी कहने की बात उठ सकती है। परन्तु कवित्त मे प्रकृति परिवर्तन ओर शिल्पात्मक गठन में जो योगदान देव ने दिया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बोधा की सभी रचनाओं में 7–8 से अधिक कवित्त ही नहीं मिलते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में तन में वन में, ओर मन में का अन्त्यानुप्रास भी है ओर प्रत्येक चरण में स्वतन्त्र अनुप्रास योजना भी है, जो लय को जन्म देती है। लेकिन इसमें घनानन्द के कवित्तों जेसी नाद योजना और शिल्पात्मक गठन का अभाव है।

तोटक :–

तोटक छन्द में प्रत्येक चरण में चार सगण होते हैं। बोधा ने कहीं–कहीं इसका सफल प्रयोग किया है –

"गजगामिनि कामिनी बाम वरं, सख दायक मो हियपीर हरं।[1]

दोधक :–

दोधक के प्रत्येक चरण में तीन भगण और अन्त में दो गुरू होते हें। बोधा इसका सफल निर्वाह नहीं कर पाये हें ––

---

1. मा0 का0 कं0, पृ0 – 28

"माधव ने कर बीन लियो जब, राज सभा यह हाल भयो तब।[1]

उपरोक्त दोनों चरणों में चार–चार भगण तो हैं, अन्त में दो–दो गुरू नहीं आ पाये हैं। कहीं–कहीं बोधा ने भगण योजना का भी अतिक्रमण किया हे ––

"हार सिंगार सिंगार हि सुंदर, क्यों न बसे तिय छेल दिलंदर।[2]

चरण के पूर्व भाग में रगण ओर उत्तर भाग में भगण की योजना से दोधक का रूप विकृत हो गया है।

प्रमाणिका :–

प्रमाणिका के प्रत्येक चरण में जगण ओर रगण तथा अन्त में लघु गुरू होते हें। बोधा में इसका सफल और असफल प्रकार का निर्वाह मिलता है ––

कठोर कोकिला ररे, पपीहरा हियो हरे।[3]

नीचे दिये उदाहरण में प्रमाणिका की वेधानिकता का उल्लंघन हुआ हे ––

"न सेठ आज बड़ी, जेठन करीरी।[4]

पथम चरण में चरण के स्थान पर भगण आया हे। चरणांत मे केवल गुरू आया है, जबकि विधान लघु – गुरू दोनों का है। दूसरे चरण में जगण ओर रमण के स्थान पर भगण ओर रगण प्रयुक्त हुए हैं। चरणांत में लघु गुरू में से कोई भी नहीं आया है।

---

1. मा0 का0 कं0, पृ0 – 67
2. मा0का0 कं0, पृ0 – 21
3. मा0का0 कं0, पृ0 – 145
4. मा0का0 कं0, पृ0 – 134

भुजंगप्रयात :—

इस छन्द के प्रत्येक चरण में चार यगण रहते हैं। बोधा ने इसका समुचित निर्वाह किया है —

दिशा चार हों पौन को चक्र धावे,
कहूँ कोकिला कूकि के लाई लावे।[1]

भुजंगी :—

भुजंगी के प्रत्येक चरण में तीन यगण तथा एक लघु गुरू होता है। बोधा ने उसका असफल संयोजन किया है।

"गही बाल की हाल ही पीन छाती,
भई अंक नेको हिये यों डराती।[2]

वस्तुतः बोधा ने भुजंगी का प्रयोग भुजंग प्रयात के रूप मे ही किया है जो कि संगत नहीं है।

मोतियादाम :—

इसके प्रत्येक चरण में चार जगणों का विधान है। बोधा ने इसके पयोग में अपेक्षित सजगता दिखाई है —

गई अपने घर को वह बाम, भई, तब ही अति कोपित काम।[3]

सवेया :—

सवेया का वेधानिक रूप घनानन्द के प्रसंग में प्रस्तुत किया जा चुका है। बोधा ने सवैया का सर्वथा असंतुलित रूप मिलता है। उनकी

---

1. मा0का0 कं0, पृ0 – 145
2. मा0का0 कं0, पृ0 – 77
3. मा0का0 कं0, पृ0 – 24

रचनाओं में शायद ही कोई ऐसा सवेया मिले, जो सर्वथा शुद्ध हो। बहुधा उनके सवेये सगणाश्रित और भगणाश्रित ही हैं।

सगणाश्रित :-

दुर्मिल में पत्येक चरण में आठ सगणों का विधान हे -

रितु पावस स्यम घटा घनई लखि के मन धीर धिरातो नहीं।[1]

उपरोक्त उदाहरण में 7 सगण और अन्त में रगण हे। उसके शेष तीन चरणों में अन्त में भी रगण ही हे।

भगणाश्रित :-

किरीट :- किरीट के प्रत्येक चरण में 8 भगणों का का होना आवश्यक हे -

"बेठि रसालन के बन में अधिराती कहूँ रन सो ललकारति।
नाहक बेर परी बिरहीन के कूक वियोग के भूकन जारति।[2]

उपरोक्त उदाहरण के प्रथम चरण में तो भगण का उचित विधान है, परन्तु दसूरे चरण में 3 भगण। रगण। भगण। रगण 2 भगण का अतिक्रमित एवं संयोजन हे।

मत्तगयंद :- इसके प्रत्येक चरण में 7 भगण और अन्त में दो गुरू होते हैं।

"एक सुभान के आनन पे कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
केयो सतक्रत की पदवी, लुटियो तकि मुसकाहट ताको।[3]

प्रथम पंक्ति में मत्तगयंद का सदोष संयोजन हे। दूसरी पंक्ति में उसका निर्बाध अतिक्रमण किया जाता हे।

---

1. इ0 ना0, छं0 सं0 2/1
2. इ0 ना0, छं0 सं0 2/8
3. इ0 ना0, छं0 सं0 2/2

जगणाश्रित सुमुखी :-

इसके प्रत्येक चरण में 7 जगण तथा अन्त में लघु गुरू होते हैं -

"जब ते तजो बनिता पास तब ते चित्त विप्र उदास।
विधि पे चलत न कोई उपाव हे, जिहि हन्यो बिरहा घाव।।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में सुमुखी को पहचानना भी दुष्कर है।

संयुक्त :-

इसमें सगण, जगण, जगण ओर चरणांत में गुरू का होना आवश्यक हे -

"जब ते जन्म द्विज के गेह, रतिपति लयो शाप सनेह।
तब ते विप्रधर आनंद अतिहित करत गोबिंद चन्द।।[2]

इस उदहरण में संयुक्त का सर्वथा असंगत निर्वाह हुआ है।

मात्रिक छन्द :-

वार्णिक छन्दों की तरह ही बोधा ने मात्रिक छन्दों का भी प्रचुर प्रयोग किया हे। मात्रिक छन्दों में कुंडली गाथा, चोपाई, चोपेया, छप्पय, तोमर, झूलना, दोहा, पद्धरि, बखा, सोरठा आदि विशेष उल्लेखनीय है।

कुण्डली :-

यह छन्द दोहा ओर रोला के योग से बनता है। इसमें कुल 6 चरण होते हैं। प्रथम दो दोहे के ओर शेष चार रोला के। रोला के प्रथम पाद में चौथे पाद की आवृत्ति अनिवार्य है। प्रत्येक चरण में 24 मात्रायें होती हैं। इस प्रकार छह चरणों में कुल 144 मात्रायें रहती हैं।

---

1. मा0 का0 कं0 पृ0 - 26
2. मा0 का0 कं0, पृ0 - 19

विरही जन पीर को अब जग जाने कोन 13 + 11 = 24
अवधनाथ जात हित तिन सो साधो मोन 13 + 11 = 24
तिन सो साधो मौन, जि न्हे बिछुरी ती सीता। 11 + 13 = 24
अब कहिये कित जाय कठिन बिछुरतन को गीता 11+ 13 = 24
बहुत भूत किहि हेत सुनत निज दुःख नहिं थिरही 11 + 13 = 24
या कलि में करतार करे, कहू जिन बिरही।[1] 11 + 13 = 24

बोधा की संयोजन दृष्टि प्रस्तुत प्रयोग में विशेष सर्तक रही है। रीतिकाल में कुंडली का अधिकांश प्रयोग नीति निरूपण के लिए ही हुआ है। परन्तु बोधा ने इसके द्वारा प्रण जगत की विडंबनायें भी प्रतिपादित की हैं।

गाथा :–

इसके चारों चरणों में अक्षर संख्या न्यूनाधिक रहती है। इसे विषमाक्षर पाद छन्द भी कहते हैं: दो एक स्थानों पर बोधा ने इसका प्रयोग भी किया है।

हो कंदला परीवनं तुम वियोम मम दुख लीनं। 13 + 14
छिना छिना छिना दीनं, बुद्धि रटत माधवा योगी।[2] 12 + 15

प्रस्तुत छन्द के चारों चरणों में अक्षर संख्या न्यानाधिक है।

चोपाई :–

चोपाई के प्रत्येक चरण में 16–16 मात्रायें रहती हैं। चरणांत विषम के उपरान्त विषम का संयोजन आवश्यक है।

---

1. मा0 का0 कं0 पृ0 – 93
2. मा0 का0 कं0, पृ0 – 86

लोक हंसी परलोक नशाई, याते तुमको नैन निकाई। 16 + 16
तिन को लगी बात वह फीकी, जाने कौन पराये जी की।[1] 16+16

प्रस्तुत चोपाई में प्रत्येक चरण में 16–16 मात्रायें हैं। चरण के अन्त में जगण ओर तगण भी नहीं है, लेकिन समकल तथा विषमकल का नियोजन दोषपूर्ण है। बोधा की चोपाइयों में सर्वथा शुद्ध प्रयोग बहुत कम मिलते हैं।

छप्पय :–

छप्पय में छह चरण होते हैं, जिनमें प्रथम चार चरण रोला के रहते हैं। प्रत्येक चरण में 24 मात्रायें तथा 11–13 के बीच यति विधान रहता है। छप्पय के अन्तिम दो चरण उल्लाला के होते हैं। जिनम 28–26 मात्रायें होती हैं। यति विधान 15–13 या 13–13 के बीच होता है। उल्लाला के इन दो रूपों के कारण छप्पय भी दो प्रकार का होता है। बोधा द्वारा प्रणीत छप्पय का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

बनिता कोश कहा, पुरुष अपलोक लगावे। 11 + 13
सेवक को बश कहा, गुसा साहिब फुरमावे। 11 + 13
बालक को बश कहा, जननि को विष दै मारे 11 + 13
दये को दान न दे, भिखू को यतन विचारे। 11 + 13
प्जा निकारे राई तो, को सहाय ता की करे। 13 + 13
यह जान माधव धीर धरी, का चिंता करि मरे।[2] 15 + 13

चोपेया :–

चोपेया के प्रत्येक चरण में 30 मात्रायें होती हैं तथा चरण

---

1. मा0 का0 कं0, पृ0 – 95
2. मा0 का0 कं0, पृ0 – 44

के अन्त में गुरू भी रहता है 10–8, 12 मात्राओं पर क्रम से यति विधान होता है। चोपेया का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

वेदन बड़ मोही, बिधि बर द्रोही, दीन्हीं दया आ आनी 10+8+12=30
सुबरन तनवारी, नारिन वारी, बिछुरी प्रिया निमानी।।[1] 10+8+12=30

प्रस्तुत स्थल पर बोधा ने चोपेया का अत्यन्त सर्तकतापूर्वक पयोग किया है। अब एक चोपेया का अत्यन्त असंतुलित प्रयोग भी मिलता है ––

"बरही पक्ष सदा माथे पर ताको मुकुट बिराजे।
माथे पाग शिरपेंच हरित अतिमंद ललित मन राजे।[2]

झूलना :–

झूलना के प्रत्येक चरण में 26 मात्रायें रहती हैं तथा चरणांत में एक गुरू तथा एक लघु रहता है। चरण के आरम्भ में द्विकल का होना भी आवश्यक है। यति विधान 7,7,7,5 मात्राओं के बीच रहता है। झूलना का एक उदाहरण दृष्टव्य है ––

"लीख चोक द्वाद्वश, नग्र में दिशि, तीन उग्र बजार, 10+7+6+3=26
उततर आवास, नरेश के लखि, कनक कलश, हजार।[3] 8+8+6+4=26

दण्डक :–

32 मात्राओं से अधिक छन्दों की गणना मात्रा दण्डकों मे होती है। बोधा ने दण्डों का अत्यन्त अव्यवस्थित रूप मिलता है। एक ही छन्द में दण्डों के विविध चरणों की संयोजना की गई है। कहीं–कहीं

---

1. मा0 का0 कं0, पृ0 – 54
2. मा0 का0 कं0, पृ0 – 58
3. मा0 का0 कं0, पृ0 – 70

पर तो दण्ड चरण की मात्रायें 55 तक पहुँच गयी हैं। नीचे चंचरीक दण्ड का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

श्रुति को सुन्यो न गान, सुपात्र को दिया न दान शत्रु करी न हानि,
छल बल धारा के। 12+13+12+9 = 46
कियो न परायो काम, रसना भज्यों न राम, रस में गही न बाम
हिय लिपटाय के।[1] 12+12+11+9 = 44

दोहा :–

दोहा के प्रत्येक चरण में 24 मात्रायें तथा 13–11 के बीच यति रहती है। विषम चरणों में 13–11 मात्रायें तथा समचरणों में 11–11 मात्रायें होती हैं। विषम चरणों के आरंभ में जगण का निषेध है ––

जिन जाने तिन मानी है, माने नहीं अजान। 13+11 = 24
कसरत ताही के हिये, जा हिय बोधो बान।।[2] 13+11 = 24

तोमर :–

तोमर के प्रत्येक चरण में 12 मात्रायें तथा चरण के अन्त में क्रमशः एक–एक गुरू लघु का विधान होता है। बोधा का तोमर प्रयोग दृष्टव्य है –

द्विज पूछयों शुक काहि टिकिये कहां पर माहि।[1] 12,12

प्रस्तुत छन्द में चरण में 12–12 मात्रायें हैं तथा चरण के अन्त में क्रमशः एक एक गुरू लघु भी है। एक असंतुलित तोमर

---

1. इ0 ना0 छं0 सं0 1/1
2. मा0 का0 कं0 पू0 – 88

का प्रयोग भी दर्शनीय हे --

"सुनि माधव प्रति बेन, फिर कह्यो विक्रम सेन।[1] 11-12

यहाँ पथम चरण में 13 जो कि नियमानुकूल नही है।

पद्धरि :-

पद्धरि के प्रत्येक चरण में 16 मात्रायें तथा चरण के अन्त में जगण होता हे।

"पुहपावती नगरी विशाल गोविंद चंदनहि भूमिपाल। 15-16
बेठे सुपाट तब राज काल, तब लसहि मनहुं सुरपति समाज[2] 16-17

यहाँ भी प्रथम तथा चतुर्थ चरण में मात्रा भंग हुआ हे।

बरबे :-

बरबे के प्रत्येक चरण में 19 मात्रायें होती हे। विषम चरणों में 12-12 मात्रायें तथा समचरणों में 7-7 मात्रायें होती हें। चरण के अन्त में जगण तथा नगण रहता है। बोधा का एक सुन्दर बरवे प्रयोग दृष्टव्य हे -

"कूक न मारू कोइलिया, करि करि तेह। 13-7 (जगणांत)
लागि जात बिरहिन, दूबरी देह।[3] 10-7 (तगणांत)

सोरठा :-

सोरठा में दोहे का बिल्कुल उलटा विधान होता हे। इसके प्रत्येक चरण में 24 मात्राये रहती हें। चरणांत में जगण का निषेध होता हे।

1. मा0का0 कं0, पृ0 - 102
2. मा0का0 कं0 , पृ0 - 18
3. इ0 ना0 छं0 सं0 2/6

11 तथा 12 के बीच यति रहती है। विषम चरणों में 11–11 मात्रायें तथा समचरणों में 13–13 मात्रायें रहती हैं। सोरठा विषयक बोधा का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

बिछुरे दरद न होत, खर सूकर कूकरन को 11 + 13 = 24
हंस मयूर कपोत सुधर नरन बिछुरन कठिन 11 + 13 = 24

बोधा किसी एक छन्द के प्रति एकनिष्ठ नहीं हो सके बल्कि उन्होंने सभी का कुछ न कुछ स्पर्श किया है। स्वच्छन्द काव्यधारा के अन्तगर्त कवियों ने कवित्त सवैया का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है लेकिन बोधा ने कवित्त का तो बहुत ही कम प्रयोग किया है। हाँ सवैयों के प्रयोग में उनकी रुचि कहीं–कहीं जमी है लेकिन वे उसमें गहरे नहीं जा पाये हैं। प्रणय के दर्द के हाहाकार की तीव्र व्यञ्जना उनके सवैयों में ही मिलती है। घनानन्द तथा ठाकुर की अपेक्षा बोधा ने छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। बोधा ने अपने मुक्त रचना इश्कनामा में कुछ छह छन्दों का प्रयोग किया है। उसके लगभग 110 छन्दों में 85 के लगभग सवैये है। इन्हीं में उनका शिल्प कौशल दर्शनीय है। बोधा ने माधवानल कामकंदला में प्रसंग तथा विषयानुकूल छन्दों का प्रचुर प्रयोग तो किया है लेकिन वे उनका समुचित संयोजन नहीं कर पाए हैं। वास्तव में बोधा के जीवन की अतिरिक्त स्वच्छन्दता उनकी सदोष छन्द विधान के लिए उत्तरदायी है।

(ग) संगीतात्मकता

काव्य तथा संगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अभिव्यञ्जना शिल्प की आन्तरिक अन्विति और बाह्य संघटन में संगीत का विशेष योगदान रहता है। रीतिकाल को तो उत्तराधिकार के रूप में भक्तिकाल

की समृद्ध संगीत शैलियाँ मिलती हैं। वे अनेक हिन्दू एवं मुसलमान दरबारों में विकास की विविध दिशाओं में विस्तृत हो चुकी थी। इनमें दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों की सामासिक संगीतात्मकता का स्वरूप प्राप्त होता है। "उत्तर भारत के संगीत में मुसलमानी संगीत शैली का पर्याप्त संप्लवन"[1] मिलता है। बोधा का सम्बन्ध ऐसे ही राज दरबारों से था, जहाँ फारसी संगीत का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था।

बोधा ने अपनी रचना में संगीत को पर्याप्त प्रश्रय देकर अपने अभिव्यञ्जना शिल्प को जन–जन संवेद्य बनाया है। इनमें संगीत संयोजना के भिन्न रूप मिलते हैं –

1. कवित्त सवैयों में संगीत संयोजना
2. पदों में संगीत संयोजना

इनका अध्ययन अभिव्यञ्जना शिल्प के सन्दर्भ में किया गया है, जिनके लिए दो आधार चुने गये हैं ––

1. आन्तरिक संगीत विधान।
2. बाह्य संगीत विधान।

1. आन्तरिक संगीत विधान :–

इस पक्ष के अन्तर्गत संगीत के उन तत्वों को विवेचन का आधार बनाया गया है, जो अभिव्यञ्जना शिल्प के आन्तरिक संघटन में सहयोग प्रदान करते हैं। जिनमें संगीत, वर्ण, शब्द संगीत, लय तथा तुक आदि प्रमुख हैं। बोधा ने अपने अपने छन्दों में आन्तरिक संगीत

---

1. काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, डॉ0 उमा मिश्र, पृ0–56

का विशद विधान संयोजित किया है। उन्होंने उनकी प्रकृति को अपने प्रणय दर्शन के संस्कारों से परिवर्तित कर उन्हें सूक्ष्म अभिव्यञ्जना की गम्भीर तथा प्राणवान सामर्थ्य से समृद्ध किया है। नीचे एक उदाहरण दृष्टव्य है जिसमें लय तथा संगीत का सुन्दर संयोजन हुआ है ---

> "घाटन बाटन हाटन में मृगतृष्णा तरंगिनि लौं भरियै लै।
> पै वह चाऊ नहीं बिसरै भ्रम की भवंरी भरियै लै।
> बोधा कहे ढिग कौन के या दुख की गरूबी डलिया धरियै लै।
> जो न मिलो दिमाहिर एक अनेक मिलै तो कहा करियै लै।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा के कवित्तों तथा सवैयों की आन्तरिक संगीत योजना निम्नलिखित तत्वों पर आश्रित है -

1. वर्णाश्रित संगीत योजना
2. अनुप्रासाश्रित संगीत योजना
3. तुकाश्रित संगीत योजना
4. शब्दाश्रित संगीत योजना
5. ध्वन्याश्रित संगीत योजना

बोधा ने अपने कवित्तों तथा सवैयों के साथ किसी विशेष रागिनी तथा ताल का नाम नहीं दिया है, "परन्तु यदि कोई गायक चाहे, तो उन्हें स्वेच्छानुसार किसी भी राग में बाँधकर ताल स्वर के साथ गा सकता है।"[2] उनकी रूपरेखा तथा उनका शिल्प विधान चाहें पदों जैसा न हो, फिर भी गीति काव्य की प्रायः सभी विशेषताएं उनमें सम्पूर्ण रूप से व्याप्त हैं। न कवित्त सवैयों को शास्त्रीय संगीत के नियमानुसार

---

1 काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, डॉ0 उमा मिश्र, पृ0-138

2 काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध डॉ0 उमा मिश्र, पृ0 - 138

विभिन्न राग रागिनियों में गाया भी जा सकता है।[1] अभिव्यञ्जना शिल्प की दृष्टि से इस आन्तरिक विधान का बड़ा महत्व है। इसके द्वारा भाषा की "स्वर व्यञ्जना ध्वनि संगीत की आरोह–अवरोह मूलक ध्वनियों"[2] द्वारा एक कलात्मक परिपति को प्राप्त करती है वह समग्र शिल्प को एक अतिरिक्त सौष्ठव एवं कलात्मकता से युक्त बनाती है।

2. बाह्य संगीत विधान :–

बोधा संगीत में परम प्रवीण थे लेकिन उनके संगीत विधान में संगीत का कोई बाह्य विधान प्रायः नहीं मिलता है। हाँ बोधा ने दो चार स्थानों पर वाद्य यन्त्रों की शास्त्रीय संयोजना अवश्य की है। ऐसे संयोजन में उनके केवल दो चार उदाहरण ही मिलते हैं। लेकिन वहाँ सम्पूर्ण पद उससे आक्रान्त है। माधवानल कामकंदला की नायिका काम कंदला राजसभा में नर्तन करती है, उसके साथ ही वाद्य यन्त्र भी मुखरित हो उठते हैं –

"क्रगंग त्रगंद त्रगंद त्रगंद कुकथौ कुकथौ कुकथौ थृगदं।
घननं घननं घननं घननं। धिकतं धिकतं धिकतं तननं।।
ककतं क्रकंत क्रकतं क्रकतं। फृगद फृगदं फ्रगदं करतं।
गृगधं गृगधं गृगधं गृगध। ततथें ततथें ततथै थृगदं।[3]

एक अन्य स्थल पर भी इसी के समान संगीतमय छन्द का चित्रण हुआ है ––

धा धा धा धिक निक धुकार धिंधिं सुरमंडित।
त्रंत्रिंगिदं कं तं त्रिगिदं त्रगि त्रगि ख छंडित।
था था था थृगदिक थकंत थुंगी धुनि थुगिरट।

---

1. काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध डॉ० उमा मिश्र, पृ०–20.
2. साहित्य का मर्म, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० – 11
3. विरवारीश बोधा, पृ० – 106

फं फं फं फृगदिक कृकंत बोलत संगी नट।

इमि सज नेवर बीनाहि मिलि झिझिम झुम झुम सुर करत।

कं कृगद कृगदि ककतंतल लृगति लखित आनँद बढ़त।।"[1]

संगीत योजना के आन्तरिक तथा बाह्य संगीत विधान के उपर्युक्त विश्लेषण से यह पूर्णतयः स्पष्ट हो जाता है कि बोधा में स्वच्छन्द जीवन दर्शन विशेष रूप से कार्यान्वित रहा है साथ ही छन्द तथा संगीत की की शास्त्रीय सीमाओं में बँध कर भी पर्याप्त स्वतन्त्र आचरण किया है। कवित्तों एवं सवैयों में स्वतन्त्र लय एवं संगीत विधान यति गति में इच्छानुसार परिवर्तन इसी दृष्टि से हुए हैं। रीतिमुक्त परम्परा में भारतीय तथा मुस्लिम संगीत की उन्हीं रोलियों को प्रयुक्त किया गया है जो कि उनकी निर्बाध प्रकृति के सानुकूल थी। बोधा को तो संगीत की विभिन्न शैलियों का बंधन भी प्रिय नहीं था, वह केवल सवैयों में ही भ्रमण करते रहे।

प्रयोग की ऐसी स्वच्छन्द दृष्टि ने स्वच्छन्द काव्य धारा के अभिव्यञ्जना शिल्प को विशद अर्घता प्रदान की है। संगीत के आन्तरिक विधान से बोधा की भाषा में मार्दव, सौष्ठव तथा प्रसाद और माधुर्य गुण की अभिवृद्धि हुई है। शब्द, चरण एवं वर्ण के गठन में आया हुआ कसाव वीणा के तारों के कसाव के सदृश सिद्ध हुआ है, इन तारों को जितना अधिक कसेंगे, वे उतनी ही उत्तम झंकार को जन्म देंगे। इस प्रकार उसमें एक विशेष अर्थवत्ता का संचरण होता है। बोधा के काव्य में संगीत के योग से केवल छन्द योजना ही नहीं बल्कि समग्र अभिव्यञ्जना शिल्प अन्तस्पर्शी एवं सजीव हो उठा है।

*

***

*

---

1. विरहवारीश, बोधा, पृ0 – 105

उपसंहार

रीतिमुक्त कवियों की कविता भावना प्रधान है। उसमें उनकी आत्मा का योगदान और अनुभूति की प्राण–चेतना सर्वत्र विद्यमान है। इन कवियों का अभिव्यंजनात्मक काव्य–प्रक्रिया की योगात्मक सिद्धि है। काव्याभिव्यंजना के प्रत्येककांग में इनका एक निश्चित योग है।

वास्तव में काव्यभाषा स्वयं में एक नवीन अभिधा होने के कारण काव्य–भाषा के विवेचन क्रम से न जुड़कर काव्य के अभिवयंजना पक्ष से अधिक जुड़ी है। यह अपने आप में भाषा का एक विशिष्ट व्यापार है। संवेग तथा अन्य कलात्मक उपादानों से युक्त कवि का रचनात्मक साथ भाषा के चरमावयव में स्पंदित होता है। काव्य भाषा के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि समाज में काव्यभाषा जैसी किसी वस्तु की विद्यमानता नहीं है। अपने युग की ब्रजभाषा से ही कालांतर में शनैः साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होती है। यह बिम्बात्मक व सन्दर्भमूलक होने के साथ–साथ कलात्मक और सृजनात्मक भी होती है। इसमें लय, तुक, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि तत्वों के अन्तर्गुम्पन्न के कारण कविता का अनुवाद निःसन्देह असम्भव है। चूँकि कविता का क्षेत्र पूर्णरूपेण मानव जीवन और मानव मूल्य है, अतः काव्यभाषाओं में संदर्भमूलकता के साथ–साथ सांस्कृतिक संदर्भों, शब्दों और मूल्यों का प्राधान्य होता है। संवेदनात्मक, सम्प्रेषणीयता आदि काव्यभाषा के प्रमुख तत्व हैं। इसके अतिरिक्त बिम्ब, प्रतीक

एवं मिथक पाश्चात्य काव्य भाषा के प्रमुख घटक हैं। काव्यभाषा के भारतीय तत्वों में अलंकार, रस, ध्वनि, रीति वक्रोक्ति तथा गुण आदि मुख्य हैं।

किसी भी भाषा के साहित्य के निर्माण में उस युग की परिस्थितियों एवं वातावरण का विशेष योगदान रहता है। क्योंकि, परिस्थितियाँ या वातावरण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला आदि के मूल्यों द्वारा निर्मित होती है। हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल के संदर्भ में भी यही स्थिति महत्वपूर्ण है। रीतियुगीन काव्य के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिबद्ध कवियों का काव्यात्मक दृष्टिकोण परस्पर विरोधी बिन्दुओं को व परस्पर विरोधी तत्वों को स्पर्श करता है। जहाँ रीतिबद्ध कवियों ने शास्त्रीय परम्परा को आधार बनाकर काव्य सृजन एवं लक्षण–ग्रन्थों की रचना में अपनी प्रतिभा कुंठित किया, वहीं रीतिमुक्त कवियों ने परम्परागत मार्ग से अलग हटकर तथा अपने समय की प्रचलित साहित्यिक मान्यताओं को त्यागकर भावनाओं के क्षेत्र में उन्मुक्त विचरण किया है। इनकी प्रेपतियाँ ही उनकी प्रेरणा का केन्द्र रहीं हैं। घनआननंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि किसी न किसी रमणी के प्रेम जाल में आबद्ध थे इसलिए प्रेम–वर्णन ही इनका मुख्य प्रतिपाद्य था। इन कवियों की भाषा यद्यपि थी तो ब्रजभाषा ही लेकिन अन्य युगीन कवियों से सर्वथा भिन्न थी। इनकी ब्रजभाषा बोल–चाल की भाषा नहीं है अपितु वह परिष्कृत व्याकरण सम्मत तथा पूर्ण साहित्यिक है।

ब्रजभाषा हिन्दी भू–भाग की प्राचीन और मुख्य भाषा है। एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा होने के कारण साहित्य के माध्यम के रूप में इसे दूर–दूर तक सम्मान मिला। यह शौरसेनी प्राकृत का वंशज है। इसका क्षेत्र लगभग 38000 वर्ग मील के क्षेत्र में फैला हुआ है। ब्रजभाषा ने दूसरी भाषाओं के केवल उन्हीं शब्दों को अपनाया है जो बोल–चाल में अत्यन्त लोकप्रिय थे तथा ब्रजभाषा की लोच, लचक तथा माधुर्य आदि गुणों की रक्षा करने में पूर्णतः समर्थ दृष्टिगोचर होते थे। भक्तिकालीन कृष्ण भक्ति कवियों ने ब्रजभाषा की जो सगौरव अभिवृद्धि की थी, रीतियुगीन कवियों ने उसे और अधिक सक्षम, समर्थ तथा विशिष्ट बनाया। इस दृष्टि से रीतियुग की ब्रजभाषा भक्तिकालीन ब्रजभाषा का का समृद्धतम रूप है जो अत्यधिक प्राणवान उदात्त तथा गरिमामय है। रीति परम्परा में ब्रजभाषा का सम्यक विकास हुआ। उत्तर मध्यकाल के कृष्ण भक्त कवियों ने ब्रजभाषा के अत्यन्त सरल और अकृतिम रूप को अपनाया। इन्होंने संस्कृत के तत्सम, तद्भव एवं विदेशी शब्दों के प्रयोग से ब्रजभाषा को समृद्ध और विकसित करने का प्रयास किया। उधर रीतिमुक्त कवियों की काव्यभाषा में शिल्प की कसावट तथा गम्भीर अर्थवत्त की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। इनकी भाषा उनकी अभिव्यंजनात्मक सामर्थ्य को समृद्ध करने में सक्षम, अत्यन्त गम्भीर तथा उदात्त है। भक्तिकालीन कृष्ण कवियों ने जिस ब्रजभाषा को समृद्धशाली एवं गौरवपूर्ण बनाया था, उसी को इन कवियों ने और अधिक समर्थ तथा विशिष्ट बनाने का प्रयास किया। रीतिमुक्त कवियों का अधिकांश काव्य सरल, निरलंकृत एवं भावावेशपूर्ण शैली में लिखा गया है लेकिन इसके बावजूद ये कवि अपने को रीतिकाव्यों की अलंकृत भाषा से बचा नहीं पाये हैं। इनकी रचनाओं में यत्र–तत्र इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। धनआनंद, आलम, बोधा, तथा ठाकुर आदि कवि किसी न किसी दरबार से सम्बद्ध थे

इसीलिए इनकी रचनाओं में दरबारी संस्कृत का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। इतना ही दरबारी संस्कृति के प्रभाव के ही कारण इनका काव्य संगीतशास्त्र से भी प्रभावित हुआ है। इन कवियों ने अपनी निर्बाध प्रकृति के अनुकूल हीसंगीत की विविध शैलियों को अपनाया है। रीतिमुक्त काव्य क्षेत्रीय भाषाओं से भी काफी प्रभावित हुआ है। इसमें प्रयुक्त पंजाबी, राजस्थानी, खड़ीबोली, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि के शब्द इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा और फारसी का भी अद्भुत समिश्रण भी रीतिमुक्त काव्य की प्रमुख विशेषता है। इसीलिए भाषा अत्यन्त समृद्धशाली हो गयी है। जनसामान्य में प्रचलित होने के कारण फारसी भाषा के शब्द ब्रजभाषा के निकट जान पड़ते हैं तथा उनका फारसीपन समाप्त हो गया है।

बोधा की काव्यभाषा ब्रजभाषा–व्याकरण के अनुकूल है। इनके काव्य में प्रयुक्त संज्ञा के पदों में प्रायः तद्भव तथा तत्सम या अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग है। ब्रजभाषा में प्रचलित लगभग सभी सर्वनामों का सफल प्रयोग इन कवियों ने किया है। इनकी रचनाओं में विशेषण के मुख्यतः तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं–प्रथम यह कि मूल रूप तथा विकृत रूप लिंग प्रभाव से परिवर्तित होता रहता है। दूसरा यह कि मूल रूप एक वचन में उकारान्त तथा बहुवचन में अकारान्त हो जाता है। तथा तीसरा यह कि कभी–कभी प्रथम रूप की भाँति अकारान्त रूप भी परिवर्तित हो जाता है। इनके विशेषणों में बली रूप मुख्यतः तद्भव और बलहीन रूप प्रायः तत्सम और अर्द्धतत्सम हैं। ब्रजभाषा की सहायक क्रियाओं के अनेक रूप भेदों को भी इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। इनके क्रियापद प्रायः ब्रजभाषा व्याकरण के अनुकूल ही हैं। इसके अतिरिक्त अव्यय के चारों भेदों–

क्रियाविशेषण, सम्बन्ध सूचक, समुच्चयबोधक तथा विस्मयादिबोधक का सफल प्रयोग इन कवियों ने किया है।

बोधा ने काव्य–भाषा के शास्त्रीय विश्लेषण में भी स्वच्छन्दता का ही परिचय दिया हैइन कवियों ने गुणों की जैसी औचित्यपूर्ण अनायास योजना की है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी रचनाओं में माधुर्य एवं प्रसाद की अविरल धारा प्रवाहित हुई है। इनकी रीतियोजना उनके स्वभाव एवं विभन्न मनः स्थितियों की सापेक्षिक उपज है। अभिव्यंजना शिल्प, औपकरणिक संगठन तथा काव्य रूपों के निर्माण में रीतियोजना अधिक सहायक सिद्ध हुई है। इनका शब्द–शक्ति प्रयोग भी सहज एवं सुखात्मक है। यह शास्त्रीय आग्रहों से सर्वथा मुक्त है। शब्द शक्तियों के संयोजन में भी उनकी स्वच्छन्द दृष्टि का विस्तार दृष्टिगोचर होता है जो उनकी व्यक्तिगत सापेक्षताओं के अनुकूल शब्द की विभिन्न शक्तियों को उद्घाटित करती है। रीतिमुक्त कवियों की अलंकार अप्रस्तुत योजना भी अनूठी एवं बेजोड़ है। विरोधाभासके निर्दशन, रूपकों के सौन्दर्य तथा अन्यान्य अलंकारों द्वारा भाव–भगिमाओं को सम्प्रेषण बना देना इन कवियों के काव्यशिल्प की प्रमुख विशेषता है। इन कवियों ने अलंकारों व अप्रस्तुतों का विनियोग प्रदर्शनार्थ नहीं अपितु भावोत्कर्ष एवं रस–सृष्टि के निमित्त ही किया है। इनकी बिम्ब व प्रतीक योजना भी उत्कृष्ट एवं बेजोड़ है। यह अतिशय समृद्ध होने के साथ–साथ बहुविध भी है।

चूँकि स्वच्छन्द एवं उन्मुक्ताचरण बोधा का जीवन–दर्शन था इसलिए उनके छन्द विधान में भी वैसी स्वच्छन्दता एवं उनमुक्तता दृष्टिगोचर होती है। छन्द शारुत्रीय नियमों का पूर्ण परिपालन करने में ये कवि सफल नहीं हो पाए हैं। इनकी छन्द योजना उदात्त एवं विशुद्ध होते हुए भी पूर्ण कलात्मकता से रहित है। रीतियुगीन अन्य कवियों की तुलना में इनकी

छन्द–योजना में अभिव्यंजनात्मक सामर्थ्य अधिक है लेकिन शिल्पगत वैशिष्ट्य के आधार पर यह उतना उत्कृष्ट एवं बेजोड़ नहीं है। इनकी लय–योजना प्रतिपाद्य एवं भावानुकुल है। स्वच्छन्द व उन्मुक्त जीवन के प्रभाव के कारण ही इनके कवित्त व संवेगों में स्वतन्त्र लय परिलक्षित होती है। यही स्वच्छन्दता एवं उन्मुक्तता इनकी संगीत योजना में भी दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए कवित्त, सवैयों के शास्त्रीय विधान में भी इन कवियों ने पर्याप्त आन्तरिक छूट ली है। वर्ग–योजना में भी रीतिमुक्म कवि सिद्धहस्त हैं। इनकी वर्ण–योजना का मुख्योद्देश्य भाव–व्यंजना के लिए उपयुक्त भाषा निर्माण था। श्रुतिपेशलता, प्रतिपायानुकूलता तथा प्रसाद युग की रक्षा इनके वर्ण–योजना की विशेषता है।

विभिन्न भाषाओं के शब्द समूह आ जाने के बाद भी रीतिमुक्त कवियों की काव्यभाषा दोष मुक्त है। इन्होंने भाषा की बारीकियों को समझकर ही उसका प्रयोग किया है। उनकी भाषा में प्रयुक्त शब्द उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के अनुसार ही हैं। वे भाषा नाड़ी के विशेषक थे। सहजता, उन्मुक्तता तथा प्रवाहमयता उनकी भाषा की प्रमुख विशेषता है। उनका लोकोक्ति एवं मुहावरा–प्रयोग भी अन्तःस्फूर्त, अनुभूति स्पंदित एवं शिल्प संगठित है। लोकोक्तियों एवं मुहावरों का जैसा प्रयोग इन कवियों ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए प्रभावान्विति, तीव्र रसानुभूति, भाव–प्रवणता तथा भावावेग आदि इनके काव्य की प्रमुख विशेषता बन गया है। लोकचेतना एवं सामान्य भाषा के अत्यधिक निकट होने के कारण इनका काव्य सरल एवं प्रभावोत्पादक हो गया है।

* * * * * * *

* * * * *

* * *

परिशिष्ट

हिन्दी ग्रन्थ :

क्रम सं0	ग्रन्थ का नाम	लेखक
1.	रीतिकाव्य की भूमिका	डॉ0 नगेन्द्र
2.	आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
3.	हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड)	डॉ0 बनारसी प्रसाद
4.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी
5.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ0 वार्ष्णेय
6.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ0 सावित्री सिन्हा
7.	रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	डॉ0 भगवती प्रसाद सिंह
8.	कवित्त रत्नाकर	सेनापति
9.	बिहारी सतसई	बिहारी
10.	देव और बिहारी	पं0 कृष्ण बिहारी मिश्र
11.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
12.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ0 रसाल
13.	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	डॉ0 भगीरथ मिश्र
14.	शृंगारकाल	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
15.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	श्लेमल
16.	रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका	डॉ0 देवराज उपाध्याय
17.	श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य	डॉ0 रामचन्द्र
18.	घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा	डॉ0 मनोहर लाल गौड़
19.	हिन्दी साहित्य का अतीत	आचार्य विश्वनाथ मिश्र

क्रम सं0	ग्रन्थ का नाम	लेखक
20.	रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास
21.	रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यञ्जना	डॉ0 बच्चन सिंह
22.	ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रन्थ नामक लेख से	श्री अगरचन्द नाहटा
23.	यौन मनोविज्ञान	हेवलाक एलिस
24.	कामसूत्र	वात्स्यायन
25.	हफीजउल्ला खाँ का हजारा	रूप नारायण पाण्डेय
26.	प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद	डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी
26.	रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य	डॉ0 सत्यदेव चौधरी
28.	जायसी ग्रन्थावली	सं0 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
29.	साहित्य दर्पण	टी0 शालग्राम
30.	कविप्रिया	केशवदास
31.	पल्लव भूमिका	पं0 सुमित्रानन्दन पन्त
32.	दोहावली	तुलसीदास
33.	ग्रामर आफ द ब्रजभाषा	जियाउद्दीन
34.	राजस्थान का पिंगल साहित्य	मोतीलाल मेनारिया
35.	ब्रजभाषा रीतिशास्त्र कोश	सं0 पं0 जवाहरलाल चतुर्वेदी
36.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर
37.	वृत्त रत्नाकर	केदार भट्ट
38.	काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	डॉ0 उमा मिश्र
39.	साहित्य का मर्म	डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी
40.	हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण	खण्ड–2, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
41.	रस रहस्य	कुलपति मिश्र

प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थ

क्रम सं0	ग्रन्थ का नाम	लेखक
1.	आमरूशतक	अमरू (टी0 ऋषीश्वरनाथ भट्ट)
2.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
3.	कुमार सम्भव	कालिदास
4.	दशरूपक	धनंजय (टी0 भोलाशंकर शास्त्री)
5.	नाट्य शास्त्रम्	भरत मुनि
6.	प्राकृत व्याकरणम्	हेमचन्द्राचार्य
7.	अलंकार शेखर	केशव मिश्र
8.	भामिनी विलास	पंडितराज जगन्नाथ (टी0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
9.	शृंगार तिलक	कालिदास
10.	शृंगार तिलक	रूद्र भट्ट